※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

वेदान्तदर्शनम्

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनकृतं श्रीमद्भागवतभाष्योपेतम्

तत्र



श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन

न्याय-वैशेषिकशास्त्रि, न्यायाचार्य, काव्य, व्याकरण, सांख्य, मीमांसा

वेदान्त, तर्क,तर्क,तर्क,वैष्णवदर्शनतीर्थ, विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन

श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितम् ।



सद्ग्रन्थ प्रकाशक :—

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस

श्रीहरिदास निवास,

कालीदह वृन्दावन ।



सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

Digitization, PDF Creation, Bookmarking and Uploading by: Hari Pārṣada Dāsa (HPD) on 04-December-2016

सपरिकर श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव ।



श्रील गदाधर पण्डित गोस्वामी प्रभुके मुखसे श्रीभागवत श्रवण ।

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

——:**:——

विज्ञप्ति:

परम करुण श्रीगौरसुन्दर की अनुकम्पा से तदीय अनुमत श्रीमत् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास प्रणीत भागवत भाष्य युक्त ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शनम् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह सूत्र ब्रह्म मीमांसा नाम से प्रसिद्ध है, इस में ५५८, मतान्तर में ५५५, सूत्र, ४ अध्याय, १६ पाद हैं। सूत्रकर्त्ता श्रीवेदव्यास जीने सूत्रार्थं को सरल रूप से हृदङ्गम कराने के लिए उक्त क्रमबद्ध सूत्र निकर के अनुसार अर्थ ग्रन्थ श्रीमद् भागवत नामक महापुराण की रचना की एवं उसका विवरण गरुड़ पुराण में स्वयं ही लिखाहै, " अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थं विनिर्णयः गायत्री भाष्य रूपोऽसौ वेदार्थं परिवृंहितः ॥ "

यह भागवत् ब्रह्म सूत्रों की अर्थ प्रकाशक गायत्रीका भाष्यरूप है, एवं इस से वेदार्थ वर्धित रूप से अभिहित हुआ है। श्रीधरस्वामिपादने भागवत ग्रन्थ की व्याख्या के प्रारम्भ में लिखा है।

"ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्
सर्व वेदान्त सारं हि श्रीमद् भागवतमिष्यते
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित् ॥"

श्रीमद् भागवत नामक ग्रन्थ,—अष्टादश सहस्र संख्यक श्लोकपूर्ण हैं, यावतीय वेदेतिहासों के सारांश इस में सन्निविष्ट है, निखिल वेदों के सार सिद्धान्त ही भागवत नाम से अभिहित है, भागवतरसामृत से परितृप्त व्यक्ति की कदाच अन्य पुस्तकों में तृप्ति नहीं होगी।

भारतीय विभिन्न सम्प्रदायोंके मनीषिवृन्द स्व स्वमत स्थापन के लिए निज कल्पित, ब्रह्म सूत्र भाष्य प्रणयन करना अत्यावश्यक समझते थे उस समय श्रुति प्रस्थान, स्मृति प्रस्थान, न्याय प्रस्थान के द्वारा निज मत प्रतिपादन करना धर्मीय व्यवस्थाके लिए अनिवार्य था। इस पाण्डित्य कल्लोल कोलाहलको शान्त कराने के लिए श्रीगौराङ्ग देव का आविर्भाव हुआ, आपने अवद्य रूढ़ि वाद को समाप्त कर दिया, पुरातन नूतन में, एक और अनेक में अनूकूल और प्रतिकूल में अचिन्त्य सामञ्जस्य को स्थापन कर निखिल

कोलाहल को शान्तकर दिया। स्वयं भगवान् महावतारी श्रीगौराङ्ग देव, स्वसम्प्रदायसहस्राधिदेव होकर भी स्वयं वेदान्तभाष्य प्रणयन नहीं किये। कार्य एवं प्रयोजन दोनोंही आप पर आरूढ़ नहीं हुये, कारण, केवल आपके ही मत में श्रीमद् भागवत ब्रह्म सूत्र का अकृत्रिम भाष्य है, एतदर्थं श्रीजीव-गोस्वामीजी ने तत्त्व सन्दर्भ में लिखा है,—कि, ब्रह्म सूत्राणामर्थः, तेषामकृत्रिम भाष्यभूत इत्यर्थः। तस्मात् तद्भाष्यभूते स्वतः सिद्धे तस्मिन् सत्यर्वाचीन मन्यदन्येषां स्व स्व कपोल कल्पितं तदनुगतमेवादरणीयमिति गम्यते ॥"

अर्थात् श्रीभागवत ही ब्रह्म सूत्र का अकृत्रिम भाष्य है, सुतरां स्वतःसिद्ध भाष्यभूत श्रीमद् भागवत के समक्ष में अन्यान्य अर्वाचीन भाष्य स्व कपोल कल्पित मात्र हैं, किन्तु श्रीभागवत सिद्धान्तानुगत भाष्य मात्र ही आदरणीय हैं। इसलिए ही श्रीगौराङ्ग देव के अनुयायिगण वेदान्त सूत्र के भाष्य प्रणयन में प्रयासी नहीं हुए। किन्तु स्वयं श्रीमन् महाप्रभु तात् कालीन प्रधानतम वेदान्तिगण के समक्ष में अचिन्त्य भेदाभेद वाद का ही प्रचार किए थे, काशी में पण्डित वरेण्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती, नवद्वीप के अद्वितीय नैयायिक श्रीवासुदेव सार्वभौम के निकट आपने वेदान्त सूत्र की भागवतानुसारिणी व्याख्या सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे, उस से आप सव मन्त्रमुग्धवत् होकर श्री-गौराङ्ग देव के चरणों में आत्मसमर्पण किए थे। इन सव सिद्धान्तों को श्रीसनातन गोस्वामी प्रभृतियों ने निज निज ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया है, एवं श्रीपाद श्रीजीव गोस्वामी जीने क्रम सन्दर्भ षट्सन्दर्भ सर्वं सम्बादिनी में विशेष रूप से उस को लिपिबद्ध किया है। "अपरेतु तर्काप्रतिष्ठानात् ब्रह्मसूत्र (।२।१।११) भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्मर्याद दोषसन्ततिदर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेद मपि साधयन्तोऽचिन्त्यभेदाभेदवादं स्वीकुर्वन्ति। (सर्वसम्बादिनी) अर्थात् एक सम्प्रदायी वेदान्तिगण कहते हैं—तर्क की अप्रतिष्ठा हेतु भेद एवं अभेद स्थापन में निखिल दोष उपस्थित होनेके कारण ब्रह्म से शक्ति को भिन्न रूप से मानना असम्भव है, इस हेतु भेद साधन भी दुस्कर होता है, वैसा अभेद साधन करना भी दुष्कर है, इस प्रकार भेदाभेद साधन में चिन्ता की सामर्थ्य हीनता के कारण, हम अचिन्त्यभेदाभेदवाद को ही स्वीकार करते हैं।

कालान्तर में साम्प्रदायिक प्रयोजन से प्रेरित होकर श्रीबलदेव विद्या-भूषण जीने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्दभाष्य प्रणयन किया, श्रीगोविन्द भाष्य में ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल, कर्म यह पञ्चतत्त्व का निरूपण है, श्रीकृष्ण ही परम वस्तु हैं ॥

हेतुत्वाद् विभुचैतन्यानन्दत्वादि गुणाश्रयात्।
नित्य लक्ष्म्यादिमत्त्वाच्च, कृष्णः परतमो मतः ॥

(१) श्रीकृष्ण, निखिल वेद वेद्य हैं, (२) विश्व सत्य है, (३) ब्रह्म एवं विश्व में भेद सत्य हैं, (४) जीव अणुचैतन्य, नित्य, एवं श्रीकृष्णदास है, (५) जीव में साधन गत भेद हैं। (६) श्रीकृष्ण चरण प्राप्ति ही मोक्ष है, (७) पराभक्ति ही साधन है, (८) प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द, यह तीन ही प्रमाण हैं। श्रीकृष्ण निखिल वेद वेद्य हैं। (९) मध्व मत के साथ इस में एकता सुस्पष्ट है, ब्र० सू० भाष्य १।१।३ में आपने लिखाहै, अथ जगज्जन्मादि हेतुः पुरुषोत्तमोऽविचिन्त्यत्वाद् वेदान्तेनैव वोध्यो, नतु तर्कैः, इस सन्दर्भ में गोविन्द भाष्य ३-२-३१ एवं तत्रत्य टीका आलोच्य हैं, १।१।१६, १७,.२१, १।३।५, प्रभृति सूत्र में भेदवाद का विचार होने पर भी गौड़ीय वैष्णव गण द्वैतवादी नहीं है, इस सिद्धान्तका सारमर्म्म श्रीचैतन्य चरितामृत प्रथमखण्डके सप्तम, मध्यके षष्ठ विंश अध्याय में विशेष रूप से वर्णित हैं। शास्त्र श्रद्धालु व्यक्ति ही वेदान्त श्रवण का अधिकारी हैं, श्रीकृष्ण ही वेदान्त का उद्देश्य हैं, भक्ति ही श्रीकृष्ण प्राप्ति का साधन है, एवं प्रेम ही प्रयोजन तत्त्व है, सर्ववेदान्त सार श्रीमद् भागवत भक्ति वाचक ग्रन्थ हैं ।।

भारतीय शास्त्र में सृष्टि तत्त्वके सन्दर्भ में साधारणतः तीन प्रकार मत हैं, आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद,। न्याय वैशेषिक आरम्भवादी हैं, इस मत में पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय चतुर्विध परमाणु द्वयणुकादि क्रम से ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत्का आरम्भ करतेहैं, उत्पत्ति के पहले कार्य असत् है, कारण व्यापार द्वारा वह उद्भूत होता है, असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, जिस प्रकार सूत्र से वस्त्र की उत्पत्ति होती है, अवयव एवं अवयवी भिन्न वस्तु है„ इसमत में अभाव से भावोत्पत्ति स्वीकृत है ।

द्वितीय परिणाम वाद में—इस मतावलम्बिगण दो प्रकार होते हैं, प्रथमतः, सांख्य, पातञ्जल, पाशुपतादि इसमत में सत्त्व तमोरजात्मक प्रधान ‘प्रकृति ही महत् अहंकार इत्यादि क्रम पूर्वक जगदाकार में परिणत हुए हैं, उत्पत्ति के पूर्व कार्य कारण में सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है, इस मत में अभाव से भावोत्पत्ति सिद्धान्त स्वीकृत नहीं है, प्रागभाव एवं ध्वंसाभाव भी स्वीकृत नहीं है आविर्भाव एवं तिरोभाव को मानतेहैं। वेदान्त दर्शन के प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान, तदनुकूल तत्त्व एवं सृष्टितत्त्व हैं, ब्रह्म सूत्र में तत्त्वज्ञान की आलोचना समधिक रूपसे होने पर भी सृष्टि तत्त्व एवं कर्म तत्त्व गौणभाव से आलोचित हुए हैं।

श्रीगौराङ्ग देव तथा उनके अनुयायिवृन्द श्रीमध्वाचार्य का द्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, भास्कर, निम्बार्कका भेदाभेद वाद एवं वल्लभ कृत शुद्धाद्वैत वाद का भी समर्थन न कर शक्ति शक्तिमत्तत्त्व प्रतिपादन सन्दर्भ में अचिन्त्य भेदाभेद वाद रूप निज सिद्धान्त को दृढ़तर भित्ति में संस्थापित

किए हैं, एवं रसो वै स: आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्, मधुब्रह्म, भूमाब्रह्म; प्रभृति श्रुतिप्रतिपाद्य पदार्थ ही परमतत्त्व रूप से स्वीकृत होने के कारण ज्ञान साधन की पराकाष्ठा रूप भागवती प्रेमभक्ति को संस्थापन कर दर्शन जगत् को सरस मसृण जीवन प्रदान किए हैं, श्रीमद् भागवत मत में व्रज रस की उपासना है, इस में अनुपम त्याग, तन्मयता, ममता, सेवा प्रभृति का अपूर्व समावेश है, सुशृङ्खल धारणा के लिए श्रीभागवत रस का परिवेषण भक्ति रसामृतसिन्धु एवं उज्जल नीलमणि ग्रन्थ के द्वारा ही हुआ है, ।

श्रीमद् भागवत के स्वरूप परिचय सन्दर्भ में श्रीवेदव्यास जीने स्वयं ही कहा है,—

राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतांगणे ।
यावद् भागवतं नैव श्रूयतेऽमृतसागरम् ॥

निगम कल्पतरोर्गलितं फलं " रूप से शास्त्र प्रारम्भमें भा० १२-१३-१४ १।१।३। स्वरूप परिचय घोषित हुआ है, सकल शाश्वत सत्य एवं चरम तत्त्व का प्रकटन जिस से हुआ है, वह ही वेद है, और वेद रूपी रसाल वृक्ष का ही रसमय गलित फल है श्रीभागवत, वृक्ष की परिणति में ही फलोत्पत्ति होती हैं, फल दान से ही वृक्ष वीज की सार्थकता भी होती है ।

वृक्ष फल दृष्टान्त से एक सुगभीर सत्य प्रकाशित हुआ है, निखिल वेद सार हैं प्रणव, प्रणव की मूर्त्ति ब्रह्म गायत्री है, यह ब्रह्म गायत्री ही प्राणयुक्त फलता प्राप्त हुई है,-श्रीमद् भागवत के प्रति अक्षरों में । चैतन्य चरितामृत ग्रन्थ के आदि ७।१२८ में श्रीगौराङ्ग देवने प्रणवको वेद का महावाक्य कहाहै, श्रीजीव गोस्वामी ने भा० १०।८७।२ श्लोक की टीका में कहा है,—सर्ववेदार्थ समन्वित होने के कारण इस का महत्व, अ, उ, म, अकारादि अक्षर त्रय परस्पर सम्बन्ध विशिष्ट है, अत: वाक्यत्व है, महत्व तथा वाक्यत्व रहने के कारण इस का महावाक्यत्व सिद्ध हुआ है । इस प्रणवका विश्लेषण स्वरूप ब्रह्म गायत्री है, ऋषियों की उक्ति में इस से गभीर तात्पर्य प्रकाशित हुआ है, गायत्री की संक्षेप व्याख्या इस प्रकार है,—हम सब सूर्य मण्डलवर्त्ती विश्व प्रसविता वरेण्य, भर्गाख्य ज्योति का ध्यान करते हैं, आप हमारी बुद्धि वृत्ति को प्रकृष्ट रूप से सञ्चालित करें। गायत्री का यह अर्थ श्रीभागवत में विद्यमान है, उस का समन्वय इस प्रकार है—

जन्माद्यस्य यत: " यह अंश सम्पूर्ण ग्रन्थ का वीज स्वरूप हैं । गायत्री के साथ इस की एक वाक्यता है, गायत्रीस्थ धीमहि एवं भागवतीय प्रथम श्लोकस्थ धीमहि भी एकार्थ वाचक हैं, गायत्रीस्थ प्रचोदयात् एवं भागवतीय ' तेने ' शब्दद्वय एकार्थ वाचकहै, गायत्रीस्थ ' वरेण्यं' भर्ग:, ' भागवत पद्यस्थ

सत्यं, परं, एकार्थं प्रकाशक हैं। गायत्रीस्थ 'सवितु र्देवस्य' पदका तात्पर्य भा० ।१।१।१ ' जन्माद्यस्य यत: पद में कथित हैं, श्रीभागवत के वीज स्वरूप प्रथम श्लोक के साथ गायत्री मन्त्रकी सर्वथा सादृश्य विद्यमान होने के कारण श्रीभागवत ही गायत्री भाष्य हैं,-यह प्रमाणित होता है, मत्स्यादि पुराणों में स्पष्टत: ही उल्लेखहै,—' यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तर: ' गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदु: ।

श्रीभागवत के २।९।३०-३६, श्लोक में ज्ञान विज्ञान, प्रेम भक्ति को रहस्य, एवं तदङ्ग शब्द से साधनभक्ति को कहा गया है, उक्त चार विषयों को दर्शनों में अनुवन्ध चतुष्टय कहते हैं, यह ही समस्त शास्त्र का वर्णनीय विषय है, इस चतु:श्लोकी का उपदेश भगवान् ने ब्रह्माजी को किया था, प्रणवका अर्थ गायत्री में और उसकी अभिव्यक्ति चतु:श्लोकी में हैं। ब्रह्मा जीने श्रीभग-वान्से चतु:श्लोकी को प्राप्तकर नारद जी को प्रदान किया, नारद जीने व्यास जी को दिया, व्यास जीके द्वारा ही भागवत की भित्ति भूमिकी रचना हुई। अत: गायत्री एवं चतु:श्लोकी का प्रतिपाद्य पदार्थ एक है,भागवत की परिणति चतु:श्लोकी में होने के कारण भागवत वेद का सुपक्व फल है,—यह कथन सार्थक हुआ।

सत्य द्विविध, मूर्त्त, एवं अमूर्त्त, दो संख्या के साथ दो संख्या के मिलन से उत्पन्न चार होता है, यह है अमूर्त्त सत्य का उदाहृण, दो घट, और दो घट के एकत्र संस्थापन से जो चार घट की उत्पत्ति होतीहै, यह ही मूर्त्त सत्य का उदाहरण है। गायत्री मन्त्र प्रतिपादित वस्तु भी अमूर्त्त है, किन्तु उसका पूर्णाङ्ग मूर्त्तिमत् दृश्य स्वरूप प्रतिपादित हुआ है,—श्रीभागवत में। गायत्री मन्त्र में वुद्धि वृत्ति प्रेरण करने की प्रार्थना है, किन्तु प्रेरण का प्रकार का उल्लेख गायत्री में नहीं है, सम्प्रति विचार्य है, कि—वुद्धि वृत्ति का प्रेरण कैसे और किस और सम्भव है ?

गीता में उक्त है,—' बलादिव नियोजित: ' हृषीकेश बलपूर्वक नियोग करते हैं, ' तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ' यहाँपर शास्त्रीय विधि निषेध द्वारा सम्य व्यक्ति को कर्त्तव्य कर्म में प्रेरण करते हैं। धर्मयुक्त प्रीति के द्वारा रुक्मिणी आदि को आकर्षण करतेहैं, एवं व्रज बधूगण को धर्म निरपेक्ष शुद्ध प्रीति द्वारा वुद्धि प्रेरण कर आकर्षण करते हैं। यह अन्तिम प्रचोदना ही असमोर्द्ध सर्वातिशायी है।

निर्मल प्रीति ही आत्मधर्म होने के कारण इस से ही आत्मा का सर्व श्रेष्ठ आकर्षण होता है, स्वर्गादि भोग के प्रति, कर्त्तव्य कर्म के प्रति, स्वधर्म में मुक्ति एवं भक्ति में वुद्धि प्रेरित होती है, इस में सर्वश्रेष्ठ दिक् वह है, जिस दिक् में प्रिय, अप्राकृत रस माधुर्य्य में विराजमान हैं।

जिस समय लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, मनोनयन रसायन स्वीय भर्गो ज्योतिः को प्रचार कर वंशीछिद्र रूप आकाश में प्रीतिमधु को डाल कर व्रज वालाओं के जीवन यौवन सर्वस्व का आकर्षण अपनी ओर किए थे, 'स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डला: (भा० १०।२६।४) वहाँपर ही गायत्री मन्त्र मूर्त्तिमान् एवं प्राणवान् होकर परिपूर्ण हुआहै, अमूर्त्त गायत्री ब्रह्मकी, भागवतस्थ रास रजनी में पूर्णाङ्ग मूर्त्ति में परिणत होगई ।।

श्रीभागवत ब्रह्म सूत्रका अकृत्रिम भाष्यहै, ज्ञान काण्डात्मक उपनिषद् में प्रधान रूप से ब्रह्म तत्त्व प्रतिपादित हुआ है, उपनिषदस्थ सिद्धान्त समूह ब्रह्म सूत्र में संक्षेप से समुद्दिष्ट है, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विशुद्धाद्वैत भेदाभेदादि वाद की व्याख्या के द्वारा ब्रह्म सूत्र की अतिशय कदर्थना होगी यह जानकर सूत्रकार व्यासदेवने स्वयं ही उस का भाष्य रचना की है, जो श्रीभागवत नाम से प्रसिद्ध है। इस में प्रधानत: तीन विषय सन्निविष्ट है, सम्बन्ध अभिधेय, प्रयोजन, ब्रह्मसूत्र का भी प्रतिपाद्य विषय, सम्बन्धाभिधेय, प्रयोजनहै, वाच्य तत्त्व, सम्बन्ध है, प्राप्य तत्त्व प्रयोजन, साधन तत्त्व को अभिधेय कहा जाता है। अथातो ब्रह्म जिज्ञासा सूत्र की भूमिका में बलदेव विद्या भूषण ने कहा हैं,—सर्वदोषवर्जित, प्राकृतादि स्पर्श शून्य अनन्त गुणगणालङ्कृत सच्चिदानन्दविग्रह श्री कृष्ण ही ब्रह्मसूत्र का प्रतिपाद्य पदार्थ है। "वेद्यं वास्तवमत्र" पारमार्थिक वस्तु ही प्रतिपाद्य है, इससे अद्वय अखण्ड ज्ञान, एवं ब्रह्म परमात्मा भगवान् रूप में त्रिविध प्रकाश है, वह स्वयं ही भगवान् श्रीकृष्ण, भागवत के मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु हैं।

'साम्पराये' ब्रह्मसूत्र ३।३।२८ की व्याख्या में बलदेव का कथन है—साम्पराय; प्रेम ही प्रयोजन तत्त्व है, श्रीमद् भागवत में भी ६।४।६६ में 'मयि निर्बद्धहृदया:" श्लोक में प्रीति भक्ति ही भगवद् वशीकरणोपाय रूप में निर्दिष्ट हुई है।

ब्रह्म सूत्रस्थ ३।२में अभिधेय वस्तुकी आलोचना देखी जाती है, इसके उपक्रम में बलदेव कहते हैं,—श्रीकृष्ण विषयक अनुराग के हेतुरूप भक्ति को साधन भक्ति कहीगई है, भा० ११।३।३२ में स्मरन्त: स्मारयन्तश्च श्लोक में साधन भक्ति की गाढ़ता में प्रेम भक्ति का उदय होता है।

श्रीमद् भगवद् गीताका चरम सत्य आदर्शकी जीवन्तमूर्त्ति भी श्रीमद् भागवत में ही प्रकटित हुई है, गीता में 'इति ते सर्वमाख्यातम्' कहकर भगवान् व्याख्यान को इति करनेके पश्चात् भी 'सर्व गुह्यतमं भूय:' मन्मनाभव यह दो श्लोक को कहाहै। गीताके चरम श्लोक युगल में अन्तर्निहित सत्य भी रूपायित हो उठा है, श्रीमद् भागवत के शरद् रास रजनी में श्रीकृष्णान्तर्धान के पश्चात् गोपीगणकी अवस्था सूचक १०।३०।४४ तन्मनस्का स्तदालापास्तद्

विचेष्टास्तदात्मिकाः तद् गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः " श्लोक में सर्वधर्म वर्जन पूर्वक श्रीकृष्ण चरणों में आत्माहुति प्रदान का दृष्टान्त भी रास रजनी में धावमाना गोपाङ्गनागण ही है,(भा० १०।३२।२२ १०।४७।६१) अतएव कहना होगा कि उपनिषद् गौका दुग्ध गीता है, एवं दुग्ध नवनीत श्री भागवत है, सुतरां प्रतिपादित हुआ है कि वेदार्थ, ब्रह्म सूत्रार्थ, गीतार्थ, सब की सर्वथा परिपूर्त्ति श्रीमद् भागवत में ही हुई है।

श्रीमद् भागवत वेदवत् अपौरुषेय है, अर्थात् वेदव्यास के हृदय में भगवत् कृपासे स्फुरित हुआ है, अपौरुषेय वाक्य मात्र ही भ्रम प्रमादादि दोष लेश शुन्य है, अतएव सर्व प्रमाण शिरोमणि है। भा० १।३।४४ में श्रीसूत ने भागवत को 'पुराणार्क' कहकर अज्ञानान्धकार नाशनमें इस की उपयोगिता को कहा है। लीलास्तव ४१३ में श्रीसनातन गोस्वामीजीने श्रीकृष्ण परिवर्त्तित रूप कहा है। प्राचीन महानुभावगण श्रीमद् भागवत का ध्यान का वर्णन श्रीकृष्ण तुल्य रूप से किए हैं—पद्म पुराण में कथित है—

पादौ यदीयौ प्रथम द्वितीयौ
तृतीयतुर्य्यौ कथितौ यदुरू ।
नाभिस्तथा पञ्चम एव षष्ठो,
भुजान्तरं दो र्युगलं तथान्यौ ।
कण्ठस्तु राजन् नवमो यदीयो
मुखारविन्दं दशमं प्रफुल्लम् ॥
एकादशो यस्य ललाट पट्टकं
शिरोऽपि यद् द्वादश एव भाति ।
तमादिदेवं करुणानिधानं
तमालवर्णं सुहितावतारम् ॥
अपारसंसारसमुद्रसेतुं
भजामहे भागवत स्वरूपम् ॥

तत्त्व जिज्ञासा की सुमीमांसा श्रीभागवत में ही है, ।१।२।६-१० में अधोक्षज श्रीकृष्ण में अहैतुकी भक्ति ही अपवर्ग परम धर्म वर्णित है, यह ही साध्य वस्तु है, उस को प्राप्त करने का उपाय ही तत्त्व जिज्ञासा है, तत्त्व जिज्ञासा, अथवा तत्ववस्तु की उपासना के लिए मानव जीवन धारण कर्त्तव्य है, भा० १।२।११। में "वदन्ति तत्तत्त्व विदः" श्लोकमें तत्त्व वस्तुका स्वरूप

निर्णय हुआ है, इस से निखिल विरोधका भी सुष्ठु समाधान हुआ है, भागवत के मत में अद्वय ज्ञान ही तत्त्व वस्तु है, यहाँपर शब्द से इन्द्रिय विषय संयोग से सामयिक अववोध ही नहीं है, किन्तु अखण्ड चैतन्य सत्ता ही ग्रहणीय है ।।

जो स्वराट् है, जिस की सत्ता दूसरे के प्रति अपेक्षा शील नहीं है, वह ही स्वयंसिद्ध एवं स्वतन्त्र है, ज्ञान अथवा चैतन्य वस्तु ही स्वयं सिद्ध सत्ताहै, जीव चित्कण होनेपर भी स्वयं सिद्ध नहीं हैं। अखण्ड चैतन्यघन परम पुरुष ही तत्त्व वस्तु है, इस में सम असम कोई तत्वान्तर नहीं है, विजातीय जड़ वस्तु भी है, किन्तु वह दूसरे के उपर निर्भरशील है, अद्वय अखण्डतत्त्वही केवल निज सत्ता स्वमहिमा में प्रतिष्ठित हैं, उस की शक्ति समूह उस को छोड़ कर एक क्षण भी नहीं रह सकती है, तत्त्व वस्तु में सजातीय विजातीय भेद नहीं है, निज शक्ति में ही स्वयं स्थित होते हैं, असमोर्द्ध होने के कारण आप अद्वय हैं, श्रुति शास्त्र की यह ही मार्मिक कथा है।

आचार्य शङ्कर तत्त्व वस्तु में सजातीय विजातीय स्वगत भेद निरास किए हैं, विजातीय सजातीय स्वगत भेद रहितत्वादेकरसः अखण्डस्त्वं सैन्धव घनवत् ।।

स्वगत भेद के विषय में श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं;—भेद की कथा, दो स्वतन्त्र वस्तुयों के वीच में ही उठ सकती है, जव शक्ति, शक्तिमान में ही आश्रित है तव भेद है,कहा नहीं जाता है, भेद स्वीकार न करने पर शक्ति द्वारा विचित्र लीला की सम्भावना भी नहीं होगी, सुतरां कुछ भेद भी स्वीकार करना पड़ेगा ।

शक्ति शक्तिमान् में सर्वथा भेद, अथवा अभेद असम्भव है, अतएव उभय का सम्बन्ध भिन्नाभिन्न है, यह भेदाभेद, विचार भूमि के उपर अप्राकृत चिन्मय भूमि में अवस्थित हैं, जो प्रकृति से अतीत है, वह ही अचिन्त्य है, अतएव स्वगत भेद के लिए अचिन्त्यभेदाभेद वाद ही स्वीकार्य है, श्री जीव गोस्वामी के मत में इस अचिन्त्य भेदाभेद की भूमि में स्थित होकर श्रीमद् भागवत में अद्वय शब्द का प्रयोग हुआ है, श्रीभागवत में ही विरोधी श्रुति समूह का वास्तविक समाधान है,वह भी अचिन्त्य भेदाभेदवाद मूलक ही है ।।

श्रुतिमें सगुण निर्गुण-उभय प्रकार वचन विद्यमान होनेके कारण प्रश्न होता है कि—ब्रह्म सगुण है, अथवा निर्गुण, ? निर्गुणवादिगण सगुण परक श्रुति का प्रामाण्य को अस्वीकार कर, उक्त श्रुति की कल्पना गौणार्थ व्यवहारिकार्थ में करते हैं। सगुण वादिगण उस के उत्तर में निर्गुण परक श्रुति को लेकर विपत्ति में पड़ तो जाते ही हैं,, तत्त्वमसि वाक्य में तत् पुरुष समास मानते हैं, अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, श्रुतिस्थ अभाव बोधक न कार को अभाव वोधक न मान कर अप्राकृतत्त्व कहतेहैं, विष्णु पुराण विरोध समाधान

के लिए कहते हैं,—निर्गुण ब्रह्म में भी सृजन करने की शक्ति है, जैसे अग्नि में उष्णता है, कारण, वह शक्ति अचिन्त्य है, कार्य को देखकर ही श्रुतार्थापत्ति प्रमाणसे ही मानी जातीहै, यह ही पुराणादि शास्त्र सम्मत आर्षव्याख्या है। अतएव अचिन्त्यभेदाभेदवाद ही सब श्रुति के प्रति समान मर्यादा देने में समर्थ है, एवं इस से विरोधी श्रुति वाक्य की सुमीमांसा भी होती है।

अद्वय ज्ञान तत्त्व केवल ज्ञान ही नहीं है, कारण वह जिज्ञासा एवं उपासना का विषय भी है, पुरुषार्थ न होने पर चिन्मात्र वस्तु के प्रति किसी की आकाङ्क्षा नहीं होती है,अतएव वस्तु सुख स्वरूप भी है,श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं, तत्त्वमिति परम पुरुषार्थ द्योतनाय परम सुख रूपत्व तस्य ज्ञानस्य वोध्यते। परम तत्त्व वस्तु में अखण्ड ज्ञान, सत्ता, आनन्द, एक ही है, तथापि कहाजाता है कि—परम तत्त्व वस्तु में चेतना–आनन्द है, वह सम्पूर्ण निरर्थक नहीं है। सत्ता चैतन्य आनन्द में यत् किञ्चित् भेद भी स्वीकार्य है, बलदेव विशेष पदार्थ को मानकर समाधान करते हैं, विशेष भेदस्वरूप न होकर भी उस का प्रतिनिधि है। और उस कार्य का निर्वाह करता है। सुतरां धर्मधर्मिगत भेद परमतत्त्व वस्तु के स्वरूप से अभिन्न होकर भी अचिन्त्य भेद विशिष्ट रूप से प्रतीत होता है ॥

विष्णु पुराण में "ह्लादिनी सम्बित् सन्धिनी" शक्तित्रय का संवाद है, जिस से ब्रह्म स्वयं सत्ता विशिष्ट होकर अपर को सत्ता विशिष्ट करता है,

वह सन्धिनी शक्ति है, जिस से स्वयं चित् स्वरूप में रहकर दूसरे को चैतन्य प्रदान करता है, वह सम्वित् है, जिस से स्वयं आनन्दित होकर अपर को आनन्दित करता है, वह ही ह्लादिनी शक्ति है, तीन शक्तियों में ह्लादिनी शक्ति ही श्रेष्ठा है, कारण सब शक्ति का उत्कर्ष सुखानुभूति से ही होता है, जब चित् शक्ति सुखानुभूति में परिणत होती है, तब ही उस की अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा होती है, सुतरां सन्धिनी सम्बित् का परमोत्कर्ष जिस से सिद्ध होता है, वह ही ह्लादिनी शक्ति है, अचैतन्य सत्ता होनेपर भी असत् चैतन्य नहीं होता है, चेतना विहीन आनन्द भी नहीं रहता है, सुतरां समझना होगा कि सम्बित् में सन्धिनी अन्तर्लीन है, एवं ह्लादिनी में सम्बित् भी अन्तर्लीन है, अतएव ह्लादिनी का व्यापकत्व एवं गाम्भीर्य निष्पन्न हुआ, विशेष पदार्थ की महिमा से शक्तित्रयमें एवं शक्तिमान् में अचिन्त्यभेदाभेद ही सम्बन्ध है।

षट् संवाद के द्वारा ही श्रीभागवत का समारम्भ हुआ है, श्रीशौनक-मुनिने सूत गोस्वामि के निकट छै प्रश्न किया था (१) पुरुष का ऐकान्तिक श्रेयः क्या है? (२) आत्मा सुप्रसन्न कैसे होती है, (३) देवकी गृहमें भगवान् का आविर्भाव होने का हेतु क्याहै? (४) उनकी लीला क्या है, ? (५) उनके अवतार क्या क्या है? (६) श्रीकृष्ण अन्तर्धान होनेपर धर्म का आश्रय स्थल

कौन रहा ? प्रथम स्कन्ध के द्वितीय आध्याय में चार प्रश्नों के उत्तर हैं, पञ्चम प्रश्न का उत्तर तृतीय अध्याय में है। षष्ठ का उत्तर श्रीमद् भागवत ही श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि रूप में विराजित हैं,

इस में वक्ता एवं श्रोता की परम्परा भी इस प्रकार है—श्रीनारायण-ब्रह्मा, नारद, वासुदेव शुकदेव-परीक्षित, सुत, शौनक ।।

श्रीमद् भागवत में दश विषयों की वर्णना है सर्ग (मूलसृष्टि) विसर्ग (प्रलय) स्थान (सृष्टि पदार्थ का उत्कर्ष विधान) पोषण (अनुग्रह) ऊति (कर्म वासना) मन्वन्तर, ईशानुकथा (हरि, भक्त चरित) निरोध (सशक्ति शयन) मुक्ति (स्वरूव में अवस्थान) एवं आश्रय (श्रीहरि,) दशमपदार्थ आश्रय तत्त्व निर्धारण में शास्त्र तात्पर्य होने पर भी अन्यान्य नौ पदार्थों की वर्णना भी मूल पदार्थ विषयक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है।

इस में ब्रह्मवाद परमात्म वाद की आलोचना स्थल स्थल पर होनेपर भी भगवद् वादका ही विशिष्ट स्थान है। भक्त एवं भगवान् के व्यवहार तथा विविधलीलाविलासवर्णनमय प्रधान ग्रन्थ ही श्रीमत् भागवत है। जनहित कर भगवदवतार अनन्त हैं, पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार युगावतार, शक्त्यावेशावतार, मन्वन्तरावतार, कल्पावतार इत्यादि। श्रीसनातनगोस्वामी कृत लीलास्तव में ३७ अवतारों के नाम हैं। अवतारगण नित्य; चिन्मय, अप्राकृत, परमानन्द स्वरूप, हानोपादान रहित, ज्ञानमात्र एवं सर्वगुण युक्तहैं, अतएव अवतार गणन के मध्य में श्रीकृष्ण नाम लिखित होने पर भी, श्रीकृष्ण सकल अवतारों के अवतारी, सर्वविध ऐश्वर्य माधुर्य परिपूरित परतत्त्व हैं, श्रीकृष्ण से ही अपरापर अवतारगण की भगवत्ता, श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। लीला, प्रेम, वेणु, रूप माधुर्य में श्रीकृष्ण ही अनन्य साधारण हैं।

श्रीकृष्ण भक्ति रसास्वादक रसिक एवं भावना परायण भावुक गण संवेद्य ही श्रीभागवत हैं। यह अनुपमरसग्रन्थ एवं सार्वभौग वास्तविक दार्शनिक ग्रन्थ हैं।

रसका मौलिक उद्भव स्थान चित्त रूप अनुभव एवं दर्शन का उत्स मस्तिष्क की युक्ति विचार धारा है ।।

चित्त सुन्दर को चाहताहै, और विचार,--सत्य को चाहता है, इसलिए दोनों हीं परस्पर अत्यन्त विरोधी होते हैं, किन्तु साहित्य तथा दर्शन के चिरन्तन विरोध का एकमात्र सुन्दर समाधान क्षेत्र ही श्रीभागवत है। एक ही ग्रन्थ में भावुक, दार्शनिक, साहित्यिक की सर्वथा परितृप्ति विश्व साहित्य में असम्भव है। श्रीभागवत ही एकमात्र अनन्य सुलभ गौरव से मण्डित हैं, इस में रस पान करने के लिए रसिक भावुकादि सब को युगपत् आह्वान किया गया है। उभय योग्यता जिस की है, वह ही श्रीभागवत का सर्वश्रेष्ठ

आस्वादक होगा। श्रीशुकदेव उस समय के आस्वादक थे। परवर्त्ती काल में एकमात्र आस्वादक श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के पार्षदगण हैं, इन सब की लेखनी से ही श्रीभागवतीय अनवद्य अमन्द भक्ति मन्दाकिनी धारा प्रवाहित हुई है।

श्रीभागवत ग्रन्थ का मुख्य नायक, औपनिषद् पुरुष रसिक शेखर श्री कृष्ण, एवं उनकी सर्वश्रेष्ठा आराधिका आस्वादिका महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी हैं, उस भावमयी, रसमयी श्रीराधा के सर्वथा भावसाजात्य एवं कृपानुगत्य से ही श्रीभागवत एकमात्र आस्वाद्य है।

कथानक हैं,-कि,—"**भक्त्याभागवतंग्राह्यं न वुद्धया न च टीकया** इस रीति से अकृत्रिम प्रेममय रसमय भागवत की कृपा कणा को छोड़कर श्री भागवत ग्रन्थ सर्वथा दुर्वोध्य ही होता है, तथापि भक्ति परिभावितचित्त भक्त गण टीका रचना के द्वारा श्रीभागवत रस का परिवेषण कर भागवत में मति प्रवेश के लिए परम साहाय्य प्रदान किए हैं। श्री जीव गोस्वामी कृत तत्त्व सन्दर्भ में आठ प्राचीन टीकाओं के नामोल्लेख हैं। हनुमद् भाष्य, वासना भाष्य सम्बन्धोक्ति, विद्वत् कामधेनु, तत्त्वदीपिका, भावार्थ दीपिका, परम हंस प्रिया, शुक हृदय। इस में से श्रीधरस्वामी कृत भावार्थ दीपिका उपलब्ध हैं, एतद्व्यतीत श्रीमध्वाचार्य कृत भागवत तात् पर्य, विजयध्वज कृत पद रत्ना वली वीर राघव कृत भागवत चन्द्रिका, शुकदेव कृत सिद्धान्त प्रदीप, वल्लभाचार्यकृत सुवोधिनी, अद्वैत सिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती कृत सारार्थ प्रवेशिका प्रभृति ग्रन्थ भी गभीर तत्त्व पूर्ण हैं, परवर्त्ती टीका कारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान श्रीधरस्वामीपाद का है, श्रीमद् गौराङ्ग महाप्रभु तो श्रीधरानुगत व्याख्यान को ही गौरव प्रदान किए थे।

श्री श्री गौरेश्वर सम्प्रदायिगण भी श्रीमद् भागवत की अनेक टीका ग्रन्थ निर्म्माण किए हैं, बृहद् वैष्णवतोषणी(श्रीसनातन) लघु तोषणी बृहद् क्रम सन्दर्भ लघु क्रमसन्दर्भ, (श्रीजीव) सारार्थ दर्शिनी (श्रीविश्वनाथ) वैष्णवानन्दिनी (श्रीबलदेव) भावभाव विभाविका राम नारायणमिश्र) श्रीचैतन्य मत मञ्जुषा (श्रीनाथचक्रवर्त्ती) दशम टीका (कवि कर्ण पूर) संशय शातनी (रघुनन्दन गोस्वामी (प्रभृति ॥

श्रीगौराङ्ग देव के आविर्भाव के पूर्ववर्त्ती टीका कारों की तत्त्व सिद्धान्त के और दृष्टि निबद्ध थी, इस के परवर्त्ती महाजन गण विशेष रूप से रस सिद्धान्त परिवेषण के और मनोयोग प्रदान किए हैं, इस विषय में श्रीगौराङ्ग देव के अनुगत महानुभावगण तत्त्व एवं रस सिद्धान्त परिवेषण में अप्रतिद्वन्द्वी धुरन्धर हैं॥

टीका ग्रन्थ के अतिरिक्त श्रीमद् भागवत के अनेक निवन्ध एवं प्रकरण

ग्रन्थ भी हैं,मुक्ता फल, हरिलीला,विष्णुभक्ति रत्नावली, लीलास्तव, हरिभक्ति तत्त्वसार संग्रह प्रभृति हैं, यह सव ग्रन्थ भागवत तात्पर्य वर्णन के लिए श्री-भागवतानुसरण से ही लिखित हैं।

आचार्य शङ्कर,—सर्व सिद्धान्त संग्रह के वेदान्त प्रकरण में ९८, ९९ श्लोक में वासुदेव सहस्र नाममें (५, ५५) भागवत ग्रन्थ का नामोल्लेख किए हैं,प्रवोध सुधाकर में यादवाधीश को प्रणाम करने के पश्चात् वैराग्य प्रशंसा, देह निन्दा, विषय निन्दा, मनोनिन्दा, विषयनिग्रह, मनो निग्रह, वैराग्य आत्म सिद्धि इत्यादि प्रबोध प्रकरण पर्यन्त भागवतीय प्रकरण की वर्णना न करने पर भी भक्ति प्रकरण से ही भागवतीय कथा का प्रारम्भ किए हैं। ध्यान विधि प्रकरण में (१८४-१८८) गो, गोप, गोपी परिवेष्टित श्रीव्रजेन्द्र नन्दन का सगुण निर्गुणयोरैक्य प्रकरणमें सगुण निर्गुण श्रुति समन्वय भूमि में श्रीकृष्ण तत्त्व को स्थापन किए हैं,१९४-२२५प्रवोध सुधाकर के यह सव श्रीमद्भागवत का प्रकरण ग्रन्थ हैं।

भागवतीय कथावलम्बन से मन्त्र भागवत, तन्त्रभागवत है, नीलकण्ठ सूरि सङ्कलित मन्त्र भागवतमें २५०, ऋक् मन्त्र की भागवतीय व्याख्याहै, एवं इस में गोकुल, वृन्दावन, अक्रूर, मथुरा खण्ड नाम से चार विभाग हैं। श्री हयशीर्ष पञ्चरात्र में १।२।८ शास्त्र कथन प्रस्ताव में तन्त्र भागवत को भागवत का भाष्य कहा गया है। ऋक् परिशिष्ट नामक ग्रन्थ से वैष्णवाचार्य गण श्रीराधामाधव की तत्त्व कथा का उल्लेख किए हैं।

श्रीभागवत के अनुष्ठान स्थान,-(१) शम्याप्रास में (२) प्रयाग तीर्थ राज में (३) नैमिषारण्य में सूत शौनक संवाद,(४)गङ्गाद्वार में (५) तुङ्गभद्रा तट में गोकर्णद्वारा भागवत कीर्त्तन,।

श्रीमद् भागवत के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य विषय भी सिद्धान्त दर्पण, चैतन्य भागवत, चैतन्य चरितामृत प्रभृति ग्रन्थ में हैं।

श्रीमद् भागवत में गीत सङ्कलन—(१) रुद्रगीत, ४।२४।३३।७९। (२) देवगीत (५।१९-२१-२८) (३) वेणुगीत (१०-२१-७-१९) (४) गोपीगीत (१७-३१-) (५) युगल गीत (१०--३५) (६) भ्रमरगीत (१०-४७, १२-२१) भिक्षुगीत (११-२३-४३–५८) (८) ऐलगीत (११-२६-७-२४) (९) भूमिगीत (१२-३-१–१५)।

श्रीमद् भागवत में मन्त्र समावेश–- (१) कामवीज एकाक्षर श्रीकृष्ण मन्त्र भा० (१०-१९–४) कल-क+ल, वामदृक् ई, एवं मनोहर चन्द्र ँ समष्टि से क्लीँ, (२) कात्यायनी मन्त्र, भा० (१०।२२।४। ह्रीँ, क्रीँ, कात्यायन्यैनमः (३) गायत्री सहोदर मन्त्र, ५।७।१४।, (४) ब्रह्माक्षर प्रणव मन्त्र ५।८।१। (५) सङ्कर्षण मन्त्र ५।१७।१७। (६) हयशीर्षमन्त्र ५।१८।२। (७) नरसिंह मन्त्र ५। १८।८।७।१०।१०। (८) कामदेव मन्त्र ५।१८।१८। (९) महामत्स्य मन्त्र ५।१८।

२५। (१०) कूर्ममन्त्र ५।१८।३०। (११) वराहमन्त्र ५।१८।३५। (१२) श्रीराम मन्त्र ५।१९।३। (१३) नरनारायण मन्त्र ५।१९।११। (१४) नारायण मन्त्र ६।८। ६–१०, ६।५।१८) (१५) विष्णुमन्त्र ६।१९।७–८) (१६) वासुदेवमन्त्र १।५।३७। ४।८।५३।८।३।२। (१७) रुद्रगीत में ४।२४। नारायण वर्म (६-८-१२-३४) अनेक मन्त्रों का उल्लेख हैं। रक्षाकवच १०।६।२२–२९।

स्तवसमावेश—कुन्तीस्तव ।८।१८–४३) भीष्मस्तव १।९।३२।६२) ऋषिस्तव, ३।१५ ३२–४५) गर्भस्थ जीव स्तव ३।३१।१२–२१) दक्षादिस्तुति ४।७।२६–४७ ध्रुवस्तुति ४।९।६–१७ भवस्तुति ५।१७–१८-२४। प्रजापतिस्तुति ६।४।२३–३४। ब्रह्मादिकृत स्तव ७।८।४०-५६) प्रह्लाद स्तुति –७–९।८–५०। गजेन्द्रस्तुति ८।३।२–२९) ब्रह्मस्तव ८।५।२६–५० प्रजापति गणकृतस्तुति ८।७। २१–३५) अदिति कृत स्तुति ८।१०।८–१०। गर्भस्तुति १०।२०।२६–४१। देवकी कृत स्तुति १०।३।२४-३१) ब्रह्मस्तुति १०।१४।१-४०। नागपत्नी कृत स्तुति १०।१३।३६-५३) इन्द्रस्तुति १०।२७।४–१३) अक्रूरकृतस्तुति १०।४०।१-३०) मुचुकुन्दकृत स्तुति १०।५१।४८।५८ श्रुति स्तुति ०।८७। ४-४१ मार्कण्डेयस्तुति १२।८।४०—४९॥

प्रत्येक स्तव निजनिज वैशिष्ट्य मण्डित होने पर भी सर्व वृहत् एवं वेदान्त रहस्य युक्त श्रुति स्तुति है, मुचुकुन्द कृत स्तव में मायामुग्ध जीव का स्वरूप रहस्य एवं विषय भोग की कटुता वर्णित है।

श्रीमद् भागवत में छन्दो वैचित्र्यहै अनेक स्थलमें प्रचलित छन्द नियम का लङ्घन इस से अधिक रूप से विद्यमान है, उस का संक्षिप्त उदाहरण इस प्रकार है (१) भा० १।२।३। श्लोक में यः स्वानुभावमखिल श्रुति सार मेक मध्यात्मदीपमतितितीर्षतांतमोऽन्धम् इसमें प्रथम चरण वसन्ततिलक है, ज्ञेयं वसन्त तिलकं तभजा जगौगः किन्तु द्वितीय चरण चेलाञ्चल वृत्तलक्षण युक्त है, चेलाञ्चलं तभ सजगा गुरुर्यदास्यात् ॥

(२) भ० १।२।३७ श्लोक के प्रथम पाद में उपेन्द्र वज्रा, तृतीय पाद में इन्द्रवज्रा, चतुर्थ पाद में ईहा मृगी वृत्त है। ईहा मृगी किल चैत्तौ गौ।

(३) भा० १।७।४२ श्लोक में प्रथम पादद्वय में उपेन्द्र वज्रा, तृतीयपाद में वंशस्थविलं, चतुर्थपाद में इन्द्रवंशा॥

(४) भा० २।३।२५ श्लोक में प्रथम चरणत्रय, उपेन्द्रवज्रा,चतुर्थ चरण में अज्ञात लक्षण है, इस प्रकार २।४।१४ के प्रथम पाद में छन्दोलक्षण अज्ञातहै॥

(५) भा० १।१२।१८ श्लोक अनुष्ठुप में रचित होनेपर भी तृतीयपाद में नौ अक्षर है।

(६) भा० १।१३।२६। एवं राजाविदुरेणानुजेन, पञ्चम गुरु होने पर शालिनी लक्षण होता, यहाँपर, वातोर्मी होकर उपजाती लक्षण हुआ है।

(७) भा० १।१३।३० प्रथम चरणद्वय इन्द्रवज्रा होने पर भी चतुर्थ

चरण का छन्दो लक्षण अज्ञात है ॥

(८) भा० १०।३५।९ वनलतास्तरव आत्मनि विष्णु' यहाँपर छन्द अज्ञात है।

(९) ह्रस्वदीर्घ का व्यतिक्रमभी है, भा० १।२।३। में अध्यात्मदीपमति तितीर्षतां तमोन्धम् ' यहाँपर ९ अक्षर क्रम से दीर्घ ह्रस्व होने से वसन्त तिलक होता।

(१०) भा० १०।२।२६ सत्यस्य सत्यमृत सत्यनेत्रं इस में पञ्चम वर्ण लघु है, २७ श्लोक में तृतीय चरणमें ५ में लघु एवं चतुर्थ में अन्य छन्द. है। इस प्रकार श्रीमद् भागवत के अनेक स्थलों में छन्दोव्यतिक्रम है, इस का कारण पूर्व काल के प्रचलित छन्दः समूह वर्त्तमान काल में उपलब्ध नहीं है। श्रीमद् भागवत में ही सर्व प्रथम इन्दिरा छन्दः का प्रयोग हुआ है, भा० १०।३१। १ जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्रहि '' व्याकरण वैचित्र्य भी श्रीमद् भागवत में हैं—

(१) १।१०।२ संरोहयित्वा ' क्त्वो यप्'' हीना आवश्यक था, इस प्रकार ४।१९।१५ हन्तवे, हन्तुम् एवं ३।५।४७ प्रति हर्त्तवे तुमर्थे तवेन प्रत्यय है।

(२) १०।८७।१४ में गृभीतगुणा '' गृभीत शब्द वैदिक है। ३।२१।२४ संगृभित (४।५।३) (५।३।२१) तनुवा तन्वा ॥

(३) १०।६।९ जननी ह्यतिष्ठतां द्विवचन में जननी पद आर्ष,

(४) (१०।२९।२ चर्षणीनाम् ''चर्षणि शब्द का प्रयोग नवीन है ॥

(५) पुलकान्यविभ्रन् १०।२९।४० अविभरुः स्थल में आर्ष,

(६) १०।१४।६—महिमागुणस्य ते विवोद्धु मर्हत्यमलान्तरात्मभिः। यहाँपर कर्म वाच्य में अर्हति क्रिया पद है।

(७) १०।२४।२६ सह चक्रेऽत्मना '' यहाँपर आकार का लोप हुआ है।

(८) १०।२४।३० शर्मणे आत्मनो विसन्धि है, सन्धि होने से छन्दोभङ्ग नहीं होता ॥

(९) १०।२६।१५ वज्राश्मपर्शानिलैः ' पर्श '' क्या है ? सीदत् पाल पशुस्त्रिआत्मशरणं विसन्धि है इस प्रकार १०।३२।१५ संस्तुत्य ईषत् विसन्धि है। नीरस आध्यात्मिक क्षेत्र में परकीया भाव की कल्पना भी सर्वथा नवीनतम कल्पना हैं।

ब्रह्म सूत्रार्थसङ्कलन कार्यमें प्रधानतः श्रीधर स्वामिकृत टीका, षट्सन्दर्भबृहत्क्रम सन्दर्भ, लघु क्रम सन्दर्भ, बृहद् वैष्णव तोषणी, संक्षेप वैष्णव तोषणी, सारार्थ दर्शिनि, चैतन्यमत मञ्जुषा, सिद्धान्तरत्न, प्रेमय रत्नावली, वेदान्तस्यमन्तक गोविन्द भाष्य, सर्वसम्वादिनी प्रभृति ग्रन्थों से आदर्श गृहीत हुआ है।

हरिदासशास्त्री

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

—※※—

※श्रुतिसंग्रहः※

—※※—

(श्रीमद् भागवतीयभावार्थदीपिकायामुल्लिखिलश्रुतीनां संग्रहः)

श्रीमद् भागवताभिधः सुरतरुस्तारांङ्कुरः सज्जनिः
स्कन्धै र्द्वादशभिस्ततः प्रविलसद् भक्त्यालवालोदयः
द्वात्रिंशत्त्रिशतञ्च यस्य विलसच्छाखा सहस्राण्यलं
पर्णान्यिष्ट दशेष्टदोऽतिसुलभोवर्वर्त्ति सर्वोपरि ॥

भा०१।१।१ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति । स ऐक्षत लोकानुत्सृजा । स इमान् लोकान् असृजत । हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरण मह प्रपद्ये ॥ १।१।३ रसोवैस, रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवतीति श्रुतेः ॥ १।१।७ तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन । अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति ॥ १।३।७ अर्द्धो वा एष आत्मनो यद् पत्नीति श्रुतेः ॥ १।५।१८ कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः ॥ १।५।२० हिशब्देन सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादि श्रुति प्रमाणं दर्शितम् आचार्यवान् पुरुषोवेद ॥ १।६।२६ अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेद इत्यादि श्रुतेः ॥ १।७।५३ ब्राह्मणो न हन्तव्यः ॥ १।८।५२ सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैन मेवं वेद इति श्रुतिः॥ १।१०।२३ दृश्यते त्वग्रया बुद्धया इति श्रुतिः ॥ १।१०।३६ अद्भ्यो वा एष प्रतिरुदेत्यपः सायं प्रविशतीति श्रुतिः ॥ २।१।३६ नाम रूपे व्याकरवाणि ॥ २।२।३२ एते सृती वेदेन गीते उक्ते,यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः, अथमर्त्यो ऽमृतो भवति । सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्च ॥ २।५।११ न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति ॥ कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति । २।६।१३ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, इत्यादेश्च ऋक् त्रयस्यार्थः पूर्वाध्याये एव दर्शितः । पुरुष एवेदं सर्वं इत्यस्यार्थं दर्शयति । अहं भवानिति सार्द्धत्रिभिः ॥ २।६।१७ प्राणे वा एष आदित्यः इति श्रुतिः । २।६।१८ अभयस्यैति मन्त्रागतामृत पदस्य व्याख्या ॥ २।६।१९ पादोऽस्य विश्वा

भूतानि ” इत्यस्यार्थः पादेष्विति त्रिपादस्यामृतं दिवि। २।६।२० त्रिपादूर्द्ध इत्यस्यार्थः ॥ २।६।२२ यत् पुरुषेण हविषेत्यादि मन्त्रार्थः ॥ २।६।२६ अनेन पुरुषं जातमग्रत इत्यस्यार्थः ॥ २।६।३३ पुरुष एवेदं सर्वं ” इत्यत्रोक्तार्थं द्रढ़यति ॥ २।६।३६ योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग यदि वा न वेदेति ॥ २।७।४० विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं, यः पार्थिवानिविममे रजांसि। योऽस्कम्म यदुत्तरं सधस्थं विचं क्रमाणस्त्रेधीरुगाय त्वा विष्णवे इति ॥ २।७।४७ तन्त्वौप निषदं पुरुषं पृच्छामि ॥ २।६।२२ यस्य ज्ञानमयं तपः इति श्रुतिः ॥ २।१०।४५ इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ३।१।३४ तथा अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय इति प्रस्तुत्य तस्य यजुरेव शिरः, ऋग् दक्षिण पक्षः सामोत्तर पक्षः इति श्रुतिः ॥ ३।८।१२ सोऽपश्यत् पुष्कर पर्णे तिष्ठन् सोऽमन्यत अस्ति वैतद् यस्मिन्निदमधितिष्ठति। ३।१२।४४ भूर्भुवः स्वरिति वा एता स्तिस्रो व्याहृतयः। तासां मु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्य प्रवेद्यते मह इतीति। ३।१२।४५ स्नुतः स्नायुतः अनुष्टुप स्नावान् इति श्रुतेः ३।२१।३४ वृहद्रथन्तरे पक्षाविति श्रुतिः। स्तोमः आत्मेति श्रुतिः ३।२२।१६ गृभ्णामिते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्येत्यादिमन्त्र प्रसिद्धः ३।२५।४२ भीषास्मा द्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। ३।२६।२ तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति ॥ ३।२६।५ अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजा जनयन्तीं स्वरूपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगां अजोऽन्य इति ३।२६।४३ आपोमयः प्राण इति श्रुतिः। ३।३१।१३ असङ्गो ह्ययं पुरुषः” इति श्रुतिः ॥ ३।३२।७ सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा ४।२।२२ अक्षय्य ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ॥ ४।३।३ वाजपेयेनेष्ट्वा वृहस्पति सवेन यजेत ॥ ४।४।२० यावज्जीवं अग्नि होत्रं जुहोति शान्तोदान्तो ” इति श्रुतेः। ४।५।२१ ऐन्द्रापौष्णश्चरु र्भवतीति श्रुतिः ४।७।२६ द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुतिः ४।७।४१ आश्राव येति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषड् चतुरक्षरं, यजे इति द्व्यक्षरं,, ये यजामहे इति पञ्चाक्षरं, द्व्यक्षरो वषट्कार इति ॥ ४।११।२१ कामोऽकार्षीत् कामः करोति, कामः कर्त्ता, कामः कारयिता ॥ ४।११।२३ कोऽद्धा वेद, क इह प्रावोचत्, कुत आयाता, इयं विसृष्टिः ॥ अर्वाग् देवा, अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ वभूवेत्यादि ॥ ४।१३।३५ यज्ञोवै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु प्रति तिष्ठतीति ॥ ४।२१।२४ यज्ञोवै विष्णुः ॥ ४।२१।३५ एतस्यैव आनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ४।२४।३७ हंस शुचिषद् ॥ ४।२६।३७ तरति शोकमात्मवित्। ५।२।१३ अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति, ॥ नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि। ५।१२।८ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। ५।१८।२६ यस्य वाक्तन्ति र्नामानि दामानीत्यादिः ॥ ५।१८।१७ ता

अहिंसान्ताहमुक्थमस्माहमुक्थमस्मीत्यादिः ॥ ५।२१।८ अद्भ्यो वा एष प्रात रुदेत्यपः सायंप्रविशति ॥ ५।२२।११ अभिजिन्नाम नक्षत्रमुपरिष्टादाषाढ़ाना-मधस्ताच्छ्रोणाया इत्यादि ॥५।२६।२९ न्यग्रोधस्तिराहृत्य ताः संपिष्य दधिन्युप सृज्य तमस्मै भक्ष्यं सम्प्रयच्छेत् न सोममिति ॥ ६।१।४० अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेद इति ॥ ६।३।१६ यद् वाचानभ्युदितं यन्मनो न मनुते ६।६।४२ पुरुषत्वे चाविस्तारामात्मेति श्रुतिः ॥ ६।८।२९ सुपर्णोऽसि गरुत्मा निति श्रुतिः ॥ ६।९।१ अत्र विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीदिति श्रुतिः ॥ ६।९।१० विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः इत्यस्यां श्रुतावुक्तेः ॥ ६।९।११ तस्मादापो न परिचक्ष्या इत्यादि श्रुत्यर्थं उक्तः । ६।९।१२ तदुक्तं श्रुत्या यद ब्रवीत् स्वाहा इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व इति तस्मादस्य इन्द्रः शत्रुरभवत् ॥ ६।९।१८ स इमान् लोकानावृणोदेतद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति ॥ ६।९।३७ पर्यवशेषितः नेति नेति " इत्यादि श्रुत्या ॥ ६।९।५२ तथाच श्रुतिः अश्वस्य शीर्ष्णा ॥ ६।१६।९ तदात्मानं स्वयमकुरुत ॥ ६।१६।१५ नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा । ६।१८।४ पुरीष्यासो अग्नय इति पञ्चधा एते अग्नयो यच्चितयः इत्यादि श्रुतेः " ॥ ६।१८।६ सत्रेह जातारिषिता नामभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानमिति श्रुतेः। ६।१८।६४ गणा वै मरुत इति श्रुतेः ॥ ७।५।३२ एको देवोसर्वभूतेषु गूढः सर्व व्यापी सर्वभूतात्मरात्मा ॥ ७।७।१९ अविनाशी वा अरे अयमात्मेति । ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्निति श्रुतेः । शुद्ध निरवद्य निरञ्जनं इति श्रुतेः । एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः । स इमांल्लोकासृजतेति श्रुतेः । सत्यं ज्ञान-मनन्तमिति श्रुतेः । असङ्गो ह्ययं पुरुषः इति श्रुतेः । विज्ञातारं केन विजानीयादिति श्रुतेः । यस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरीक्ष मिति स्वदृक् श्रुतेः । निष्कलं निष्क्रियं शान्तमितिश्रुतेः । आत्मज्योतिः सम्राड़िति होवाचेति श्रुतेः । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवानुशिष्यते इति श्रुतेः ॥ ७।७।२४ यतो वा. इमानि भूतानि जायन्ते ॥ ७।७।४० तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । ७।९।१८ तथाच आथर्वणी श्रुतिः देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् इत्यादि । ७।९।३१, श्रुतिश्च वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । ७।१५।२१ न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव नीहारेण प्रावृता जल्प्या असुतृप उक्थ शासश्चरन्तीति ॥ ७।१५।४० तथाच श्रुतिः आत्मानं चेद्विजानीयायमस्मीति पूरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्चरेदिति ॥ ७।१५।४१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव चेत्यादि श्रुतिः ॥ ७।१५।५० तथाच श्रुतिः स इमास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवानुचंक्रामतीति । ८।१।१० तथाच श्रुतिः ईशावास्यमिति यथा श्लोकमेव । ८।१।११ तथाच श्रुतिः चक्षुषश्चक्षु रुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि ॥ ८।२।६३ यद् भयादित्यत्र श्रुतिः भीषास्माद्वातः

प्रवते भीषोपेति सूर्य्यः भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति ।८।३।४
चक्षुषश्चक्षुरिति श्रुतेः । ८।३।५ आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् । ८।३।१०
तथाच श्रुतिः; यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति ॥ ८।३।११ सन्न्यास
योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा इति श्रुतेः ॥ ८।३।१३ तथाच श्रुतिः । पूर्वमेवा
हमिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वमिति । ८।३।१६ सोऽकामायत वहुस्यामिति
श्रुतेः । ८।३।१७ तथाच श्रुतिः, य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरोयमयति,
इति । ८।५।२६ तथाच श्रुतिः—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्
पूर्वमर्शत् यद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठदिति । यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते
इति श्रुतेः ॥ ८।५।२९ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
इति श्रुतेः । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकसीतीति । ८।५।३६
सैषा त्रय्येव विद्या तपतीति श्रुतेः । य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः, इति
श्रुतेः । ८।७।२६ अग्निः सर्वं देवतेति श्रुतेः । ८।८।३९ ऋद्धिकामाः सत्रमासी
रन्निति श्रुतिः । ८।१६।३१ चत्वारि शृङ्गा, त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्ता
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यामावि
वेशेति मार्गमुद्गवदालुनः सोऽयंप्राज्ञै यथायथम् ॥ ८।१६।३८-३९ ओमित्यङ्गी
कारेण यत् प्रोक्तं तत् सत्यं नेति यदाह तदेवानृतम् वाचः सत्यं पुष्पं फलं च
८।१६।४०।४१ तथाच श्रुतिः ओमिति सत्यं नेत्यनृतं तदेतत् पुष्पफलं वाचो यत्
सत्यं स हेश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्त्ति र्भविता, पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं
वदत्यथैतन्मूलं वाचो यदनृतं तदयथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति स उद्वर्त्तते
तस्मादनृतं न वदेत् । पराक् रिक्तमिति श्रुति पदस्य व्याख्यानम् । ८।१६।४२
तथाच श्रुतिः, अथैतं पूर्णमभ्यात्मं यन्नेति स यत् सर्वं नेति ब्रूयात् पातिकास्य
कीर्त्तिजयित सैनं तत्रैव हन्यादिति । ८।१६।४३ तथाच श्रुतिः, तस्मात् काल
एव दद्यात् काले न दद्यात् तत् सत्यानृते मिथुनी करोतीति । ८।२३।२९
तथाच मन्त्र विष्णोर्नु कं वीर्याणीति, नते विष्णोर्जायमानो न जातो वेदमहिम्नः
पर मनन्तमापेति । ८।२४।४८ यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्रु अवाशीर्यते
तद्रजतं हिरण्यमभवदिति । ९।४।४० श्रुतिश्च आपोऽश्नाति यत्तन्नेवाशितं
भवति नैवानशितमिति । ९।५।५ स ऐक्षतेत्यादि श्रुतिप्रसिद्धं भगवतः
शोभनं दर्शनम् । ९।७।२५ अन्नमयं हि सोम्य मनः इति श्रुतेः । ९।१३।६
तथाच श्रुतिः कुषे रेतः सिषिचतुः समानमिति । ९।१४।२२ अमृतं वा आज्य
मिति श्रुतेः । ९।१४।४४ शमी गर्भादग्निं ममन्थेति । ९।१४।४५ उर्वश्या
उरसि पुरूरवा इति । ९।१४।४८ कृतयुगे सर्ववाङ्मय वीजभूतः प्रणव एक
एव वेदः । ९।१६।२९ तथाच श्रुतिः, तस्य ह विश्वामित्रस्य एकशतं पुत्रा
आसुः । पञ्चाशदेव ज्यायांसे मधुच्छन्दसः पञ्चाशत् कनीयांस इत्यादिः ॥

६।२०।२१ आत्मा वै पुत्रनामासीति श्रुतेः। १०।१४।२३ तथाच श्रुतिः, पूर्व-मेवाहमिहासमिति। तत् पुरुषस्य पुरुषत्वमिति। १।२६।३३ किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा लोक इति। १०।४०।५ तथाचश्रुतिः स प्रथमः सप्रकृति विश्वकर्मा स प्रथमो मित्रावरुणोऽग्नि: स प्रथमो वृहस्पतिश्चिकित्वां स्तस्मां इन्द्राय हविराजुहोतीति। १०।४०।१५ दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया मनसैवानुद्रष्टव्य इत्यादि श्रुतेः। १०।४२।३२-३३ तथाच श्रुतिः अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेतीति य उदगान्महतोऽर्णवात् विभ्राजमानः सलिलस्य मध्यात्। स मा वृषभो-लोहिताक्षः सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनात्विविति च। १०।६०।३८ एतस्य वानन्द-स्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेः। १०।७०।५ सदेव सोम्येद मग्र आसीदित्यादि श्रुतेः। विज्ञानमानन्द मित्यादि श्रुतेः। १०।७४।२१ ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति श्रुतेः॥ १०।८४।२६ यावतीर्वैदेवता स्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्तीति श्रुतेः॥ १०।८४।३७ न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुरिति श्रुतिः॥ १०।८४।३६ जायमानो वै ब्राह्मण स्त्रिभि ऋणैऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इत्यादि॥ १०।८५।७ न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति च॥

१०।८७।२ यः सर्वज्ञः सर्ववित्। यस्य ज्ञानमयं तपः सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तर सोऽकामयत वहुस्याम्। स ऐक्षत, तत्तेजो असृजत, सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म। १०।८७।१४ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देव मात्मवुद्धिप्रकाशं मुमुक्षु वैं शरणमहं प्रपद्ये। य आत्मनि तिष्ठन्। सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म, य सर्वज्ञः सर्वविद्॥ १०।८७।१५ यत इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा अग्नि मूर्द्धाः दिव। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यं सर्वंखलु इदं ब्रह्म॥ १०।८७।१६ तद् यथा पुष्कर पलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवं एवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते। न कर्मणा लिप्यते पापकेन। तत् सुकृत दुष्कृते विधुनुतं एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम् किमहं पाप मकरवम्॥ १०।८७।१७ असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महतो जनाः न चेद् अवेदीन्महतीं विनष्टिः ये तद्विदु रमृतास्ते भवन्त्यथेरेत दुःखमेवोपयन्ती। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा॥ १०।८७।१८ ब्रह्म है वै ता, इत उर्द्ध त्वेवोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयत। शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्धमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ न्या उत्क्रमणे भवन्तीति॥ १०।८७।१६ एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः। सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः, सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलोनिर्गुणश्च १०।८७।२० स यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये स एक स्तत्त्वमसोत्याद्याः

श्रुतयः। यस्य देवे पराभक्ति यंथा देवे तथागुरौ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रका–
शन्ते महात्मनऽत्याद्याः श्रुतयः॥ १०।८७।२१ यं सर्वेदेवा नमन्ति मुमुक्षवो
ब्रह्मवादिनश्च। १०।८७।२२ आरामस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति कश्चन॥
न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं वभूव नीहारेण प्रावृता जल्प्या
श्चासुतृप उक्थशासश्चरन्तीत्याद्याः श्रुतयः॥ १०।८७।२३ आत्मा वा अरे
द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः॥ १०।८७।२४ यतो वाचो निवर्त्तन्ते
अप्राप्य मनसा सह को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग्देवा अस्य विसर्ज्जनेनाथा को वेद ययाआवभूव। अनेजदेकं मनसो–
जवीयो नैतद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो
मातरिश्वा दधातीत्याद्या श्रुतयः। नतं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माक
मन्तरं वभूव। १०।८७।२५ स देव सौम्येदमग्र आसीत्। ब्रह्म वसन् ब्रह्माप्येति
अनीशया शोचति मुह्यमानः अविद्याया मन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः
पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना
यथान्धाः। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म,। एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः
एकधावहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ १०।८७।२६ असतोऽधिमनोऽसृजत।
मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत, तद्वा इदं मनस्येव परमं
प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्चेति॥ १०।८७।२७ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, नेह नानास्ति
किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेवपश्यति, तस्य वाक् तन्ति
र्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामभि र्दामभिः सर्वं सितम्। देहान्ते
देव परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे। यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः, यस्य देवे पराभक्तिः
१०।८७।२८ अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः स वेत्ति
वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्। भीषास्माद्वात पवते
भीषोदेति सूर्य्यः। भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्य र्धावति पञ्चमः॥ १०।८७।२९
यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मनः सर्वेप्राणाः सर्वेलोकाः
सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति॥ १०।८७।३० यदि
मन्यसे सुवेदेति दह्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्या देवेषु
१०।८७।३१ अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णं वह्वीः प्रजा जनयन्तीं स्वरूपाः अजो
ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। तस्माद्वा एतस्माद्
आत्मन आकाशः सम्भूतः, सोऽकामयत वहुस्याम् प्रजायेय। यथा सौम्य मधु
मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां सङ्गम–
यन्ति। यथा तत्र न विवेकंलभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य
रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति
सम्पद्यामह इति॥ १०।८७।३२ परीत्य भूतानि लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो
दिशश्च उपस्थाय प्रथमजा मृतस्यात्मानात्मानमभि संविवेश॥ १०।८७।३३

तद् विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित् पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम् ।आचार्यं वान् पुरुषोवेद । नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥ १०।८७।३४ परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणोनिर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । १०।८७।३५ श्रोतव्यो मन्तव्यः । १०।८७।३५ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति, अपामसोमममृता अभूम । तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः १०।८७।३७ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम् यथा सौम्यै केन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । यथा एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात् यथा एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसमित्यादि । १०।८७।३८ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् । १०।८७।३९ न चेह परत्र च सुखं लभन्ते केवलं कुयोनिरेव प्राप्नुवन्ति । तान् शोचन् कामान् यः कामयते मन्यमानः ह कर्मभि र्जायते तत्र तत्र ॥ १०।८७।४० एषो नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयानित्यादि । १०।८७।४१ यदूर्द्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं भवच्च भविष्यच्चेत्यादि श्रुतेः । अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि, अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अस्थूलमनणु इत्यादि श्रुतिः ॥ ११।३।३६ प्राणस्यप्राणमुतश्चक्षुषश्चक्षुरुतश्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्य अन्नं मनसो ये मनो विदुः । यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्यादि श्रुते. । तंत्वौपनिषदं पृच्छामि श्रुतिः । यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेत्यादि श्रुतेः । यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वंविद्धि यन्मनो न मनुते न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनमित्यादि श्रुतेः । ११।३।३९यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तद् द्रष्टव्यं न पश्यति नहि द्रष्ठु र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ॥ ११।३।४४ तं वा एतं चतुर्हूतं सन्तं, चतुर्होतेत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षा प्रिया हि देवाः । ११।३।४५ मृता पुन र्मृत्युमापद्यन्ते अर्द्यमानाः स्व कर्मभिः ॥ ११।३।४६ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेनेति । स्वर्गकामो यजेत । ११।४।२ विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवादि विममे रजांसि ॥ ११।५।६ अपामसोमममृता अभूम । अक्षय्यं हवै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति ॥ ११।५।११ ऋतौ भार्यामुपेयात् सौत्रामण्यां सुराग्रहान्

गृह्णातीति इमामगृभ्नन् रशनामृतस्य । ११।५।१३ वायव्यं श्वेतमालभेत ॥ ११।५।१८। असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः । ११।६।१६ चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूत स्तरति दुष्कृतानि; तेन पवित्रेण शुद्धेन पुता अतिपाप्मानमराति तरेम लोकस्य द्वार मर्च्चिमत् पवित्रम् ज्योतिष्मद् भ्राजमानंमहस्वत् अमृतस्य धारा बहुधा दोह मानम् । चरणं नो लोके सुधितां दधातु । ११।६।१५ अक्षरात् परतः परः महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः । ११।७।१० तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवतीति । ११।९।२० वायुर्वैगौतम सूत्रं वायुनावै गौतम सूत्रेणायञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सं दृब्धानीति श्रुतेः ॥ ११।९।२८ श्रुतिश्च पुरुषत्वे च विस्तरादात्मेत्यादिः तथा ताभ्यो गामानयत् ता अब्रुवन् न वै नोऽय मलमिति ताभ्योऽश्वमानयत् ता अब्रुवन् सुकृतंवतेति च । ११।१०।११ तथाच श्रुतिः आचार्यः पूर्वरूपम् अन्तेवास्युत्तर रूपम् विद्यासन्धिःप्रवचनं सन्धानमिति ११।१०।३० भीषास्माद् वातः पवेत भीषोदेति सूर्य्यः भीषास्माद् अग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । ११।११।६। श्रुतिश्च द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन् अन्यो अभिचाकशीतीति उर्द्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति । ११।१२।१७ तथाच श्रुतिः चत्वारि वाक् परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहायांत्रीणि निहि तानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति ॥ ११।१३।२३ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । ११।१३।३७ तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्य इति । ११।१३।३८ यज्ञो वै विष्णुः इति श्रुतेः ॥ ११।१४।२६ ब्रह्मविद् आप्नोति परम् तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । १२।१५।३६ एष त आत्मान्तर्याम्यमृत इति श्रुतेः ॥ ११।१६।१७। नेह नानास्ति किञ्चन ११।२१ २७ कश्चिद्वा वा अस्माल्लोकात् प्रेत्य आत्मानं वेद अयमहमस्मीति कश्चित् स्वं लोकं न प्रतिजानाति अग्निमुग्धो हैव धूमतान्त इति ॥ ११।२१।२८ न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्याचासुतृप उक्थशासश्चरन्तीति ॥ ११।२१।३६ तथाच श्रुतिः चत्वारि वाक् परिमितानि पदानि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । ११।२३।४२ मनसा ह्येव पश्यति शृणोत्याद्याः श्रुतयः । ११।२३।४७ तथाच श्रुतिः मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय । भीष्मोहि देवः सहसः सहीया निति । ११।२७।२२ यो वेदादौ स्वयं प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः तस्य प्रकृति लीनस्य यः परः स महेश्वर इति श्रुतिः । ११।२७।३१ स्वर्ण वर्म्मानुवाकः

सुवर्णं घर्म्मं परिवेदवेनम् पौरुषं सूक्तं सरस्त्रशीर्षेत्यादि इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्त इत्यस्या मृचि गीतानि । ११।२८। २० तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति, तथा चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुरित्यादि श्रुतेश्च ॥ ११।२६।२१ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादि श्रुतेः । ११।२६।२६ यस्मात् तदेषां न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युरिति । ११।२६।३५ यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसासहेति । केनेशितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति, श्रोत्रस्यास्य श्रोत्रं यन्मनसो मनो मद्वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षु रिति । ११।२६।३६ नेह नानास्ति किञ्चन् । इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते । युक्ता ह्यस्य हरयः शत्या दशेत्यादि श्रुतेः ॥ १२।११।१३ प्राणो वै मुख्य इति श्रुतेः ।

देवं गदाधरं नत्वा गौरचन्द्रसमन्वितम् ।
टीकास्थश्रुतिवाक्यानां सङ्कलनं कृतं मया ॥
भूदेवान्वयजातेन भृगर्भान्वियवर्त्तिना ।
विदुषा हरिदासेन वृन्दारण्यनिवासिना ॥

——:**:——



❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋

—:❋❋:—

❋ ब्रह्मसूत्राधिकरणमालिका ❋

—:❋❋:—

सूत्रसंख्या		अधिकरण संख्या
१	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा···	जिज्ञासाधिकरणम् १
२	जन्माद्यस्य यतः···	जन्माद्यधिकरणम् २
३	शास्त्रयोनित्वात्···	शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ३
४	तत्तुसमन्वयात्···	समन्वयाधिकरणम् ४
५	ईक्षतेर्नाशब्दम्····	ईक्षत्यधिकरणम् ५
१२	आनन्दमयोऽभ्यासात्···	आनन्दमयाधिकरणम् ६
२०	अन्तस्तद्धर्म्मोपदेशात्···	अन्तरधिकरणम् ७
२२	आकाशस्तल्लिङ्गात्···	आकाशाधिकरणम् ८
२३	अतएवप्राणः···	प्राणाधिकरणम् ९
२४	ज्योतिश्चरणाभिधानात्···	ज्योतिरधिकरणम् १०
२८	प्राणस्तथानुगमात्···	इन्द्रप्रतर्दनाधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—❋❋—

अथ ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

——

१	सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्···	सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरणम् १
९	अत्ताचराचरग्रहणात्···	अत्ताधिकरणम् २
११	गुहांप्रविष्ठावात्मानौ हि तद्दर्शनात्···	गुहाधिकरणम् ३
१३	अन्तर उपपत्तेः···	अन्तराधिकरणम् ४
१८	अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म व्यपदेशात्···	अन्तर्याम्यधिकरणम् ५
२१	अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः····	अदृश्यत्वाधिकरणम् ६
२५	वैश्वानरसाधारणशब्दविशेषात्···	वैश्वानराधिकरम् ७

इति ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—❋❋—

अथ तृतीयपादेऽधिरणप्रधानसूत्राणि

इति ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—※—

अथ ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणसूत्राणि ।

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—※—

अथ द्वितीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

—※—

अथद्वितीयेऽध्याये ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

——

इति ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—※—

अथ द्वितीयेध्याये ब्रह्मसूत्रेतृतीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

——

इति ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—※—

अथ द्वितीयोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।

अथ तृतीऽयेध्याये ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

---

१ तदनन्तरप्रतिपत्तौरंहतिसम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्यां ·· तदनन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् १
८ कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्याम्··· कृतात्ययाधिकरणम् २
१४ संयमनेत्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौतद्गतिदर्शनात्··· संयमनाधिकरणम् ३
२३ तत्स्वाभाव्यापत्तिरूपपत्तेः··· तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ४
२४ नातिचिरेण विशेषात्···· नातिचिराधिकरणम् ५
२५ अन्याधिष्ठितेपूर्व्ववदभिलापात्··· अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ६

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।



अथतृतीयेऽध्यायेब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

---

१ सन्ध्ये सृष्टिराह हि··· सन्ध्यधिकरणम् १
४ सूचकश्चहिश्रुतेराचक्षतेचतद्विद्··· स्वप्नाधिकरणम् २
६ देहयोगाद्वासोऽपि··· देहयोगाधिकरणम् ३
७ तदाभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च··· तदभावाधिकरणम् ४
९ स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः··· कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ५
१० मुग्धेऽर्द्धसंप्राप्तिःपरिशेषात् मुग्धाधिकरणम् ६
११ न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि··· उभयलिङ्गाधिकरणम् ७
१४ अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात्···· अरूपवदाधिकरणम् ८
१८ अतएवचोपमासूर्य्यकादिवत्··· उपमाधिकरणम् ९
२३ तदव्यक्तमाह हि ·· अव्यक्ताधिकरणम् १०
२४ अपिसंरोधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्··· संरोधनाधिकरणम् ११
२८ उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्··· अहिकुण्डलाधिकरणम् १२
३२ परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः··· पराधिकरणम् १३
३५ स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ·· स्थानविशेषाधिकरणम् १४
३७ तथान्यप्रतिषेधात् ·· अन्यप्रतिषेधाधिकरणम् १५
३८ अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः··· सर्वगतत्वाधिकरणम् १६
३९ फलमतउपपत्ते··· फलाधिकरणम् १७

इति ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि ।



अथ तृतीयेऽध्याये ब्रह्मसूत्रेतृतीयेपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

इति ब्रह्मसूत्रे तृतीयपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—✻✻—

अथ तृतीयेऽध्याये ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकणप्रधानसूत्राणि

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—✻✻—

अथ चतुर्थोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

३ आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च···	आत्मत्वोपासनाधिकरणम् २
४ न प्रतीके न हि सः···	प्रतीकाधिकरणम् ३
५ ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्···	ब्रह्मदृष्ट्याधिकरणम् ४
६ आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः···	आदित्यादिमत्यधिकरणम् ५
७ आसीनः सम्भवात्···	आसीनाधिकरणम् ६
११ यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्···	एकाग्रताधिकरणम् ७
१२ आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्···	आप्रायणाधिकरणम् ८
१३ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्····	तदधिगमाधिकरणम् ९
१४ इतरस्याप्येवमसंलेषः पाते तु···	इतराधिकरणम् १०
१५ अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः···	अनारब्धाधिकरणम् ११
१६ अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात्···	अग्निहोत्राद्यधिकरणम् १२
१७ अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः···	निरपेक्षाधिकरणम् १३

इति ब्रह्मसूत्रे प्रथमपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—*—

अथ चतुर्थोऽध्याये ब्रह्मसूत्रे द्वितीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

——

१ वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च···	वागाधिकरणम् १
३ तन्मनः प्राण उत्तरात्···	मनोऽधिकरणम् २
४ सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः····	अध्यक्षाधिकरणम् ३
५ भूतेषु तच्छ्रुतेः···	भूताधिकरणम् ४
७ समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य···	आमृत्युपक्रमाधिकरणम् ५
१५ तानि परे तथाह्याह	वागादिलयाधिकरणम् ६
१६ अविभागे वचनात्	अविभागाधिकरणम् ७
१७ तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया	तदकोधिकरणम् ८
१८ रश्म्यनुसारी	रश्म्यधिकरणम् ९
२० अतश्चायनेऽपि दक्षिणे	दक्षिणायनाधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—*—

अथ ब्रह्मसूत्रे चतुर्थोऽध्याये तृतीयपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

——

१ अर्च्चिरादिना तत्प्रथितेः	अर्च्चिराद्यधिकरणम् १

२ वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्··· वाय्वधिकरणम् २
३ तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात्··· वरुणाधिकरणम् ३
४ आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्··· आतिवाहिकाधिकरणम् ४
६ वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः··· वैद्युताधिकरणम् ५
७ कार्य्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः··· कार्य्याधिकरणम् ६
१० कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्··· कार्य्यात्ययाधिकरणम् ७
१५ अप्रतीकालम्बनान्नयतीतिवादरायण उभयथाच दोषात्तत्क्रतुश्च... अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ८
१६ विशेषञ्चदर्शयति··· विशेषाधिकरणम् ९

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि।

—*—

अथ चतुर्थेऽध्याये ब्रह्मसूत्रेचतुर्थपादेऽधिकरणप्रधानसूत्राणि

——

१ संपद्याविर्भावःस्वेनशब्दात्··· संपद्याविर्भावाधिकरणम् १
२ मुक्तः प्रतिज्ञानात्··· मुक्ताधिकरणम् २
३ आत्मा प्रकरणात्··· आत्माधिकरणम् ३
४ अविभागेन दृष्टत्वात्···· अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ४
५ ब्राह्मेणजैमिनिरुपन्यासादिभ्यः··· ब्राह्माधिकरणम ५
८ सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः··· सङ्कल्पाधिकरणम् ६
९ अतएवचानन्याधिपतिः··· अनन्याधिपत्यधिकरणम् ७
१३ तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः··· तन्वभावाधिकरणम् ८
१५ प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति··· प्रदीपाधिकरणम् ९
१७ जगद्व्यापारवर्जंप्रकरणादसन्निहितत्वात्··· जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् १०
२२ अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्··· अनावृत्त्यधिकरणम् ११

इति ब्रह्मसूत्रे चतुर्थेऽध्याये चतुर्थपादेऽधिकरणानि समाप्तानि

—*—

अथ ब्रह्मसूत्रपाठेऽध्यायसंख्या

अथ तत्तदध्यायपादसूत्रसंख्या

अध्याये	१पादे	२पादे	३पादे	४पादे	अध्यायसंकलितानि
प्रथमे	३१	३३	४३	२८	१३५
द्वितीये	३७	४५	५१	२२	१५५

तृतीये	२८	४२	६८	५२	१९०
चतुर्थे	१९	२१	१६	२२	७८

अध्यायचतुष्के संकलितानि सूत्राणि···५५८

—*—

तत्तदध्यायपादाधिकरणसंख्या

अध्याये	१पादे	२पादे	३पादे	४पादे	अध्यायसंकलितानि
प्रथमे	११	७	११	८	३७
द्वितीये	१५	८	१९	११	५३
तृतीये	६	१७	३३	१६	७२
चतुर्थे	१३	१०	९	११	४३

अध्यायचतुष्के संकलितान्यधिकरणानि २०५

अध्यायचतुष्केऽधिकरणप्रधानसूत्राणि···२०५ गौणसूत्राणिच ३५३

—:**:—

पारायणविधिः—

द्वैपायनं नमस्कृत्य शुकदेवञ्च भक्तितः
हिरण्याक्ष वधं यावत् प्रथमेऽह्नि प्रकीर्त्तयेत् ॥
चरितं भरतस्यापि द्वितीयेऽथ तृतीयके
समुद्रमथनं यावद् यत्र कूर्म्मः स्वयं हरिः ।
चतुर्थे दिवसे चैव दशमे हरि जन्म च
पञ्चमेऽह्नि पठेद् विद्वान् रुक्मिण्या हरणावधि
षष्ठे चोद्धव संवादं सप्तमे हि समापयेत् ॥

****

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता
श्रीमद् भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थोमहान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

प्रकाशक * मुद्रक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीहरिदासनिबास

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस

कालीदह वृन्दाबन।

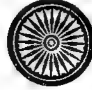
जिला—मथुरा। उत्तर प्रदेश



प्रकाशनतिथि :—

श्रीगोवर्द्धनपूजा २१।१०।७६

रविवार प्रतिपद्



प्रथम संस्करण ४०० प्रति

प्रकाशन सहायता २०.०० विंशतिमुद्रा





पृष्ठ संख्या :—

विज्ञप्ति :—	१४
श्रुतिसंग्रह :—	६
ब्रह्मसूत्राधिकरणमालिका :—	१०
ग्रन्थ :—	३७६
समष्टि:	४०६

* श्रीश्री गौरगदाधराभ्यां नमः *

वेदान्त-दर्शनम्

श्रीमद्भागवतभाष्यसमन्वितम्

प्रथमाध्यायस्य

प्रथमपादः

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१

हरिदास समाख्येन वृन्दावन निवासिना।
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणामित्युक्तिश्च प्रदर्श्यते॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
धमस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

धर्म-सर्वाङ्ग-सुन्दर-रूप से अनुष्ठित होने पर भी यदि श्रीगोविन्द-नाम-गुण-रूप-लीलादि विषयक कथा में रुचि नहीं होती है तव वह धर्मानुष्ठान पण्डश्रममात्र ही होगा।

श्रीभगवान् से ही वर्ण व आश्रम की उत्पत्ति हुई है। वर्णाश्रम धर्म का लक्ष्य श्रीभगवान ही है, किन्तु लक्ष्य श्रेष्ठ होने से जीव कृतार्थ नहीं होता श्रीभगवान के प्रति प्रीति ही मौलिक धर्म है। श्रीभगवत प्रीति के साथ धर्माचरण करने से ही धर्म सिद्ध होता है, अन्यथा मरुभूमि में वीज वपन को भांति वह निष्फल होता है।

मोक्ष साधक धर्म का फल अर्थ. अर्थ का फल काम, काम का फल इन्द्रिय प्रीति नहीं है, धर्म, अर्थ, व काम के द्वारा जीवित रहकर केवल तत्त्व जिज्ञासा ही कर्त्तव्य है, कर्म लब्ध स्वर्गादि श्रेष्ठ फल नहीं है। तत्त्वज्ञगण

वदन्ति तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

भा० १।२।७–११

सत्यं परं धीमहि ॥१।१।१

जन्माद्यस्य यतः ॥१।१।२॥

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ।
तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ॥
तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा ।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥ १।१।१

शास्त्रयोनित्वात् ॥१।१।३॥

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्र योनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नम ॥ १०।१६।४४॥

अद्वितीय सच्चिदानन्द वस्तु को ही तत्त्व कहते हैं, उक्त तत्त्व वस्तु को ज्ञानिगण ब्रह्म, योगिगण परमात्मा, एवं भक्तगण भगवान् शब्द से कहते हैं।

परम सत्यवस्तु श्रीगोविन्द को हमसब ध्यान करते हैं। ध्यान ही जिज्ञासा का एकमात्र फल है।

जिनसे इस विश्व की सृष्टि, स्थिति, लय, रूप, कार्य होते हैं, घटपटादि कार्य में व आकाशकुसुमादि अकार्य में जिनकी उपलब्धि सद्, असद् रूप से होती है जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, जिन्होंने देवताओंके दुर्वोध्यवेदों को अन्तर्यामी रूप से आदिकवि ब्रह्मा के हृदय में संचार किया था, मरीचिकादि में जलादि भ्रम के समान जिनमें अधिष्ठित मायिक सृष्टि भी सत्य रूप से प्रतिभात होती है, स्वप्रभाव से माया कपट निरसनकारी उन परमेश्वर को हम सब ध्यान करें।

श्रीहरि अनुमेय नहीं हैं, आप अनावृत हैं, चक्षुरादि निखिल प्रमाणों के प्रमाण स्वरूप आप हैं। आप स्वयं निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप हैं अर्थात उन प्रमाणों की अपेक्षा आपके ज्ञान के लिए नहीं है, कारण आप बेदात्मक निश्वास स्वरूप हैं। प्रवृत्ति–निवृत्यात्मक वेदस्वरूप भी आप ही हैं, आपको बारंवार प्रणाम है।

तत्तु समन्वयात् ॥१।१।४॥

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च ॥ १।१।१॥

ईक्षते र्नाशब्दम् ॥१।१।५॥

अर्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ॥१।१॥

तु शब्द शङ्काच्छेदार्थ है, सर्व वेदवेद्यत्वं श्रीविष्णुका ही है, क्योंकिसमस्त वेदों का समन्वय श्रीविष्णु में ही है। उन परम सत्य परमेश्वर की परमैश्वर्य लीला का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं– अपर कोई भी वस्तु ध्येय नहीं है,कारण यह वस्तु घट में मृत्तिका के समान इस जगत् में अन्वयव्यतिरेक से स्थित है। मृत्तिका में घट का व्यतिरेक केसमान यह जगत् का उपादान कारणभी है,चकार से यह निमित्त कारण भी है, काल उन सत्य वस्तु का ही प्रभाव रूप है अथवा अन्वयात् प्रलय में परमेश्वर में विश्व का अनुप्रवेश होने के कारण इतरतश्च सृष्टि काल में उनसे विभाग होने के कारण वह ब्रह्म ही वेद प्रतिपाद्य है। पृथ्वी में जल के समान जल का तेज के समान वह अधिष्ठान कारण है।

अथवा कारण रूप से जिनसे अनुप्रवेश होने के कारण जन्म–कर्म फल दाता रूप से जिनसे अनुप्रवेश होने के कारण विश्व की स्थिति होती है, संहारक रुद्ररूप से अनुप्रवेश होने के कारण जिनसे विश्व का नाश होता है, वह वेद वाच्य है, यहाँ पर कारण का कार्य में समन्वित होना ही कार्य में अनुप्रवेश है।

उनका कार्य विश्व उनका स्वरूप नहीं है, इसका निषेध प्रकट करते हुए कहते हैं, इतरतः– सृज्य, पाल्य, संहार्य रूप विश्व से स्वरूप शक्ति के द्वारा भिन्न होने के कारण–च–कार से माया शक्ति के द्वारा विश्व से अभिन्न होने के कारण वह ब्रह्म वेद प्रतिपाद्य है।

विश्व का उपादान परमेश्वर होने से उनमें विकार अवश्यंभावी है, इसलिए प्रकृति को इस विश्व का उपादान कहना उचित है। परमेश्वर निमित्त कारण हो, ऐसी शंका मनोरमा नहीं है, क्योंकि यः सर्वज्ञः, सर्वविद्, स ईक्षत लोकानुसृजा, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेत्यादि श्रुतियों से चेतन का ही जगत् कारणत्व प्रतिपादित हुआ। अतः परमेश्वर ही जगत् का निमित्त उपादान कारण है। प्रकृति उनकी (परमेश्वरकी) शक्ति होने के कारण शक्तिशक्तिमान् में अभेद दृष्टि से प्रकृति के द्वारा ही उनकी उपादान कारणता है। परमेश्वर स्वरूप में प्रकृति से अतीत होने के कारण स्वयं निर्विकार है, प्रकृति की स्वातन्त्र्येण उपादानता ही शाश्वत सिद्धान्त है, इसलिए परमेश्वर सर्वज्ञ ही है, एवं स्वतन्त्र रूप से जगत् कारण कहलाते हैं। जड़ा प्रकृति उक्त स्वरूपाक्रान्त नहीं है। अर्थेषु–सृज्य–असृज्य वस्तुमात्र में जो अभिज्ञ है, वह जगत् कारण है।

गौणश्चेन्नात्म शब्दात् ॥१।१।६॥

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥१।१।७॥

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृते परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥१०।८८।५॥

हेयत्त्ववचनाच्च ॥१।१।८॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृते र्गुणास्तै-
र्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः
श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो नृणां स्युः ॥१।२।२३॥

प्रकरण प्राप्त वह ब्रह्म जगत् कारण है, कारण-ईक्षतेः-जगत् कारण-प्रतिपादक श्रुतिवाक्य में उन परमेश्वर का ही विचार विशेषात्मक ईक्षण शब्द दृष्ट होता है इसलिए ब्रह्म अशब्द नहीं है। अशब्द प्रमाण नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही शब्द-प्रमाणक है। इस प्रकरण में श्रुति निम्नोक्त रूप है-तदैक्षत बहुस्यामिति, सदेव सौम्येदमग्रमासीदिति। आत्मा वा इदमेक अग्र आसीदिति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः शम्भूत इति। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥

वेद वाच्य ब्रह्म होने पर वह सगुण है। उस गृहीतशक्ति वेद समूह, शुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म में वाच्य सम्बन्ध युक्त लक्षण शक्ति के द्वारा पर्यवसित हो, इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं-ब्रह्म वेद का वाच्य होने पर भी सगुण नहीं है। सृष्टि के पहले सृष्टिकर्त्ता पुरुष को आत्मशब्द से अभिहित किया गया है, उस शब्द की पूर्ण ब्रह्म में मुख्यावृत्ति है, यह बात "जन्माद्यस्य" सूत्र में कही गई है ज्ञानीगण अद्वय ज्ञानतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द से कहते हैं।

प्रपञ्चातीत वेद वाच्य विश्वकर्त्ता परमात्मा में परिनिष्ठित व्यक्ति की मुक्ति होती है, वह गौण होने से उनके भक्तों का मोक्ष कथन नहीं होता। साक्षात् श्रीहरिही प्रकृति से पर है, निर्गुण, साक्षीरूप सर्वद्रष्टा है। जीव भी उनका भजन करने से निर्गुण होता है।

यदि वह जगत्कर्त्ता ब्रह्म गौण होता, तव साधन उपदेश देने वाले वेदान्त वाक्य समूह स्त्री, पुरुष के समान हेयत्व उनका हेयत्व वर्णन करते। किन्तु ऐसा

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनुतानिह ॥१।२।२५॥
मुमुक्षवो घोर रूपां हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायण कलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥१।१।१६॥

स्वाप्ययात् ॥१।१।६॥

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्म मायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्या गुणोविभुः ॥
तया बिलसितष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥
यथा ह्यवहितो वह्नि दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तया पुमान् ॥

नहीं है, जितने भी उपास्य हैं उनमें से श्रीहरिभजन से ही शुभफल समूह होते हैं, क्योंकि श्रीहरि सत्त्वतनु हैं, अतएव सुप्राचीन काल से शिष्टवर्ग विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति भगवान अधोक्षज का भजन करते हैं और इन सबों के अनुयायी भी मोक्ष प्राप्त करते हैं। मुमुक्षुगण देवतान्तर की निन्दा को छोड़कर घोररूप भूतपतिवर्ग को छोड़कर श्रीहरि का ही भजन करते हैं।

वाजसनेयक श्रुति में कथित है–यह मूलरूप ब्रह्म परिपूर्ण है, प्रकाश रूप ब्रह्म भी परिपूर्ण है, पूर्ण से ही पूर्ण प्रकाश होता है, पूर्ण से पूर्ण लेने पर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। पूर्ण वस्तु का अभिधान आप में रहने के कारण पूर्णब्रह्म शब्दवाच्यत्व है, यदि ब्रह्म सगुण होता तो परवस्तु में लय होना कहा जाता, सुतरां तादृश अपूर्ण वस्तु पूर्ण शब्द से कथित नहीं होती। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है–अदः,मूल रूप, इदं, प्रकाश रूप, उभय ही पूर्ण है। परिपूर्ण वस्तु से परिपूर्ण का आविर्भाव तथा परिपूर्ण रूप से स्थिति भी होती है।

लीला के द्वारा उक्त वाक्यार्थ प्रकट करते हैं, विभु–स्वयं निर्लिप्त होकर भी गुणमयी कार्य कारणात्मिका स्वीय बहिरङ्गा माया शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं।

इस प्रकार भगवान् की जगत् कारणता प्रदर्शित हुई। प्रवेश व नियमन स्वरूप लीला भी कहते हैं– शक्ति परिणाम के द्वारा समस्त वस्तु सृष्ट होने के बाद उत्पन्न आकाशादि वस्तुओं में अन्त प्रविष्ट होकर यह सब गुण मेरा ही है ऐसे अभिमानी के समान होकर रहते हैं, वस्तुतः आपका ऐसा अभिमान नहीं होता

असौ गुणमयै र्भावै र्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः ।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद् गुणान् ।।
भावयत्येय सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः ।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ् नरादिषु ।।१।२।३०-३४।।

गति सामान्यात् ।।१।१।१०।।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपरा क्रियाः ।।

क्योंकि आप विज्ञान रूप चित्शक्ति में महीयान् होकर रहते हैं।

बहु रूपत्व लीला भी प्रदर्शित हुई। जैसे एक अनल काष्ठ में प्रविष्ट होकर अनेक रूप में प्रकटित होती है, वैसे विश्वात्मा भगवान् स्वाभिव्यंजक समस्त प्राणियों में क्षेत्रज्ञ रूप में अनेक प्रकार से अवस्थान करते हैं।

भोगरूप लीला को भी कहते हैं:–

उक्त श्रीहरि भूतसूक्ष्म, इन्द्रिय, आत्मा, मन प्रभृति के द्वारा स्वयं निर्मित भूतों में स्वतन्त्र रूप में भोग करते हैं। इन्द्रियों के अनुरूप विषय समूह को इच्छा–पूर्वक भोग करते हैं।

सर्व अवतार साधारण प्रयोजन भी कहते हैं– लोकभावन लोककर्त्ता श्रीहरि देवादियों में लीला अवतार रूप में अनुरक्त होकर समस्त लोकों का पालन करते हैं

चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्ट साहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।।१०।६९।२
रासोत्सव संप्रवृत्तो गोपी मण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ।
यं मन्येरन्" १०।३३।३।।

यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि एक ही श्रीकृष्ण एक ही शरीर में एक ही समय में षोडश सहस्र कन्याओं का पृथक् पृथक् गृह में जाकर विवाह किया था।

गोपीकुल परिवृत रासोत्सव आरम्भ हुआ। श्रीकृष्ण मण्डलाकार में स्थित दो–दो गोपियों के मध्य में प्रविष्ट हो गये, उभय पार्श्व में आलिङ्गित गोपियां श्रीकृष्ण अपने–अपने समीप में स्थित हैं, ऐसे मानने लगीं।

वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।

वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥१।२।२८-२९॥

श्रुतत्वाच्च ॥१।१।११॥

ब्रह्मन् ब्रह्मण्य निर्देशे निर्गुणे गुणवृत्तयः ।

कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥

बुद्धेन्द्रिय मनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः ।

मात्राथञ्च भवाथञ्च आत्मने अकल्पनाय च ॥१०।८७।१-२

गति अवगति हैं, विज्ञानघन, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, पूर्ण, विशुद्ध परमात्म। जगद्धेतु व मोक्षप्रद होने के कारण श्रीवासुदेव ही भजनीय हैं। समस्त शास्त्र तात्पर्य गोचर होने के कारण भी श्रीवासुदेव ही भजनोय हैं। वेदादि शास्त्र एकमात्र श्रोवासुदेव का ही वर्णन करते हैं। यज्ञादिपर वेदादि शास्त्र भो श्री वासुदेव की आराधना तात्पर्य से वर्णित है।

योगादि शास्त्र भीश्रीवासुदेव की प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हैं। ज्ञानशास्त्र भी श्रीवासुदेव को अवगत होने का विवरण वर्णन करते हैं। तप शब्द का अर्थ भी ज्ञान है, धर्मशास्त्र दानव्रतादि धर्म समस्त वासुदेव की प्राप्ति के उपाय का प्रदर्शन करते हैं, कारण श्रीवासुदेव ही एकमात्र आश्रय है।

अन्त के पूर्वाध्याय के "उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारावतीमगात्" इस वाक्य में सन्मार्ग शब्द से वेदमार्ग को,जोकि ब्रह्म पर है, कहकर श्रीकृष्णचन्द्र द्वारका चले गये। यहाँ पर संशय होता है कि वेद निर्गुण ब्रह्म को कैसे प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म निर्गुण है, अतः शब्द की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। परीक्षित् ने कहा—हे ब्रह्मन् अनिर्देश्य,निर्गुण,कार्यकारणातीत ब्रह्म की गुणवृत्ति श्रुतिगण कैसे वर्णन कर सकती हैं ? उत्तर में श्रीशुकदेव ने कहा—

स्वाभाविक सर्वशक्तिमान् प्रभु ने जीवों के बुद्धि–इन्द्रिय,मन,प्राणों का सृजन किया है। इन सबों के द्वारा जीवगण विषयग्रहण,जन्मग्रहणात्मककर्म लोकान्तर के विषय गहण रम्यकर्म एवं मुक्ति के लिए कर्म कर सकते हैं। ईश्वर स्वाभाविक स्वराट् है, उनकी मायावश्यता नहीं है,न तो आप निःशक्तिक ही हैं,अतएव प्राकृत गुणों से अनभिभूत नित्यगुणपूर्ण सर्वज्ञ,सर्वशक्ति,सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वोपास्य, सर्वकर्मफलदाता, समस्तकल्याणगुणनिलय,सच्चिदानन्द भगवान् को श्रुतिगण साक्षात् वर्णन करती हैं। वे सब श्रुतियां निम्नोक्त प्रकार हैं– यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः, सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरः, सोऽकामयत बहुस्याम्, स ऐक्षत, तत्तेजोऽसृजत

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१।१।१२॥

दृतय इव स्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा ।
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ॥
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः ।
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१०।८७।१७॥

सत्यं ज्ञानमनन्तम् इत्यादि ।

आनन्दमय वस्तु परब्रह्म ही है,किस कारण से ? अभ्यास से । "शुद्ध जीव ही अन्नमयादि कोषों की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय है ।" इस प्रकार उपदेश के द्वारा उन सबका भी अन्तर्वर्त्ती आनन्दमय पुरुष का निर्देश करते हैं और कहते हैं– जो आनन्दमय ब्रह्म का अस्तित्व अनुभव करता है उसका ही अस्तित्व सिद्ध होता है, और जो नहीं करता है उसका अपना अस्तित्व असिद्ध है । यहाँ ब्रह्म को आनन्दमय पुरुष से बारबार उक्ति के कारण आनन्दमय शब्द से ब्रह्म को ही जानना चाहिए । श्रीभागवत में कहा है– असुभृत नरगण यदि श्रीहरि के अनुवर्त्ती होते हैं तो उन सबका जीवन सफल होता है अन्यथा भस्त्रा के समान वृथाश्वास के होते हैं ।

यदि कहो, अभक्तगण भी कामादि सेवन से जीवन को सफल बनाते हैं? इस प्रकार कहा नहीं जा सकता, क्योंकि आपके अभजन से लोक कृतघ्न होते हैं और कृतघ्नों को कामादि सुख भी नहीं मिलता है, क्योंकि महान् अहंकारादि तत्त्व जिनके अनुग्रह से शक्तिमान् होकर शरीरादि का सृजन करते हैं और पञ्चकोशों को भी अन्नमयादि के द्वारा तत्तद् आकार प्राप्त होकर श्रीहरि ही उन सबको प्रेरण करते रहते हैं । वह ही पुरुषविध है, पुरुष अन्न–मयादि के आकार के समान आकार है । यदि कहो, चिन्मय वस्तु का तत्तत् आकार होना कैसे सम्भव है ? इसलिए कहते हैं–अन्वयोऽत्रेति अन्नमयादि में आप अनुप्रवेश करते हैं, इसलिए तत्तदाकारता सिद्ध होती है । ऐसा होने पर सत्यत्व, असङ्गतत्व उनका कैसे होगा ? इसलिए कहते हैं– जो श्रीहरि अन्न–मयादि श्रुतिस्थ चरम वाक्य में "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" उक्त है वह आप हैं ।

तथापि उनका असंगतत्व निरास कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं- आप सद्–असत् स्थूल सूक्ष्म अन्नमयादि से पृथक हैं, आप साक्षीस्वरूप हैं । इसकी बाधा नहीं है, अतएव आप ऋत शुद्ध हैं । ऐसा होने पर किसलिए आप उन सब में अन्वित होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है–शाखाचन्द्र की रीति से शुद्ध स्वरूप को अवगत कराना है । 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्येदमेवशिरः, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म पञ्चकोशों का वर्णन करने के बाद पुरुषविध के अन्वय

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।।१।१।१३।।

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णाद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ।।
१०।१४।२३

तद्धेतु व्यपदेशाच्च ।१।१।१४।।

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले ।
प्रपन्न जनतानन्द सन्दोहं प्रथितुं प्रभो ।।१०।१४।३७।।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ।।१।१।१५।।

को कहा गया है। अनन्तर "ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा" इस वाक्य से सर्वसाक्षी शुद्ध स्वरूप का निरूपण हुआ है।

विकार अर्थ में मयट् होता है, यहाँ आनन्दमय शब्द में मयट् प्रत्यय के द्वारा आनन्द का विकार जीव को समझा जाता है, इस प्रकार शंका का निवारण के लिए कहते हैं – किसी-किसी स्थल में मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में होता है, किन्तु यहाँ पर प्राचुर्यार्थ में मयट् है। आनन्द का विकारी जीव आनन्दमय है, ऐसा नहीं हो सकता। अजस्र आनन्द विशिष्ट ब्रह्म ही आनन्द मय है। श्रीभागवत इसी को कहती है–

एक ही आप सत्य हो, कारण आप आत्मा हैं, आप मे जन्मादि विकार भी नहीं हैं, आदि आप हैं, कारण सृष्टि के पहले भी आप ही रहते हैं, कारण आप पुरुष हैं, श्रुति कहती है–"पूर्वमेवाहमिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वमिति"। आप नित्य हैं, अविकारी हैं, सनातन हैं, आप पूर्ण हैं, अजस्र सुख स्वरूप हैं, अक्षरस्वरूप हैं, अमृतस्वरूप हैं; आप अनन्त अद्वय हैं, निरञ्जन हैं एवं उपाधि से भी मुक्त हैं।

"एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः"।

आनन्द शब्द आनन्द के हेतुभूत अर्थ का भी बोध कराता है, यदि ब्रह्म आनन्द का हेतुस्वरूप नहीं होता तो कौन प्राण चेष्टा व अपनी चेष्टा करता है। परमात्मा हरि ही आनन्द का हेतु है, वे जीव को आनन्द प्रदान करते हैं, इत्यादि श्रुति में आनन्ददाता परमात्मा का कथन होने से आनन्दमय शब्द से आनन्दमय ब्रह्म ही समझाता है।

आप निष्प्रपञ्च होने पर भी लोकनयन गोचरीभूत्त होते हैं, क्योंकि प्रपन्न जनता के आनन्द समूह को संबर्द्धन करने के लिए ही आप लीला करते हैं। "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्"।

"सत्यंज्ञानमिति" मन्त्रवर्ण में वर्णित पदों से ब्रह्म का ही बोध होता है,

सत्यंज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योति सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥१०।२८।१५

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१।१।१६॥

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।१।१।१
मयि निबद्ध हृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत् स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥६।४।६६

भेदव्यपदेशात् ॥१।१।१७॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेक धर्मिणि ॥११।११।५।
सुपर्णावितौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥
॥११।११।६॥

वह आनन्दमय है,, जीव आनन्दमय नहीं है। उपास्य उपासक नियम में भी ब्रह्म को ही जीवों का प्राप्य कहा गया है।

वह वस्तु ब्रह्म है, देहादि पिहित वस्तुओं का दर्शन असम्भव है, अतः प्रथम देहादि व्यतिरिक्त ब्रह्मस्वरूप का दर्शन कराया गया है। उन ब्रह्म का विवरण कहते हैं– सत्य–अबाध्य ज्ञान, अजड़–अपरिच्छिन्न, ज्योति, स्वप्रकाश स्वरूप, सनातन–शाश्वत सिद्ध ब्रह्म गुणों का अपोह होने से ज्ञानीगण जिनका दर्शन करते हैं, उस वस्तु का कृपापूर्वक दर्शन कराया है।

"सत्यंज्ञानमिति, तस्माद्वा एतस्मादिति" ।

इतर =मुक्तावस्थ जीव मान्त्रवर्णिक वर्णित आनन्दमय नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही आनन्दमय है, क्योंकि– अनुपपत्तेः सम्भव नहीं है। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' वह जीव उस विविध भोग में चतुर ब्रह्म के साथ समस्त अभिलषित विषय भोग करता है। उसकी स्वतन्त्र भोग करने की शक्ति नहीं है, बद्ध जीव की आनन्दमयत्वादि की तरह मुक्त जीव की भी आनन्दमयत्वादि की सङ्गति नहीं होती है। सर्वत्र भगवान् का प्राधान्य है, श्रीब्रह्माजी के हृदय में आपने ही वेदों का आविर्भाव कराया था, जिस वेद में श्रीभगवान् को छोड़कर सबकी बुद्धि मुग्ध हो जाती हैं, भक्तों का प्राधान्यत्व अभिमत नहीं है। क्योंकि श्रीभगवान् कहते हैं–मुझमें निबद्ध हृदय समदर्शी साधुगण सती स्त्री जिस प्रकार सत्पति को वश कर लेती है वैसे हीं भक्तगण मुझको अपने आयत्त कर लेते हैं।

तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत ।

नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः ॥२।१।३९॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१।१।१८॥

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया,

सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ।

तया विलसितष्वेषु गुणेषु गुणवानिव,

अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥१।२।३०-३१।

अस्मिन्नस्य च तद्योगश्च शास्ति ॥१।१।१९॥

दधति सकृन्मनो य आत्मनि नित्यसुखे ।

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥१०।८७।३५॥

"रसो वै स रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति" इस श्रुति में जीव से ब्रह्म भिन्न करके वर्णित है । वह रस ही है, वह रस को लाभकर आनन्दित होता है । यहाँ रसस्वरूप प्राप्त ब्रह्म से रसलाभकारी मुक्तावस्थ जीव का भेद कहा गया है; अतः आनन्दमय ब्रह्म ही है ।

श्रीभगवान् कहते हैं कि बद्ध व मुक्त के वैलक्षण्य को मैं कहता हूँ—वे दोनों विरुद्ध धर्म के होते हैं । एक मायाधीश अपर मायाबद्ध है, एक कर्ममुक्त अपर कर्मबद्ध है, इस प्रकार आनन्दनिधि सत्यस्वरूप श्रीभगवान् एकमात्र भजनीय है, उनका ही भजन करना एकान्त आवश्यक है, अन्यत्र आसक्त होने पर संसार अवश्यम्भावी है । भजनीय श्रीभगवान् हैं और जीव भक्त है, अतएव आनन्दमय ब्रह्म ही है ।

अच्छा, सत्वगुण का आनन्द रूप होने से वह प्रधान में रहने के कारण प्रधान ही आनन्दमय होता है, तो कहते हैं– "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" "मैं बहुरूप से प्रादुर्भूत होऊँगा" , इस प्रकार संकल्प ब्रह्म का ही हो सकता है जड़ा प्रकृति का कभी नहीं हो सकता, केवल अनुमान से निर्भर करके कभी इस प्रकार कहना उचित नहीं है । वस्तुतः ब्रह्म के उक्त संकल्प से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड सृष्ट होते हैं, ऐसा श्रुति में स्पष्ट ही निर्देश है ।

वह श्रीभगवान् समस्त विश्व को अपनी माया से सृजन किया है, आप स्वयं विभु तथा अगुण है ।

सृजन करने के बाद उसमें प्रविष्ट होते हैं, जैसे गुणवान् गुण में प्रविष्ट होते हैं, किन्तु आप स्वरूप शक्ति में अवस्थित होकर ही संकल्प से समस्त कार्य करते है ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥१।१।२०॥

इत्थं धृत भगवत् व्रत ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभि
षेकार्द्रकपिशकुटिल जटाकलापेन च विरोचमानः ।
सूर्यार्च्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने
सूर्य्यं मण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच ॥५।७।१३॥

परो रजः सवितु र्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
स्वरेतसादः पुनराविश्यचष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥५।७।१४॥

श्रुति में उक्त है कि उस आनन्दमय पुरुष में ऐकान्तिक भक्ति करने से अभय को प्राप्त करता है, उससे विपरीत अर्थात् उससे पृथक् होने से बन्धनादिक होते हैं। जड़रूपा प्रकृति में इसे घटाना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीव जब तक प्रकृति संसर्ग परित्याग कर आत्मनिष्ठ नहीं होता है तब तक इसका अभय योग नहीं होता। इसलिए आनन्दमय हरि ही हैं, न प्रकृति है और न जीव है।

जो एकबारमात्र भी नित्य सुखस्वरूप आपमें मन को लगाता है, उसका मन भी गृहादिकों में आसक्त नहीं होता।

छान्दोग्य में वर्णित है- "अथ य एषोऽन्तरादित्यो हिरण्मय पुरुषो दृश्यते" हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्मय पुरुष आदित्य मण्डल के भीतर विराजित है उसके केश और श्मश्रु दोनों हिरण्मय हैं अर्थात् नख-शिख समस्त अङ्ग सुवर्ण अर्थात् ज्योतिर्मय हैं। उनके नेत्रयुगल प्रफुल्ल कमल के सदृश हैं, समस्त दोषों से अस्पृष्ट है अतः उसका नाम उदिति है, जो उसके नाम को जानता है वह भी उसकी भाँति निर्दोष होता है। वह पुरुष आदित्य मण्डल के उपरिवर्त्ती लोकों का एकमात्र ईश्वर हैं और उन लोकों के देवताओं को कामना देने वाला है, यह कथन अधिदैवत है इस प्रकार अध्यात्म का भी वर्णन है। यहाँ पर संशय होता है कि वह पुण्य और ज्ञान के अतिशय के वश उत्कर्ष प्राप्त कोई जीव है किम्वा जीव से अन्य परमात्मा है। यहाँ देही आदि की प्रतीति से पुण्यशाली जीव होना ही सम्भव है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर उसकी मीमांसा इस प्रकार है-

सूर्यमण्डल और नेत्रमण्डल दोनों के अन्तर्वर्त्ती वस्तु जीव नहीं है किन्तु परमात्मा है, कारण इस प्रकरण में अन्तर्वर्त्ती को उद्देश्य करके अपहतपाप्मत्व ब्रह्म-धर्म कहा गया है। अपहत पाप्मत्व का अर्थ अपहत कर्मत्व है अर्थात् कर्मवश्यता

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥१।१।२१॥

स्वरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्दिङ्गिरामिमः ॥५।७।१४॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥१।१।२२॥

नतोऽस्म्यहं त्वाखिल हेतुहेतुं नारायणं पुरुषमाद्यमनन्यम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माविरासीद् यत एष लोकः ॥
॥१०।४०।१॥

गन्ध से रहित यह है। कर्माधीन जीव में यह सम्भव नहीं है। देवता भी ईश्वराधीन हैं, उन सबों की उपासना भी ईश्वर के असाक्षात् है। परमात्मा देह सम्बन्ध से जीव भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि मैं उस महान् परमात्मा को आदित्य के समान ज्योतिर्मय, अज्ञानान्धकारनाशक, अप्राकृत दिव्यशरीरधारी जानता हूँ इत्यादि पुरुषसूक्त प्रभृति में ब्रह्म का अप्राकृत देह कहा गया है।

भगवद्व्रतधारी ऋषि ने सूर्यमण्डल में उपासना करते समय यह कहा था कि वह ऋषि अजिन धारण किए हुए थे तथा जटा थी, आप सवितृमण्डल-वर्त्ती नारायण का ध्यान करते थे। वह तत्त्व शुद्धसत्तात्मक सूर्य का तेजस्वरूप तथा सर्वकर्मफलदाता है कारण आपने संकल्प से ही इस विश्व की रचना की। अन्तर्यामी रूप से इस सृष्ट विश्व में प्रविष्ट होकर जीवों का पालन करते हैं एवं दुःखी जीवों को सद्गति प्राप्ति की बुद्धि भी देते हैं, मैं उनकी शरण ग्रहण करता हूँ।

आदित्यादि देहाभिमानी जीव से परमात्मा भिन्न है, इसे अवश्य स्वीकार करना होगा,–"य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यान्तरो यमादित्येन वेद" जो आदित्य मध्य में रहकर भी अन्तर्यामी है, जिसको आदित्य भी नहीं जानता है, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य का अन्तर्वर्त्ती और प्रवर्त्तक है, वह अन्तर्यामी परमात्मा है, वह अमृत है इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति में विज्ञानात्मा से लेकर अन्तर्यामी परमात्मा का भेद निर्देश के कारण और आदित्य का अन्तर्वर्त्ती परमात्मा इत्यादि श्रुति वाक्य के साथ समानता के कारण इस प्रकरण में परमात्मा का ही उपदेश करते हैं।

जो सूर्य का स्वरूपभूत तेज है, कर्मफल प्रदाता भी है, इसके प्रति कारण यह है कि आपने मनसे ही समस्त विश्व का सृजन किया है। अदः–सृष्ट विश्व में अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके जीव को 'स्वरेतसा' चिच्छक्ति के द्वारा पालन करते हैं। जीव स्वभाववश जिस वस्तु का अधिकारी होता है, परमात्मा वे सब विषय प्रदान करते हैं।

भूयस्तोयमग्निः पवनः खमादि र्महानजादि र्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥
॥१०।४०।२॥

अतएव प्राणः ॥१।१।२३॥

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानु यं वयं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥
॥८।५।३७॥

छान्दोग्य में कथित है–अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते ।

आकाश ही सबका उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है । यहाँ सन्देह होता है कि आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश है अथवा परमात्मा है ? आकाश शब्द भूताकाश में प्रसिद्ध है और इससे अन्यान्य भूतों की उत्पत्ति भी प्रसिद्ध है अतः आकाश शब्द से भूताकाश अर्थग्रहण करना युक्तियुक्त है । इसके उत्तर में कहते हैं-यहाँ आकाश शब्द ब्रह्म का बोधक हैं कारण समस्त भूतों की उत्पत्ति ब्रह्म के बिना भूताकाश में सम्भव नहीं है । श्रुति में असंकुचित सर्व शब्द के द्वारा आकाश के साथ समस्त भूतों की उत्पत्ति स्वरूप आकाश का निर्देश किया गया है । सुतरां आकाश शब्द परमात्मा का वाचक है ।

अक्रूरजी श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हुए कहते हैं–हे कृष्ण आपको प्रणाम करता हूँ । आप आदि पुरुष, अव्यय, अनादि निधन हैं, आप अखिल पदार्थों के हेते हैं, आपके नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है ।

अखिल हेतु के स्पष्टीकरण के साथ कहने हैं–आकाशादि अहङ्कार जड़ा माया उसके आदि पुरुष आप ही हो, यह सब, जगत के कारणस्वरूप पदार्थ आपके अङ्गभूता हैं अर्थात यह सब आपके शरीर से उत्पन्न हुए हैं ॥२२॥

चाक्रायण ऋषि ने प्रस्तोता को कहा था, हे प्रस्तोता ! जो देवता साम-भक्ति विशेषरूप प्रस्ताव प्राप्त हुए हैं उनको न जानकर अपर कुछ जानने के लिए जिज्ञासा करोगे तो तुम्हारा शिर गिर जाएगा । इससे भीत होकर प्रस्तोता ने पूछा 'वह देवता कौन है ? चाक्रायणजी कहते हैं कि वह देवता प्राण है । प्राण से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति तथा प्राण में समस्त भूतों का लय होता है । यहाँ प्राण शब्द से मुख के अन्तर्वर्त्ती वायु किम्बा सर्वेश्वर हैं ? इस प्रकार सन्देह होने से प्राण शब्द वायु में रूढत्व के कारण प्राण से ही अग्नि प्रभृति भूतों की उत्पत्ति और प्राण में ही प्रलय होने के कारण प्राण शब्द से वायु है । इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर कहते हैं–

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥१।१।२४॥

यच्चक्षुरासीत् तरणि र्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारञ्च मुक्तें रमृतञ्च मृत्युः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥
॥८।५।३६॥

यह प्राण सर्वेश्वर है किन्तु वायु विकार नहीं है कारण सर्वभूतों की उत्पत्ति और प्रलय स्थान के कारण एकमात्र सर्वेश्वर है। चराचर प्रभृति का आदि धर्मवान् प्राणवायु है जिसको हमसब बुद्धि के अधिष्ठाता देवता सम्राट के समान मानते हैं और अनुवर्त्तन करते, यह प्राण भी जिनके प्राण से हुआ है, वह महाविभूति हमारी रक्षा करे ॥२३॥

"अथ यदतः परो दिवो ज्योति र्दीप्यते" इत्यादि मन्त्र में वर्णित है, जो विश्व के अन्तर्गत समस्त जीवों के उपरि भाग में स्थित है, जो निखिल लोक स्थित पुरुषों से भी श्रेष्ठ है और जो निखिल संसार में व्यापक है, यह ज्योतिर्मय पुरुष ही जीव के हृदय में ध्येय है। उक्त श्रुति वाक्य से संशय होता है कि यहाँ ज्योतिशब्द से प्राकृत तेज पदार्थ है ? किम्बा ब्रह्म माना जाता है ? प्रकरण में ब्रह्म का असन्निधान अर्थात् अनुपस्थिति के वश आदित्य-अन्तर्वर्त्ती तेजः ही ज्योतिः शब्द से बोध होता है उसके उत्तर में कहते हैं–

यहाँ ज्योतिः शब्द ब्रह्म का ही बोध कराता है। कारण चरणाभिधानात् "तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" पुरुष पूर्णब्रह्मस्वरूप है अत प्रपञ्च से श्रेष्ठ हैं। समस्त जगत् पुरुष का एक अंश है जिसको एकपाद रूप से कहते हैं। स्वप्रकाशरूप इस पुरुष में त्रिपाद अनन्त अमृत है अर्थात् नित्यविभूति विद्यमान है। इत्यादि श्रुति में प्राकृतिक समस्त ज्योतिः पदार्थ ब्रह्म का अंश कहा गया है जो समस्त भूतों के अंशी हैं, वे अप्राकृत धाम में रहते हैं। अप्राकृत धामस्थ श्रीहरि ही समस्त तेजः के आधार हैं, आदित्यादि नहीं है ।

यह तरणि सूर्य जिनका चक्षु है, जो सूर्य अर्चिरादि मार्ग का देवता है, त्रयीमय-सैषा त्रय्ये विद्या तपतीति श्रुतेः। ब्रह्मणो धिष्ण्यम् उपासना स्थान है। 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुष इति श्रुतेः'। मुक्तेर्द्वारम्–देवयान होने के कारण अमृतत्व- पुण्यलोक होने के कारण, मृत्यु-काल रूप होने के कारण इस प्रकार तरणि सूर्य जिनके चक्षु हैं, वह प्रसन्न होवे ॥४२॥

गायत्री ही सर्वस्वरूपभूत है, "गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किञ्चिदिति" पञ्चभूत पृथ्वी,शरीर,हृदय तथा प्राण यह सब गायत्री की विभूति है ऐसाश्रुति कहती है। गायत्री मन्त्रमात्र है अतः इसका सर्वस्वरूपत्व प्रभृति प्रसंशापरक

छन्दोऽभिधानान्निति चेन्न तथा चेतोऽर्पण निगदात्तथाहि दर्शनम् ।।१।१।२५।।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।१।१।१।।

भूतादिपाद व्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।।१।१।२६।।

एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दह्लतः ।।३।१२।४४।।
तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्रो च त्वचो विभोः ।
त्रिष्टुभ्मांसात् स्नुतोऽनुष्टुब जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ।
मज्जायाः पङ्क्ति रुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत ।।३।१२।४५।।

मात्र है वास्तविक नहीं है। संसार ब्रह्म की ही विभूति है, यह भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार आशंका निरसन को कहते हैं-

गायत्री रूप मैं अवतीर्ण ब्रह्म में चित्त का समर्पण व ध्यान का उपदेश देकर उक्त श्रुति मैं निखिल संसार ब्रह्म की विभूतिरूप है। विभूति रूप प्रशंसा मात्र नहीं है। इसे कहते हैं—जिनसे परिदृश्यमान जगत् की सृष्टि,स्थिति,लय होते हैं, सृजन के अनन्तर उसमें प्रविष्ट होकर उसका सञ्चालन करते हैं, जो समस्त कार्यों में कुशल है और स्वयं स्वराट् हैं। जिन्होंने आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में वेदों को उद्भासित किया था, जिनकी अनुकम्पा से समस्त विश्व सत्य वत् प्रतीयमान होता है और जो अपनी चिच्छक्ति से माया को पराभूत करते हैं। उन परं सत्य वस्तु ब्रह्म का हम सब ध्यान करें ।।२५।।

युक्ति के द्वारा प्रकाश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म ही गायत्री है कारण पूर्व वाक्य से भूतादि समस्त वस्तु को अंश रूप से निर्देश कर चतुष्पाद शब्द से गायत्री मन्त्र को सूचित कर गायत्री रूप स्वधामस्थ ब्रह्म को ही निर्देश करते हैं। मन्त्र का पाद भूतादिक है, इस प्रकार सम्भव नहीं हैं।

व्याहृति भूर्भुवस्वः यह असमस्त तीन है और समस्त चार हैं। आश्वलायन मुनि ने इस प्रकार कहा है-"एव व्याहृतयः प्रोक्ता न्यस्ताः समस्ता इति" श्रुति भी उक्त रूप है-भूर्भुवः स्वरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः तासामूह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्य प्रवेद्यते मह इतीति"।

उन ब्रह्म से व्याहृति हुई, प्रणव हृदयाकाश से आविर्भूत हुए, लोम से

उपदेश भेदान्नेति चेन्नोऽभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।१।१।२७।।

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदं विदुः ।
अमृतक्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु ।।
पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।
अन्तस्त्रिलोक्या स्त्वपरो गृहमेधीऽवृहद्व्रतः ।।२।६।१९-२०।।

प्राणस्तथानुगमात् ।।१।१।२८।।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिल कारक शक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरण श्रवण स्त्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यं ।।४।९।६।।

उष्णीष की उत्पत्ति हुई। त्वक् से गायत्री, त्रिष्टुभ् मांस से, स्नायु से अनुष्टुप् जगति अस्थि से, मज्जा से पंक्ति और प्राण से बृहती की उत्पत्ति हुई है। महा-कल्प में ब्रह्मा ने ही शब्दब्रह्म रूप को धारण किया था।२३।

अब दोनों का द्युसम्बन्धत्व अर्थात् अप्राकृत धाम सम्बन्धत्व के सुनने में कोई विशेष है अथवा नहीं है ? इस प्रकार आक्षेप लेकर उसका समाधान करते हैं। पहले "त्रिपादस्यामृतं दिवि" यहाँ पर स्वर्ग का अप्राकृत धाम में सप्तम्यन्त प्रयोग कर स्वर्ग को आधार रूप से उपदेश करते हैं। तदनन्तर 'परो दिवः' यह दिवः स्वर्ग से श्रेष्ठ है इस प्रकार पञ्चम्यन्त प्रयोग कर मर्यादा रूप से उपदेश करते हैं। सुतरां उपदेश भेद से दोनों एक वस्तु को ही निर्देश करते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी आशंका होने पर उत्तर देते हैं। उपदेश भेद से कोई दोष नहीं होता है कारण ब्रह्म स्वर्गस्थ होकर भी स्वर्ग के अतीत हैं। इस प्रकार अर्थ होने से कोई दोष नहीं है जैसाकि लोक में वृक्ष के अग्रभाग में शुक पक्षी रहने पर भी उभय प्रकार प्रयोग दृष्ट होता है, वृक्ष के अग्रभाग के पर देश में शुक है।

ईश्वर नित्यमुक्त है, तदाश्रित भूतों की बन्ध–मोक्ष व्यवस्था प्रदर्शन के लिए कहते हैं। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इसका अर्थ कहते हैं। पादेषु जिसमें सब लोक रहते हैं वह स्थिति पद है वह उन ब्रह्म का अंश है। लोक में अंश-भूत समस्त जीवों को विज्ञजन जानते हैं यहाँ पर अधिष्ठान अधिष्ठेय को अभेद से कहा गया है।

भूत में फलवैचित्र्य है इसलिए कहते हैं। ईश्वर सम्बन्धि त्रिपाद नित्य सुखमय है यह ऊर्द्ध्व लोकों में है किन्तु त्रिलोक में नहीं है।।२७।

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तद् सद्‌गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ।।४।६।७।।

तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ।१२।१३।१९।

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे
सहसे बलाय महामत्स्याय नम इति ।।५।१८।२५।।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म सम्बन्ध भूमा ह्यस्मिन् १।१।२९

अन्तर्बहिश्चाखिल लोकपालकै रदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनयन्नाम्ना यथा दारुमयीं नरस्त्रियम् ।।
यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्यच
पातुं न शेकु र्द्विपद श्चतुष्पदः सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ।।
।।५।१८।२६-२७।।

किसी एक समय प्रतर्दन नृपति रणकौशल व पुरुषकार प्रदर्शनार्थं इन्द्र लोक को गये । इन्द्र ने प्रसन्न होकर उनको वर मांगने के लिए कहा । प्रतर्दन ने कहा जो जीव के लिए हिततम हो, आप उसका उपदेश दीजिए । इन्द्र ने कहा-"मैं प्रज्ञात्मा प्राणस्वरूप और अमृतस्वरूप हूँ" अतः मेरी उपासना करो । "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपासस्वेति" ।

यहाँ पर संशय यह है कि इन्द्र कहते हैं-मैं प्रज्ञात्मा प्राणस्वरूप और अमृतस्वरूप हूँ अत मेरी उपासना करो । यहाँ इस प्राण शब्द से इन्द्र परमात्मा किम्वा जीव विशेष है ? इसके उत्तर में कहते हैं-प्राण शब्द से निर्दिष्ट इन्द्र परमात्मा ही हैं जीव उपास्य नहीं है कारण प्रज्ञात्मा, अमृत आनन्द इत्यादि विशेषणों के द्वारा परमात्मा को ही निर्देश किया जाता है ।

जो मेरे मैं प्रसुप्त वाणी, प्राण, इन्द्रिय आदि को चिच्छक्ति के द्वारा सञ्जीवित करते हैं कारण आप अखिल चक्षु आदि की ज्ञान क्रिया शक्ति को धारण करते हैं तथा आप अन्तर्यामी पुरुष हैं आपको प्रणाम ।

हे भगवन् आप अपनी शक्ति से समस्त महदादि को सृजन करके उसमें अनुप्रवेश करते हैं । आप एकमात्र पुरुष अन्तर्यामी हैं । उन शुद्ध, विमल, विशोक, अमृत परं सत्य का हम सब ध्यान करते हैं ।।२८।।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥१।१।३०॥

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीड़ाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभुमं
स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥४।७।४३॥
दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥१०।३०।२२।

यहाँ पर अध्यात्म विशेष भाव से वर्णन किया हुआ है इसलिए प्राण शब्द से जीव की उपदेश नहीं किया गया है। उसके उपास्य परमात्मा को ही कहा गया हे। मोक्ष के उपाय को ही हिततम कार्य कहा जाता है जिनकी उपासना से मोक्षादि की प्राप्ति होती है, वह कदापि प्राकृत प्राण व जीव नहीं हो सकता है यह असम्भव भी है। श्रुत्युक्त वाक्य समूह भी प्राण शब्द से परमात्मा का ही वर्णन करते हैं सुतरां वे सब धर्म परमात्मा को छोड़कर दूसरे के नहीं हो सकते हैं।

अन्तर व बाहर समस्त वस्तुओं में आप विचरण करते हैं। अखिल लोकपालगण आपको अवलोकन करने में समर्थ नहीं हैं, आप उरुःस्वन वेदात्मक नादस्वरूप हैं, आप इस विश्व को अपने वश में नियन्त्रित करते रहते हैं आप ईश्वर है। श्रुति–यस्य वाक्तन्ति नामानिदामानीत्यादिः। इन्द्रादि लोकपाल विश्व का नियन्त्रण करते हैं? ईश्वर नहीं? अतएव कहते हैं–मत्सर ज्वरयुक्त लोकपालगण ईश्वर की सहायता को छोड़कर द्विपद, चतुष्पद, सरीसृप, जङ्गम स्थाणु, स्थावर जो कुछ भी दृष्ट होते हैं किसी का भी पालन नहीं कर सकते हैं आप प्राणरूप से पालक हैं और ईश्वर भी हैं ॥२९।

इस प्रकार व्याख्या करने से वक्ता का आत्मोपदेश किस प्रकार सम्भव होगा? इसके उत्तर में कहते हैं–

यहाँ पर तु शब्द सन्देह का नाशक है। विज्ञात जीव भाव इन्द्र ब्रह्म रूप में अपने को जो उपदेश करता है कि मेरी ही उपासना करो। उसे शास्त्र दृष्टि से जानना चाहिए। जो जिसके आयत में रहता है उसको शास्त्र उसी रूप में उपदेश करते हैं। इन्द्रिय समूह की प्राणायत्त वृत्ति होने से छान्दोग्य श्रुति प्राण रूप ही कहती है। इस प्रकार जीव को ब्रह्मायत्त वृत्ति के कारण इन्द्र ने यहाँ पर अपने को उपास्य रूप में उपदेश किया है। दृष्टान्त इस प्रकार है–वामदेव ऋषि ने कहा—मैं मनु हुआ था, मैं सूर्य हुआ था यहाँ पर मैं शब्द से आयत्तवृत्ति के हेतुरूप ब्रह्म जानना होगा। स्मृति कहती है–जो जिसका व्याप्य है वह ही उसका रूप है।

जीवमुख्य प्राणलिङ्गान्नेति चेत् न उपासात्रैविध्यादाश्रित-
त्वादिह तद्योगात् ॥१।१।३१॥

ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे सहसे
बलाय महामत्स्याय नम इति ॥५।१८।२५॥

स एष जीवो विवरप्रसूतिः ॥११।११।१७॥

अयं हि जीव स्त्रिवृदब्जयोनि रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्ट शक्ति र्बहुधेव भाति वीजानि योनिं प्रतिपाद्य यद्वत् ॥
॥११।१२।२०॥

श्रीगन्धर्वों ने कहा–हे देव यह मरीचि प्रभृति ऋषिगण, ब्रह्मा, इन्द्र रुद्र प्रभृति देवगण आपके अंश के अंश हैं । हे विभुमन् ! यह विश्व आपका क्रीड़ोपकरण रूप है अतः आपको नित्य प्रणाम करते हैं : कृष्णान्वेषण कातर तदात्मिका गोपियों ने भगवान् की उन–उन लीलाओं का अनुसरण करते हुए कहा–हे दुष्ट सर्प यहाँ से जाओ, खलों को दण्ड देने के लिए मेरा आविर्भाव है ॥३०॥

सम्प्रति पुनर्बार आशङ्का होती है कि इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्ध विस्तृत रूप से वर्णित होने पर भी यह सब वाक्य ब्रह्म पर ही हैं ऐसा कहना सम्भव नहीं है । इसमें स्पष्ट रूप से जीव को निर्देश किया गया है । 'यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुरथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयतीति' मुख्यप्राण लिङ्गाच्च जब तक प्राण रहता है तब तक जीवन भी है, इत्यादि स्थल में मुख्य प्राण को ही कहा गया हैं । अतएव जीव, प्राण, ब्रह्म तीनों ही उपास्य हैं ऐसा कहना ही ठीक है ।

उक्त आशङ्का निरसन के लिए कहते हैं–पूर्वोक्त श्रुति समूह जीव व प्राण का उपास्यत्व स्थापन करती है, यह कहना असङ्गत है क्योंकि ऐसा होने पर त्रिविध उपास्य निबन्धन उपासना भी प्राणधर्म, प्रज्ञाधर्म, ब्रह्मधर्म के अनुसार त्रिविध दृष्ट होगी । एक वाक्य में त्रिविध उपासना का निर्देश असम्भव है । वाच्य भेद होने पर वाक्यभेद अवश्य होना चाहिए यह आशङ्का हो सकती है कि जीवादि लिङ्ग के कारण ब्रह्मधर्म जीवादिपरक है किम्बा तीनों ही स्वतन्त्र हैं अथवा जीवादि लिङ्गसमूह ब्रह्मपरक है ? इसके पहले प्राणाधिकरण में प्रथम प्रश्न का निरास किया गया है । उपासना त्रैविध्य शब्द से द्वितीय पक्ष भी निरस्त हुआ हैं । अधुना तृतीय पक्ष की युक्ति यह है कि जीवादिलिङ्ग समूह ब्रह्म पर है कारण सर्वत्र है वे सब शब्द ब्रह्मपर रूप में निर्देश होते हैं । अतएव

वेदान्तदर्शनम्

श्रीमद्भागवतभाष्योपेतम्

द्वितीयः पादः

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १।२।१ ।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्रसर्वदा ।१।९।३५
वदन्तितत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।
भक्ति योगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदुपाश्रयाम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतञ्चाभिपद्यते ।१।२।११।१।७।४।५।

जानना होगा कि–इन्द्र, प्राण, व प्रज्ञा शब्द के द्वारा ब्रह्म ही कथित होते हैं।

मुख्यतम भगवान को प्रणाम करता हूँ, आप ही, सत्त्व, प्राण, ओज मन, ज्ञानेन्द्रिय,कर्मेन्द्रियों की शक्ति रूप' एवं वल स्वरूप हैं।

वह जीव ब्रह्म ही सवकी सृष्टि कर्त्ता हैं। यह जीव परमेश्वर ब्रह्मा आदि समस्त तत्त्वों का मूल कारण हैं। जैसे बीज विभिन्न स्थानों को पाकर अनेक प्रकारसे प्रकाशित होता है, वैसे एक ही परमेश्वर अपनी शक्ति से अनेक प्रकार प्रतिभात होते हैं।

इति महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासदेवकृते ब्रह्म सूत्र भाष्ये
प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



मनोमयादिभिः शब्दैः स्वरूपं यस्य कीर्त्यंते ।
हृदये स्फुरतु श्रीमानसौ श्यामसुन्दर ॥

प्रथम पाद में समस्त जगत् के कारण भूत पुरुषोत्तम नामक पर ब्रह्म जिज्ञास्य हैं, यह कहा गया हैं। एवं उक्त पाद में अन्य बिषय में प्रतीत कुछ वाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय दिखलाया गया है। द्वितीय पाद और तृतीय पादमें अस्पष्ट ब्रह्म लिङ्ग के कुछ वाक्यों का उक्त ब्रह्म में ही समन्वय दिखाया जायेगा।

छान्दोग्य उपनिषद् में कथित है कि– मनोमय, प्राणमय, नियन्ता,

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः ।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ।२।१०।१५।
अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्व जन्तुषु
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः ।२।१०।१६
मनोमयं सूक्ष्म मुपेत्य रूपं ।
मात्रा स्वरोवर्ण इति स्थविष्ठः ।११।१२।१७।

प्रकाशस्वरूप, सत्य संकल्प, सर्वगत, सर्वभोग सम्पन्न, सर्वगन्ध, सर्वरस सर्व-व्यापी, वाक्य मन के अगोचर, आत्मादर वर्जित पर ब्रह्म ईश्वर ही उपास्य हैं।

यहाँपर संदेह यह है कि मनोमयादि गुणयुक्त पुरुष जीव अथवा ईश्वर हैं ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्र कार कररहे हैं। उक्त वाक्य समूह के द्वारा ब्रह्म को ही जानना होगा। क्यों कि समग्र वेदान्त शास्त्र में प्रसिद्ध वस्तु का उपदेश हैं।

उपक्रम वाक्य में शान्ति पाठ में समस्त ही ब्रह्म का स्वरूपहै यह, निर्देश हुआ है, स्वविवक्षा में नही है। सत्य है, तोभी मनोमयादि उपदिष्ट वाक्य में ब्रह्म ही विशेष रूपसे वोद्धव्य हैं।

यहाँपर क्रतु शब्द से उपासना एवं मनोमय शब्द से शुद्ध मनो ग्राह्य का वोध होता है। ब्रह्म मनो ग्राह्य नहीं है यह वाक्य समूह का अर्थ है विषय वासना के द्वारा कलुषित मन में ब्रह्म की स्फूर्त्ति नहीं होती है। अन्यथा श्रुति का विरोध होगा। ब्रह्म मन एवं प्राणका अनधीन होने के कारण उनको अमना व अप्राण कहा गया है, अन्य श्रुति विरोध दृष्ट होगा। श्रुति में जव मनोमयत्वादि का उपदेश है, तव यहाँ परभी परमात्मा ही मनोमयादि शब्द वाच्य है ऐसा समझना होगा।

जो वस्तु अन्वय व्यतिरेक द्वारा सर्वत्र प्रसिद्ध है वह हो जिज्ञास्य है।

तत्त्वविदगण एवं अद्वय ज्ञान स्वरूप को ही तत्त्व रूपसे जानते हैं जिनको ब्रह्म, परमात्मा भगवान् इस शब्दों से कहा जाता है।

श्रीब्यासदेव ने भक्ति योग से मन सम्यक् अमल होने से पूर्ण पुरुष को दर्शन किया था, ओर माया को भी देखा, जो उन पुरुष के समीप में थी इस माया से सम्मोहित होकर जीव अपने में विपर्यय ज्ञान कर लेता हैं, ओर मायिक विषयों में अभिनिविष्ट हो जाता है।

समस्त वस्तु को सृजन करने के अनन्तर उक्त पुरुष उस में प्रविष्ट हुए

विवक्षित गुणोपपत्तेश्च १।२।२

यत् तद्विशुद्धानुभव मात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्त गुण व्यवस्थम्
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ।।५।१८।४

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।१।२।३

विज्ञाप्यं परम गुरोः
कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ।६।१६।४६

कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च १।२।४

यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति

ओर इसके साथ ही ओज इन्द्रिय की शक्ति, प्राण, बल आदि का प्रकाश हुआ, जैसे महाराज के सव अनुचर अनुसरण करके चलते हैं वैसे उन पुरुष को अवलम्वन करके हि प्राण अपान आदि सव अपनी वृत्ति में स्थित होते हैं।

ब्रह्माण्ड को सृजन करने के अनन्तर आप सूक्ष्म मनोमय रूप में अभिव्यक्त होते हैं। पश्चात् मात्रा, स्वर, वर्णात्मक रूप से प्रकटित होते हैं।

मनोमय, प्राण शरीर,कान्तिमय आदि श्रुति वाक्यसे जो गुण समूह कहा जाता है वह गुण समूह परमात्मा में ही विद्यमान हैं, जीव में नहीं हैं।

परमात्मा रूप में श्रीहरि को प्रणाम करते हैं। जो एक तत्त्व वेदान्त में प्रसिद्ध हैं उन को प्रणाम करता हूँ।

वह तत्त्व किस प्रकार हैं–विशुद्ध एवं अनुभव स्वरूप हैं जिनका, विशुद्ध के प्रति हेतु वह तत्त्व प्रशान्त है इस के लिए भी कारण यह है—स्व प्रकाश के द्वारा जिसमें विविध गुणों की जाग्रदादि अवस्था। अनुभव मात्र में हेतु हैं –वह प्रत्यक् स्वरूप हैं, दृश्य से भिन्न है। वह कैसे सम्भव है,अतः वह प्राकृत नामरूप रहित हैं।

अच्छा—ऐसे वस्तु जीव में भी सर्व विपर्यय दृष्ट होता है, इसलिए कहते हैं—निरहम् अहङ्कार के अभाव से इस प्रकार विपर्यय इन में नही हैं। सुश्री व्यक्तिगण शुद्ध चित्त के द्वारा ब्रह्म रूप में उक्त तत्त्व को प्राप्त करते हैं

मनोमयादि धर्म समूह जीव में सम्भव नहीं हैं, क्यों कि खद्योत के सदृश जीव में इसका अभाव हैं।

सर्वान्तर्यामी आप को कैसे प्रकाश कर सकता हूं। जो विशेष रूपसे प्रकाशित हैं उन को विशेष रूपसे कैसे प्रकाश किया जाता हैं। इस में दृष्टान्त है, जैसे सूर्य को खद्योत प्रकाशित नहीं कर सकता है ऐसे आपभी स्वराट् हैं।

मृत्यु के अनन्तर इस लोक से प्रस्थान करके मनोमय पुरुष के साथ

यं चेकितानमनुचित्तय उच्चकन्ति ।
भूमण्डलं सर्षपायति तस्मैः नमो भगवते स्तु सहस्रमूद्ध्नें ।६।१६।४८
एतावानेव मनुजै र्योग नैपुण्यबुद्धिभिः
स्वार्थसर्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैकदर्शनम् । ६।१६।६३
शब्द विशेषात् १।२।५
यत् सर्वभूतदयया सदलभ्यैको
नाना जनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ।।३।६१२।।
तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ।८।५।२७
स्मृतेश्च १।२।६
यथाभ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ
तथा में भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ७।५।१४

मिलित होंगे। जीव ऐसा सङ्कल्प करता है, इससे सुस्पष्ट यह होता है की उन दीनों के मध्यमें उभय की विलक्षणता हैं प्रभेद भी विद्यमान है क्यों कि—जीव में कर्त्तृत्व का कथन हुआ है ओर मनोमय पुरुष में कर्मरूपका कथन हुआ है।

जिन के प्रश्वास के अनन्तर सव की चेष्टा होती है, उन से प्रकाशित हो कर चित्त वृत्ति उन तत्त्व को दर्शन करती है।

इस के आगे और कोई पुरुषार्थ नहीं है, योग नैपुण्य वुंद्धि सम्पन्न जीवगण ब्रह्म ओर जीवात्मा को प्राप्य प्रापक रूप मे ही दर्शन करें।

"एष में अन्तर्हृदयेसंस्थितः' यह आत्मा मेरे हृदय के भीतर, यहाँ उपासक जीव का षष्ठयन्त निर्देश होने के कारण, ओर मनोमय पुरुष उपास्य हैं यहाँ प्रथमान्त निर्देश होने में उपास्य मनोमय पुरुषसे उपासक जीव भिन्न हैं।

जो वस्तु असद् व्यक्ति केलिए अलभ्य है वह वस्तु समस्त प्राणियों में दयाभाव रखनेसे दृष्ट होती है, क्यों कि आप सुहृदः हैं अन्तरात्मा हैं एवं समस्त जीव में आप विराजित हैं। आप आकाश के समान सर्वत्र अवस्थित हैं, एवं तीनों युगों में आविर्भूत होते हैं। आप शरणीय हैं।

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।"

हे अर्जुन! ईश्वर समस्त जीवोंके हृदय में विराजित होकर अपनी मायासे

अर्भकौकस्त्वात् तद् व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेव व्योमवच्च । १।२।७

अजात जन्म स्थिति संयमाया गुणाय निर्वाण सुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते ॥ ८।६।८
त्वय्यग्र आसीत् त्वयिमध्य आसीत् त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं
घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥ ८।६।१०

* सम्भोग प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् । १।२।८

जीव समुह को यन्त्रारुढ़ के समान घुमाता हैं, अतः जीवसे परमात्मा पृथक् हैं।

हे ब्रह्मन् जैसे चूम्वक लोहा को स्वयं अपने ओर आकर्षण करके घुमाता हैं वैसे मेरा चित्त चक्रपाणि के सान्निध्यसे घुमता हैं।

श्रुति में अणीयस्त्व का आदेश है, सुतरां मनोमय शब्द से जीव का वोध होने से दोष ही क्या होगा ? ऐसे पूर्वपक्ष करके इसको खण्डन के लिए कहते हैं, हृदयाभ्यन्तरस्थ आत्माका अणीयस्त्व एवं आश्रयत्व का उपदेश रहने परभी उससे जीवका वोध नहीं होता है। क्योंकि—उनको आकाश एवं पृथिवी वत् वृहद् रूपसे अन्यान्य श्रुति वर्णन करतीं हैं। अणीयस्त्व रूपमें एवं अल्पाश्रयत्व रूपमें उन तत्र उपदिष्ट होने परभी वह वृहत् होने परभी क्षुद्र रूपमें उपासना की योग्यता प्रदर्शन के लिए ही है, ऐसा समझना होगा। आत्मा का अणुत्वभी कहीं मुख्य रूपमें और कहीं गौण रूपमें जानना होगा।

अनाविर्भूत वस्तुका आविर्भाव सामान्य प्राणी के समान नहीं है। श्रीभगवत्तनु नित्य एवं विभु भी है, श्रीमूर्त्ती का आविर्भाव है, प्राणीयों के समान जन्म नहीं हैं। आप का जन्मादि नहीं हैं। क्यों कि आप प्राकृत गुणसे रहित हैं। अतः आप अपार मोक्ष सुख रूप हैं। तथापि आप दुर्ज्ञेय होने के कारण अणु से भी अणु हैं, अति सूक्ष्म हैं। वस्तुतस्तु आप अपरिगण्य अर्थात् इयत्तातीत मूर्त्ती में विराजित हैं, यह असम्भव नहीं हैं, कारण आप महान् हैं, एवं आपका अचिन्त्य अनुभाव है। घटके प्रति मृत्तिका की भाँति समस्त कारणों के कारण हैं, आप इस जगत् के आदि अन्त एवं मध्य में विराजित हैं।

यदि कहो—कि—परमात्मा जव देहान्तर्वर्त्ती हैं, तव तो आप जीव के समान सुख—दुःख के भोक्ता भी होंगें ? यह आशङ्का निराकरण के लिए

य एकवर्णं तमसः परं त-दलोकमव्यक्त मनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेन-मुपासते योग रथेन धीराः ॥८।५।२६

*** अत्ताचराचर ग्रहणात् । १।२।६**

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयं दृक्
स्वमहिम परिपूर्णो मायया च स्वयैतत् ।
सृजति हरति पातीत्याख्यया नावृताक्षो
विवृत इव निरुक्त स्तत् परैरलभ्यः ॥ १२।११।२४

*** प्रकरणाच्च । १।२।१०**

अणोरणिम्ने उपरिगण्य धाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते ।८।६।८

कहते हैं, परमात्मा की विशेषता है, इसलिए जीव के साथ उनका समान भोग असम्भव है, कर्मवश्यता ही भोग का कारण हैं। परमात्मा स्वाधीन है, जीव परतन्त्र है, श्रुति व स्मृति में इसका वर्णन सुस्पष्ट रूपमें है।

सर्व जीवों के नियमन कर्त्ता आप हैं, जीव के समीप में नियन्ता रूपमें निरन्तर आप रहते हैं। श्रुति भी कहती है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।" तव देहस्थ होने के कारण जीव साम्य होना भी सम्भव है, अतः कहते हैं—एकवर्ण, ज्ञानैक स्वरूप, प्रकृति से पर, अलोक,—अदृश्य, अव्यक्त,—निर्विकल्प, अनन्तपार-देश-काल से अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप आप हैं। अप्रच्युत रूप होने के कारण जीव के साथ समता आप की नहीं है। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकसीति" इस श्रुति से विशेष प्रतिपादित हुआ है। अतएव जिनको धीर व्यक्तिगण योगस्थ नामक प्राप्ति साधन के द्वारा उपासना करते हैं उनको नमस्कार करता हूँ।

यहाँपर जिज्ञासा यह है कि पूर्व कथित अन्न व भोजनोपयुक्त शब्द के द्वारा अग्नि, जीव, किम्बा परमात्मा का वोध होता है? इसके उत्तर में कहा जाता है, श्रुति में कथित भक्षवस्तु जीवका भक्ष्य नही है, कालादि भक्ष्य वस्तुयों का भोक्ता चराचरके संहारक परमात्मा ही हैं।

हे द्विज ऋषभ! वह ब्रह्मयोनि स्वयं दृक् स्व महिम परिपूर्ण अपनी माया शक्ति से समस्त वस्तु को सृजन पालन व संहार करते हैं, अनाच्छन्न-ज्ञानवान् होने परभी भिन्नके समान शास्त्र से प्रतिभात होते हैं, अतः सज्जन उनको परमात्मा रूप से देखते हैं।

श्रुति में कथित है, आप अणु से भी अणु हैं, एवं स्मृति कहती है—आप

दुखबोध इव तवायं विहार योगो
यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत् समवाय आत्मनैव क्रिय-
माणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ६।६।३४

* गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।१।२।११

गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।।८।५।२६
विपश्चितं प्राण मनोधियात्मना मर्थेन्द्रियाभास मनिद्रमव्रणम् ।।
छायातपो यत्र न गृध्रपक्षौ तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ।।८।५।२७

* विशेषणाच्च ।१।२।१२

चराचर के संहार कर्त्ता हैं।

सुतरां यह समस्त प्रकरण के द्वारा कालादि वस्तु के भोक्ता एकमात्र जगत् संहारक परमात्मा का बोध होता है।

श्रुति में वर्णित है—"पुण्योपार्जित शरीर रूप लोक में हृदय गुहा में विराजित दोनों अवश्य कर्मफल भोग करते हैं ।।" "दोनों छाया और धूप के समान विरुद्ध धर्म्मी हैं।" यहाँपर कर्मफल भोक्ता जीव के साथ द्वितीय व्यक्ति का उल्लेख है, वह द्वितीय व्यक्ति बुद्धि, अथवा प्राण, किम्वा परमात्मा है?

उत्तर में कथित है—अहंकार हृदय गुहारूप दोनोंको जीवात्मा व प्राण रूप से समझना नहीं चाहिये। जोवात्मा व बुद्धि भी नहीं है। उससे जीवात्मा एवं परमात्मा को समझना होगा। क्यों कि जो प्राण के साथ सञ्जात है, वह ही देवतामयी अदिति है। एवं आप ही ऐश्वर्य के द्वारा हृदय में प्रविष्ट होकर रहते हैं। इत्यादि श्रुति से जीवात्मा एवं परमात्मा का बोध ही होता हैं।

जीवात्मा संसार वासना बद्ध होने के कारण छाया रूपमें, एवं पर-मात्मा संसार मुक्त होने के कारण तेजः स्वरूप में कथित हैं। जीवात्मा कर्मफल भोग में प्रयोज्य कर्त्ता है, ओर परमात्मा प्रयोजक कर्त्ता हैं।

आप सर्वान्तिगत हैं, एवं निरूपाधि स्वरूप हैं, आप अप्रतर्क्य हैं, मन सृजन के पूर्व में ही आप अवस्थित हैं। आप को प्रणाम हैं।

और भी आप प्राणादिकों के ज्ञाता हैं, आत्मा अहङ्कार देह आदि के भी ज्ञाता हैं, उनको छोड़कर जाननेका कुछ नहीं है, विषय एवं विषय ग्राहक इन्द्रिय भी आप ही हैं, तथापि आप अज्ञान रहित हैं, आप प्राकृत देह शून्य हैं, एवं आकाश के समान व्यापक हैं। कारण जहाँपर जीव पक्ष पाती छाया-तप अविद्या एवं विद्या भी नही है, आप तीनों युगों में आविर्भूत होते हैं, आपकी शरण लेता हूँ।

य एक वर्णं तमसः परं त-दलोकमव्यक्तमनन्त पारम् ॥
आसाश्चकारोप सुपर्णमेन-मुपासते योगबलेन धीराः ।८।५।२६

*** अन्तर उपपत्तेः १।२।१३**

यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारञ्चमुक्तेरमृतञ्च मृत्युः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ८।५।३६

*** स्थानादि व्यपदेशाच्च ।१।२।१४**

इस प्रक्रिया में जीव ईश्वर पर्य्याय क्रमसे मनन, कर्त्ता एंवं मन्तव्य रूप में विशेषित हैं, अर्थात् जीव मनन कर्त्ता हैं, और ईश्वर मन्तव्य हैं।

आप सर्व जीव नियन्ता होने के कारण जीवसे श्रेष्ठ हैं। उपसुपर्ण— जीव समीप में जीव के नियन्ता रूप में सदा विराजित है।

तक देहस्थ होनेसे जीव साम्य क्यों नहीं होगा, अतः कहते हैं—आप ज्ञानेक स्वरूप हैं। प्रकृति से भी अतीत हैं, आप अदृश्य, देश, काल से अपरिच्छिन्न हैं। अप्रच्युत स्वरूप होने के कारण जीव के साथ समता भी नहीं हैं।

अतएव जिनको धीर व्यक्तिगण प्राप्ति साधन रूप योग से भजते हैं, उनको नमस्कार है।

यह अक्षि के मध्य में जो पुरुष दृष्ट होता है, वह ही आत्मा है, वह अमृत, ब्रह्म, व अभय प्रद है, उपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है, वहांपर जिज्ञास्य यह है कि यह पुरुष, अथवा प्रतिविम्ब, किम्वा देवता स्वरूप, जीवात्मा, किम्वा परमात्मा हैं ? उत्तर में कहते हैं—अक्षि मध्यगत पुरुष, प्रतिविम्वादि नहीं है, आप परमात्मा हैं, क्यों कि आत्मत्व अमृतत्त्व, ब्रह्मत्व आदि धर्म उनको छोड़कर अन्यत्र असम्भव है।

यह सूर्य जिनके नेत्र रूप में अवस्थित है, यह सूर्य अर्च्चिरादि मार्गकी देवता है, त्रयीमय भी है, श्रुति भी इस प्रकार है—"सैषा त्रय्येव विद्या तपतीति" ब्रह्म की उपासना भी इस अधिष्ठान में होती है, "य एष अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष इति श्रुतेः"। मुक्ति का भी यह द्वार है, क्यों कि यह देवयान है, पुण्य लोक होने के कारण वह अमृत है, और वह कलिरूप होने के कारण मृत्यु भी है, ऐसे सूर्य जिनकी चक्षु हैं वह महाविभूति हम सव के प्रति प्रसन्न हो।

वृहदाण्यक श्रुति में लिखित है, "यश्चक्षुषितिष्ठन्" जो चक्षु मध्य में अवस्थित है" इत्यादि स्थल में अपर किसी को भी कहा नहीं गया हैं।

श्रीभगवान् सर्व देवतामय विष्णु के रूपको प्रतिदिन सन्ध्याकाल में संयत

एतदुहैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महा पुरुषायाभिधीमहीति ।।५।२३।८

* सुखविशिष्टाभिधानादेव च । १।२।१५

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम् ।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं नश्येत तत् कालजमाशुपापम् ५।२३।९

* श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च । १।२।१६

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुष, सोऽसाधिदैविकः

यस्तत्रोभय विच्छेदः पुरुषो ह्याधिदैविकः । २।१०।८

* अनवस्थितेरसभावाच्च नेतरः । १।२।१७

चित्त, एवं मौन धारण करके सूर्यचक्षु आदि अधिष्ठान में स्मरण करें, मन्त्र भी इस प्रकार है, आपको प्रणाम, ज्योतिर्लोक स्वरूप, काल स्वरूप देवताओं के पति, महापुरुष स्वरूप आपको हम सब ध्यान करें।

प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म त्यपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट जो ब्रह्म कहा गया है, वह ही पुनः अक्षिस्थ वाक्यमें कहा गया है, अतएव अक्षिस्थ पुरुष ही परमात्मा हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं हैं।

ग्रहर्क्ष तारामय आधिदैविक आनन्दमय परमात्मा के रूप को पूर्वोक्त "नमोनमः" मन्त्र के द्वारा जो त्रिकाल स्मरण करता है उसका पाप नष्ट हो जाता है, त्रिकाल नमस्कार करने से अथवा स्मरण करने से उन उन कालों के पापसमूह तत् काल नष्ट होजाते हैं।

जैसे उपनिषद् श्रवण करने से अधिगत रहस्य व्यक्ति के सम्बन्धमें देव-यान गति कही गई है, वैसे अक्षिमध्यस्थ पुरुष को जानने वाले की गतिभी कही गई है, सुतरां स्पष्टतः बोध होता है कि अक्षिगत पुरुष प्रतिबिम्बादि नहीं है, वह परमात्मा है।

अपरोक्षानुभव के द्वारा आश्रयरूपको वर्णन करने लिए उसका विभाग कहते हैं। यहाँपर आध्यात्मिक पुरुष, चक्षुरादि करणाभिमानी स्रष्टा जीव है, वह ही आधिदैविक चक्षुरादि के अधिष्ठाता सूर्य्यादि हैं, वहाँपर एकत्र उक्त दोनों रूपोंसे जो भिन्न है, वह आधिभौतिक चक्षुर्गोलकादि उपलक्षित दृश्य देह है, पुरुष जीव की उपाधि है। श्रुति कहती है, "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय"

मैं समस्त देहियों का जीवात्मा हूँ कारण मैं ही समस्त वस्तुके अन्तरमें रहता हूँ, मैं अन्तर्यामी हूँ। श्रुति कहती है "एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः"

अहमात्मान्तरो वाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।
यथा भूतानि भूतेषु वहिरन्तः स्वयं तथा ॥११।१६।३६
*** अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । १।२।१८**
ममाङ्गः माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धिश्च गुर्णैविधत्ते ।
वैकारिक स्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ।११।२२।३०
दृग्रूपमर्कं वपुरत्ररन्ध्रे परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा य एषमपरो ये आद्यः स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ॥
११।२२।३१
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ११।२२।३२

अन्तर बाहर रहने से आप क्या परिच्छिन्न हैं, कहते हैं, नहीं, मैं व्यापक हूँ, कारण मैं अनावृत हूँ। यह वस्तु दृष्टान्त के द्वारा सुस्पष्ट कर रहे हैं—जैसे चतुर्विध भूतोंमें महाभूत वाहर एवं अन्तर भी रहते हैं वैसे मैं भी स्वयं समस्त वस्तुओं के वाहर व अन्तर में रहता हूँ।

वह पृथिवी में अवस्थित होने परभी पृथिवी से पृथक् है, पृथिबी उनको जानने में समर्थ नहीं है, पृथिवी जिनका देह है, जो पृथिवी का नियन्ता है, आप ही अन्तर्यामी, आत्मा, अमृत है, श्रुतिकी उक्तिमें पृथिवी प्रभृति के अन्तरस्थ एवं उन सव के नियन्ता है, ऐसी प्रतीति होने से आप प्रकृति व जीव है ऐसा सन्देह उपस्थित होता है, इस प्रकार सन्देह निरसनार्थ कथित होता है कि—विभु, ज्ञानानन्दता तदवेद्यता, अमृतत्त्व, तन्नियन्तृता एवं सर्वान्तःस्थत्वादि धर्मके अभिधान होने के कारण अधिदैवादि वाक्यमें जो परमात्मा कथित है, उनको यहाँपर पृथिवी आदिका अन्तर्यामी जानना होगा।

मेरी गुणमयी माया गुणके द्वारा अनेक प्रकार विकल्प बुद्धिकी रचना करती है। इसमें वैकारिक-त्रिविध, अध्यात्म-एक, अपर अधिदैव तथा अधिभूत भी है।

उन रूपों को कहते हैं—दृग्,-अध्यात्म, रूप-अधिभूत, यहाँपर चक्षुरन्ध्र में चक्षु गोलक में प्रविष्ट सूर्य्यांशु अधिदैव है। इन सव के प्रकाशके प्रति परस्पर की अपेक्षा है, चक्षु से रूप ज्ञात होता है, इसको अन्यथानुपपत्ति से चक्षु की स्थिति होती है, इसकी प्रवृत्ति के लिए अधिष्ठात्री देवता है, जिससे चक्षु की प्रवृत्ति होती है, तदनन्तर रूपका ज्ञान होता है। इस प्रकार तीनों की परस्पर अपेक्षा रहती है।

*** न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् १।२।१६**

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम् ।
यो जार्गात्ति शयानेऽस्मिन् नायं तं वेद वेद सः ॥८।१।६॥
यत् पश्यति न पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति ।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥८।१।११॥

यहाँपर दृष्टान्त के द्वारा उक्त विषय का स्पष्टीकरण करते हैं, आकाश में जो अर्क अवस्थित है, मण्डलात्मा स्वतःसिद्ध है, चक्षु का विषय होनेपरभी इनकी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं है, अत स्वतः अवस्थित है, आत्मा विकारी नहीं है, कारण यह है आत्मा इन अध्यात्म प्रभृति का आद्य कारण है, अत एकरूप अभिन्न है, और इनसव से भिन्न है, यह आत्मा स्वप्रकाश है, स्वयानु भूत्या स्वतःसिद्ध प्रकाश के द्वारा अखिल कारण और इन के प्रकाश का भी प्रकाशक है, सव पदार्थ ही चित् प्रकाश के द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। अतएव परमात्मा स्वतः सिद्धत्वस्थापित हुआ है।

और भी कहते हैं—जैसे चक्षुः वैसे ही त्वगादि भी है, त्वग् से स्पर्श वायु का जानना होगा, श्रवण से शब्द व दिक्, जिह्वासे रसः वरुण, नासिका से गन्ध, अश्विनी कुमार, चित्तसे अन्तःकरण समूह को जानना होगा। यहाँपर चित्तसे चेतयितव्य व वासुदेव, मनः से मन्तव्य व चन्द्र, बुद्धिसे वोद्धव्य व ब्रह्मा, अहङ्कार से अहङ्कर्त्तव्य और रुद्र है, इस प्रकार त्रिविध प्रकारको जानना होगा।

उक्त कारणों से स्मृति शास्त्रोक्त प्रधान अन्तर्यामी नहीं है, द्रष्टृत्वादिधर्म कदाच प्रधानका कभी नहीं हो सकता, जो अमना होकरभी मनन कर्त्ता है, अदृष्ट होकरभी द्रष्टा है, अविज्ञात होकरभी विज्ञाता है, अश्रुत होकरभी श्रोता है, जिनको छोड़कर मनन कर्त्ता, द्रष्टा, विज्ञाता व श्रोता नहीं है, वह ही अन्तर्यामी आत्मा है।

जिन चिदात्मा परमात्मा से विश्व में चेतना आती है, विश्व जिनको प्रकाश कर नहीं सकता, परमात्मा स्वत ही चिद्रुप है, विश्व निद्रित होनेपर जो जाग्रत रहता है, अर्थात् साक्षीरूपमें विराजित हैं, अहो आश्चर्य की वात है कि—जनगण उनको नहीं जानते, किन्तु आप उन सवको जानते हैं।

अच्छा ! यदि आप सर्वत्र अवस्थित हैं, तव आप चक्षुयों के द्वारा क्यों नहीं दृष्ट होते हैं, इसलिए कहते हैं जन, अथवा चक्षु जिनको देखकर भी देख नहीं सकते, क्यों कि आप चक्षु आदिका अविषय है, प्रमाता को प्रमाण अपना विषय नहीं कर सकते, श्रुतिभी कहती है, "चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्र-मित्यादि"। विषय नाश होने से ज्ञान का नाश होता यह नियम यहाँपर लागू

*** शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।।१।२।२०।।**

तमीहमानं निरहं कृतं वुधं निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम् ।
नृन् शिक्षयन्तं निजवर्त्म संस्थितं प्रभुं प्रपद्येऽखिल धर्मभावनम् ।।
८।१।१६

*** अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।१।२।२१**

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भूवम् ।।८।३।३।।
तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्य्यकर्मणे ।।८।३।६।।
नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने ।
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ।।८।३।१०।।

नहीं हो सकता, क्यों कि आपका ज्ञान स्वतःसिद्ध हैं, जैसे प्रकाश्य नाश होने परभी सूर्यका प्रकाशका नाश नहीं होता है,आप समस्त भूतों के निलय हैं अर्थात् अन्तर्यामी हैं, तथापि उन सुपर्ण,–शोभन पतन असङ्ग का भजन करो।

यद्यपि योगी पुरुषको अन्तर्यामी कहा जाता है, तो भी असम्भव है, कारण व माध्यन्दिन श्रुतिमें जीव व अन्तर्यामी को पृथक् पृथक निर्देश किया गया है, वह भेद नियम्य तथा नियन्ता रूपसे ही है, अतः श्रीहरिही परमात्मा हैं

लोकानुग्रह के लिए जो विश्व सृष्टयादि करता है, एवं वेदोक्त धर्मको भी पालन करता है, उनकी शरण ग्रहण करता हूँ।

आप निजवर्त्म–नरावतार के अनुरूप मार्ग में सम्यक् रूपसे अवस्थित हैं, और कर्माचरण भी करते हैं, किन्तु आप जीवसे विलक्षण भी हैं,निरहङ्कृत निराशिष, अनन्य चोदित हैं, बुध होनेके कारण आप अहङ्कार शुन्य हैं, पूर्ण होनेके कारण निराशिष भी हैं, प्रभु होनेसे अनन्य नियुक्तत्व भी हैं। तथापि आप कर्माचरण करते हैं, क्यों कि अपने आचरण के द्वारा मनुष्यको शिक्षा देने के लिए। क्यों कि आप अखिल धर्मों के प्रवर्त्तन कर्त्ता हैं।

पराविद्यासे अक्षय पुरुष विज्ञात होते हैं, आप इन्द्रियों का अगोचर हैं, नेत्र कर्णादि विहीन प्रभु, दुर्वोध्य, करचरणादि रहित, जातिवर्जित वर्णहीन, सदैकरस, भूतयोनि व अविनश्वर हैं।

आप द्युतिशील, पुरुषाकार, अज, अमना, मूर्त्तिसंयोगवर्जित, प्राणहीन, शुभ्र, एवं जीव व प्रकृति से अतीत हैं, श्रुति इस प्रकार कहती हैं। यहाँपर

*** विशेषण भेद व्यपदेशाच्च नेतरौ १।२।२२**

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥८।३।२६॥
योग रन्धित कर्माणो हृदि योग विभाविते ।
योगिणो यं प्रपशचन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्।८।३।२७॥

*** रूपोपन्यासाच्च १।२।२३**

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।

प्रतिपाद्य विषय प्रकृति, पुरुष, अथवा परमात्मा है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, अदृश्यत्वादि धर्म परमात्मा को छोड़कर अन्यत्र असम्भव है, सुतरां परमात्मा ही पराविद्या का विषय है ।

परमात्मा का परमैश्वर्य वर्णन करते हैं। जिन अधिष्ठान में, जिस अपादान से, जिस कर्त्ता से, जो स्वयं ही यह विश्वरूप होता है, कार्य और कारण से भी आप अतीत हैं, तथा आप स्वतःसिद्ध भी हैं, आपकी शरण ग्रहण करता हूँ ।

विश्व हेतु और स्वतःसिद्धत्व कहा गया है, अव विश्व प्रकाशकत्व व स्वप्रकाशत्व का भी वर्णन करते हैं ।

उन परेश, ब्रह्म, अनन्तशक्ति, अरूप, उरुरूप, आश्चर्य कर्मरत श्रीहरि को प्रणाम करता हूँ । आत्म प्रदीप, प्रकाशान्तर का अविषय, साक्षी, प्रकाशक, मन, और वाणी का अगोचर जीव नियन्ता को प्रणाम करता हूँ ।

पूर्व कथित श्रुत्युक्त वाक्यद्वयका वाच्य प्रकृति व पुरुष नहीं हो सकता, क्यों कि सर्वज्ञादि विशेषण एवं दिव्यादि पुरुष का भेद को भी कहा गया है, सुतरां उभय वाक्य ही सर्व कारण स्वरूप श्रीपुरुषोत्तम का वोधक है ।

विश्वस्रष्टा, विश्वस्वरूप, तथा विश्व व्यतिरिक्त, विश्व-वेदधन उपकरण जिनका उनको तथा विश्वात्मा अज ब्रह्म को प्रणाम करता हूँ ।

योग के विना वह तत्त्व दुर्ज्ञेय है, भगवद् धर्मरूप योग से कर्म दग्ध होनेपर योगी के हृदयमें जो विभावित होता हैं, उन योगेश को मैं प्रणाम करता हूँ ।

श्रुतिमें भूतयोनि पुरुष का जो रूप वर्णित है वह रूप प्रकृति पुरुष का नहीं है, वह रूप परमात्माका ही है । जिन पुरुष के अवयव संस्थान के द्वारा समस्त लोक विन्यस्त हैं, वह रूप श्रीहरि का ही है, और निरतिशय विशुद्ध सत्त्व से ही यह रूप प्रकाशित है ।

तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम् ॥१।३।३॥

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।

सहस्र मूर्द्ध श्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥१।३।४

*** प्रकरणाच्च १।२।२४**

विद्याविद्ये मम तनु विद्धय्युद्धवशरीरिणाम् ।

मोक्ष बन्ध करी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥११।११।३॥

*** वैश्वानरसाधारणशब्दविशेषात् ॥१।२।२५॥**

वैश्वानरं याति विहायसागतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन रोचिषा २।२।२४

यह रूप को योगिगण अनल्प ज्ञानात्मक चक्षु से देखते हैं, वह रूप अपरिमेय पादादि युक्त अति अद्भुत है, सहस्रमूर्द्ध, सहस्रमौलि, सहस्र अम्बर कुण्डल प्रभृतियों से सुशोभित हैं।

स्मृतिभी यह प्रकरण की विष्णुपरक व्याख्या करती है, विष्णु पुराण में उक्त है, विद्या दो प्रकार की है, परा और अपरा; ऋग्वेदादिमय पराविद्या से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जो अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्द्देश्य, अरूप, पाणिपादसे रहित, विभु, सर्वगत, नित्य, भूतयोनि, कारण रहित है, और जो अपने से इतर में व्यापक इतर कर्त्तृक अव्याप्य है, वह ब्रह्म ही मोक्ष प्रार्थी जीवका ध्येयरूप परम धाम है, श्रुतिवाक्य में कहे हुए वह सूक्ष्म ब्रह्म ही विष्णुका परम पद है, वह अक्षर पुरुष ही भगवान् शब्द वाच्य है, यह ही परमात्माका स्वरूप हैं। भगवत शब्द उस आदि अक्षरपुरुष का वाचक है। इस तत्त्व अवगत होने से जीव को पुरुषार्थ लाभ होता है, इस से भिन्न त्रयीमय है।

हे उद्धव ! विद्या ओर अविद्या मेरी शक्ति है, विद्या से शरीरी जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं, और अविद्या से संसार को प्राप्त करते हैं।

उपनिषद् में उक्त है, वैश्वानर को ध्यान करो, क्यों कि वैश्वानर ही ब्रह्म है, यहाँपर जिज्ञासा यह है कि—वैश्वानर शब्द से उदराग्नि, देवताग्नि, भूताग्नि, अथवा विष्णुका वोध होता है ? इसके उत्तरमें कथित है—साधारण वैश्वानर शब्द से उक्त चतुष्टय का ही वोध होता है, किन्तु यहाँपर उक्तरूप अर्थ नहीं है, विष्णु साधारणतः द्यु—मूर्द्धादि शब्दसे भी कथित होनेके कारण, उक्त वैश्वानर शब्द विष्णुका ही वोधक है. इस प्रकार आत्मशब्द ब्रह्मशब्द के द्वारा भी श्रीविष्णु का ही वोध होता है. वैश्वानर शब्द यौगिक अर्थसे विष्णु का वोधक है, फल वर्णन में कहा गया है—अग्नि में जैसे तूलखण्ड दग्ध होता

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥२।३।३५॥
* स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥१।२।२६॥
एकः पृथङ् नामभिराहुतो मुदा
गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषांप्रभुः ।५।१६।२५।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥११।१६।३८॥
* शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्चनेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशा-सम्भवात् । पुरुषविधमपि चैनमधीयते ।१।२।२७

है, वैसे वैश्वानर उपासक का भी पाप नष्ट होजाता है,सुतरां वैश्वानर शब्द से श्रीविष्णु को ही जानना होगा ।

आकाश मार्गसे, ब्रह्मलोक पथ के द्वारा जीव प्रथम वैश्वानर—अग्न्याभिमानी देवताको प्राप्त करता है, किस उपायसे वह उत्क्रगतिको प्राप्त करता है ? सुषुम्णा नाड़ीसे जो नाड़ी देह के वाहर भी विस्तृत है, उस ज्योतिर्मयी नाड़ी के द्वारा वह गन्तव्य स्थलको प्राप्त करता है ।

अनुभूत पदार्थे रति होती है, श्रीभगवान में वैसे प्रीति कैसे सम्भव हो ? इसके उत्तर में कहते हैं, भगवान् दृष्ट पदार्थ हैं, कैसे ? अन्तर्यामी रूपमें आप सर्वत्र हैं, कैसे जाना जाता है ? उत्तर में कहते हैं—दृश्य व बुद्धयादियों के द्वारा जैसे वस्तु दृष्ट होता है, वैसे परमात्माभी दृष्ट है, उसको दो प्रकार से कहते हैं—जड़ दृश्य पदार्थों का दर्शन, एवं बुद्धयादिकों का दर्शन स्व प्रकाश द्रष्टाके विना सम्भव नहीं है, ऐसे अनुपपत्ति मूलक प्रमाण से स्व प्रकाश अन्तर्यामीका वोध होता है, इस प्रकार बुद्धयादि कर्त्तृ प्रयोज्य है, कैसे यह सब करण है, करण सब सचेतन कर्त्ता के अधीन होते हैं, कर्त्ता स्वतन्त्र हैं, इस प्रकार ईश्वरका सर्वोपास्यत्व सिद्ध हुआ है ।

श्रीमद्भगवद्गीता विभूतियोगमें श्रीभगवान् ने कहा, मैं जीवके शरीर में वैश्वानर रूपमें अवस्थान करता हूँ । सुतरां स्पष्टत ही वोध होता है कि वैश्वानर शब्द से श्रीहरि को छोड़कर दूसरे का वोध नहीं होता है ।

आप स्वयं समस्त आशिषों से पूर्ण हैं, आप स्वराट् हैं, आप एक हैं, किन्तु पृथक्पृथक् अनेक नामों के द्वारा आपको वुलानेसे आप स्वयं ही आकर समस्त वस्तु ग्रहण करते हैं, और वुलाने वाले को आशिष से पूर्ण कर देते हैं ।

जीव-ईश्वर रूप जो द्विविध स्थिति, एवं गुण गुणिरूप, क्षेत्रज्ञ-क्षेत्ररूप

अहमात्मान्तरोवाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् ।
यथा भूतानि भूतेषु वहिरन्तः स्वयं तथा ॥११।१६।३६॥
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः
सुरासूरः नरा-नगाः खगा–मृग–सरीसृपाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः
पशवः पितरः सिद्धा विद्यध्राश्चरणाद्रुमाः ॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ।
ग्रहर्क केतव–स्तारा–स्तड़ितस्तनयित्नवः ॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥२।६।१३–१६॥
* अतएव न देवता भूतञ्च ।१।२।२८।
स सर्वधी वृत्त्यनुभूत सर्व आत्मा यथा स्वप्न जनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेत् यत्र आत्मपातः २।१।३९

जो विभाग है, यह सवही मेरे विना कुछभी नहीं होते । अर्थात् मैं ही सवहूँ ।

वैश्वानर शब्द के द्वारा उदराग्नि का भी वोध होता है, अधुना उक्त आशंका निरसन के लिए कहते हैं—यहाँपर वैश्वानर शब्द से अग्निका वोध नहीं हो सकता । ऐसा होने से द्युमूर्द्धादि विशेषभी असङ्गत होगा । एवं पुरुष के अन्तर अवस्थित होने परभी पुरुष विधत्व असम्भव होगा, एकमात्र श्रीहरि को छोड़कर पूर्वोक्त उभय विधता अन्यत्र असम्भव हैं ।

मैं आत्मा हूँ, समस्त प्राणियों के अन्तर और वाहर अनावृत होकर हूँ । जैसे समस्त भूतों में आकाश वाहर व अन्तर रहता हैं, मैं भी वैसे स्वयं सर्वत्र रहता हूँ ।

मैं, आप, भव, सव मुनिगण, सुर, असुर, नर' नग, खग, मृग, सरीसृप, गन्धर्व, सिद्धगण, विद्याधर, चारणगण, विविध जीव, ग्रह तड़ित् यह जो कुछ हुआ है, होगा, होरहा है सवही पुरुष है ।

वैश्वानर शब्दसे भूताग्नि, देवताग्नि का भी वोध नहीं होता है, सम्प्रति उसको कहते हैं, पूर्व कथित हेतु निबन्धन वैश्वानर शब्द के द्वारा भूताग्नि-देवताग्निका वोधन ही होगा । किसी मन्त्र में उक्तरूप अर्थ दृष्ट होने परभी वह प्रशंसा सूचक जानना होगा ।

सवकी बुद्धि वृत्ति में उपलब्ध उक्त एक सर्वान्तिरात्मा, सत्य, आनन्दनिधि है, उनका भजन करना आवश्यक है, अन्यत्र आसक्त होने से संसार अवश्यंभावी है ।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।१।२।२६

नाहं वेद तस्मिन्नापरं न समं विभो ।
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः ।२।५।६

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।१।२।३०

त्वं भक्तियोगपरिभावित हृत्सरोजे
आस्से श्रुतेक्षितपथोननुनाथ पुंसाम् ।
यद् यद् धिया त उरुगायविभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥३।६।११

अनुस्मृतेरिति बादरिः ।१।२।३१

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तं ॥
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्ग शङ्ख गदाधरं धारणयास्मरन्ति ॥२।२।८

जैमिनि ने कहा है कि–विश्व नेतृत्व निबन्धन, सर्व कारण कारण स्वरूप विष्णु बोधक वैश्वानर शब्द के समान प्रापणादिगुण योग के कारण अग्नि शब्द भी परमात्मा का वाचक है।

इसलिए मैं इस विश्व में, उत्तम, अधम, सम, मध्यम, समान, इस में भी नाम रूप, गुण, और इससे उपलब्ध पदार्थ, स्थूल सूक्ष्म, आदि कुछ भी पदार्थ किसी अन्य कारणों से हुआ है, यह मैं नहीं मानता हूँ। किन्तु मैं यह मानता हूँ कि सब आप से ही हुए हैं।

आश्मरथ्यऋषि यह मानते हैं कि उपासक की उपासना के अनुसार जैसी दृष्टि होती है, श्रीविष्णु भी उसी प्रकार अभिव्यक्त होते हैं।

आप भक्तियोग के द्वारा शोधित हृत् सरोज में अवस्थान करते हैं, शास्त्र श्रवणके बाद हीं आपका स्वरूप का निर्णय होताहै, और श्रवण के बिना भी आपका भक्त मनसे जो जो स्वरूप ध्यान करता है, आप उस उस स्वरूप को प्रकट करते हैं, सज्जन भक्तों को अनुग्रह करने के लिए।

प्रादेश मात्र हृदयकमल में अवस्थित पुरुष को मन में ध्यान किया जाता है, इसलिए परमात्मा को भी प्रादेशमात्र कहा जाता है, बादरि ऋषि इस प्रकार वर्णन करते हैं।

कुछ विरल व्यक्ति गण स्वीय शरीर के मध्य में जो हृदय है, उस अवकाश में अवस्थित पुरुष को स्मरण करते हैं। तर्जनी अङ्गुष्ठके मध्य में जो

सम्पत्ते रिति जैमिनि स्तथाहि दर्शयति ।१।२।३२

नातः परं परम यद् भवतः स्वरूप
मानन्द मात्र मविकल्प मविद्धवर्च्चः
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ।३।९।३

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३

आत्मेश्वरोऽतर्क्य सहस्रशक्तिः
त्वं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक् स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्व तेजसा ध्वस्त गुण प्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेद गर्भम् ।३।३३।८

अवकाशहै, उसको प्रादेश कहा जाता, प्रादेश मात्र परिमित हृदयमें परमात्मा अवस्थित है, चतुर्भुज पद्म चक्रयुक्त भी आप हैं।

जैमिनि ऋषि कहते हैं—विभु परमात्मा का प्रादेश मात्रत्व, उनकी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से जानना होगा, वह शक्ति औपाधिक नहीं है; परम् आत्मा विभु होने पर भी परिच्छिन्न आदि विरुद्ध धर्मका समावेश उन में है। सच्चिदानन्द विग्रह एकमात्र श्रीगोविन्द का है। श्रुति बारंबार कहती है, उस में सर्वधर्म, ज्ञानत्व होनेपर भी मूर्त्तत्व, एकत्व होने परभी वहुत्व है।

हे परम! आप अनावृत प्रकाश हैं, अतः अविकल्प निर्भेद, आनन्दमात्र ही आपका स्वरूप है, आप रूप से भिन्न नहीं हैं, नित्य स्वरूप हैं, अतएव में इस रूप की उपासना करता हूँ। यह समस्त उपास्य में मुख्य है, क्योंकि आप विश्वस्रष्टा हैं, अतएव विश्व से आप भिन्नहैं, और भी आप भूत-तथा इन्द्रियों का कारण हैं।

आथर्वणिक श्रुतिगण भी परमात्मा का इस प्रकार अचिन्त्य शक्तियोग का वर्णन करते हैं, "मेरी अचिन्त्य शक्तिहै, स्मृतिमें भी उक्त है-परमात्मा तर्क बुद्धि से रहित अचिन्त्य शक्ति विशिष्ट हैं। यहाँ मतों का परस्पर विरोध नहीं है,। स्कन्द पुराण में उक्त है। जो, जो, जो कुछ भी व्यवहार करता है, वह सब साक्षात् नारायण श्रीव्यास देवजी के चित्त रूप आकाश भाण्डार से संगृहीत करके ही करता है, ऐसा जानना होगा।

आप समस्त जीवों का ईश्वर हैं, आप में सहस्र अपरिमित शक्ति हैं।

प्रथमा ध्यायस्य

❀ तृतीयः पादः ❀

——※——

द्युभ्वाद्यायतनं स्व शब्दात् ।१।३।१

तव विभव खलु भगवन्
जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृज स्तेऽशांशा
स्तत्र मृषास्पर्द्धन्ति पृथगभिमत्या ।।६।१६।३५

परमाणु–परम महतो
स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्त्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्ते सत्त्वानां
यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ।।६।१६।३६

ब्रह्म, पर पुरुष, प्रत्याहृत मनसे चिन्तनीय, अपनी शक्ति से गुण प्रवाह का विनाश कारी, वेदगर्भ श्रीविष्णु की मैं प्रणाम करता हूँ।

इति श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासकृते श्रीमद्भागवतभाष्ये ब्रह्मसूत्रेप्रथमा ध्यायस्य द्वितीयः पादः।

ब्रह्महो स्वर्गादिकका आयतन रूपहैं, कारणवह नदी पार के हेतुस्वरूप सेतु के समान संसार पार रूप मुक्ति का कारण है, इस प्रकार वचन ब्रह्म में ही सम्भव है, श्रुति कहती है–" उस को ही जानकर संसार बन्धन से मुक्त होता है।

जगत् के उदय–लय स्थिति आदि आप की विभव-विभवन, महिमा, लीलाहै, आदि शब्द से प्रवेश एवं नियमन को भी ग्रहण करना होगा, विश्व स्रष्टा ब्रह्मादि--ईश्वर नहीं हैं किन्तु वे सव आपका अंश, जो पुरुष है, उसका अंश है, ऐसी स्थिति होनेपर भी वे परस्पर ईश्वर अभिमान से स्पर्द्धाकरतेहैं।

आपही एकमात्र सृष्ट्यादि कर्ताहैं। परमाणु--सूक्ष्म मूल कारण, परम महत्--अन्तिम कार्य–दोनों के हीं आप आदि अन्त मध्य में विराजित हैं, ऐसा आप का स्वभाव ही है। अतएव आप आदि अन्त मध्य शून्य ध्रुव पदार्थ है। वे सव आप से सृष्ट है। अतएव अनित्य है। कारण जो पदार्थ आदि, अन्त मध्य में विराजित है, वह नित्य है, जैसे सुवर्ण कटक कुण्डल के प्रति उकरूप है, वैसे ब्रह्म भी एकमात्र हैं।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।१।३।२

निष्किञ्चना ये मुनय

आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ।६।१६।४०

नानुमानमतच्छब्दात् ।१।३।३

अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः ६।१६।५१

प्राणभृच्च ।१।३।४

लोके वितत मात्मानं लोकञ्चात्मनि सन्ततम् ।

उभयञ्च मया व्याप्त मयि चैवोभयं कृतः ।।६।१६।५२

भेद व्यपदेशाच्च ।१।३।५

यदेतद् विस्मृतं पुंसोमद्भावं भिन्न मात्मनः

ततः संसार एतस्य देहाद् देहोमृतेर्मृ तिः ।६।१६।५७

लब्धेह मानुषं योनिं ज्ञान विज्ञान सम्भवाम्

आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचित् क्षेममाप्नुयात् ।१।१५८

ब्रह्महो मुक्त व्यक्तिका प्राप्यहै, श्रुति वाक्यके अनुसार समझना होगा ।

आत्माराम निष्किञ्चन मुनिगण अपवर्ग के लिए आप की उपासना करते हैं ।

स्मृति शास्त्रोक्त प्रधान यहाँ ग्रहणीय नहीं है । क्यों कि अचेतन प्रधान वाचक शब्द का ब्रह्म में अभाव है, किन्तु प्रधान में वह सब उपस्थित है ,

श्रीभगवान् कहते हैं--समस्त पदार्थ मैं ही हूँ । भोक्ता भी मैं ही हूँ । भोक्तृ--भोग्यात्मक विश्व, मुझको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं है । कारण मैं ही भूतों का कारण, तथा प्रकाशक हूँ ।

यहाँपर 'न' कार का अनुवर्त्तन हुआहै, और इसका हेतु अर्थ भी व्यक्त होता है । आत्म शब्द से प्राणधारी जीव का वोध नहीं होता हैं, अतति' इस व्युत्पत्ति बल से सर्वव्यापक ब्रह्म में ही उस की मुख्य वृत्ति है, जैसा कि सर्व विद् इत्यादि आगे भी कहते हैं, अतः जीव वाचक शब्द के अभाव का कारण जीव की योग्यता नहीं है ।

यह भोग्य प्रपञ्च लोक में भोक्ता रूप में वितत अनुगत आत्माको, और लोक को आत्मा में योग्य रूप से सन्ततजीव्याप्त है, इन दोनों मैं कारण रूप में व्याप्त हूँ, अर्थात् मैं ही आत्म शब्द से कथित हूँ ।

प्रकरणात् ।१।३।६

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते
मृन्मयेष्वेव मृज्जाति स्तस्मै ते ब्रह्मणेनमः ६।१६।२२

स्थित्यदनाभ्यां च ।१।३।७

सुपर्ण वेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीड़ौ च वृक्षे
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ।।११।११।६

"एकमात्र उन्ही को ही जानना" इत्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्म से जीव का भेद कहा गया है।

यदि यह मद् भाव, मेरा स्वरूप ब्रह्मको विस्मृत होकर,यह जीवआत्मा से अपने को भिन्न मानता है, इस समय से ही यह पुरुष संसार दशा को प्राप्त करता है, वह संसार देह से देहान्तर, जन्मसे जन्मान्तर, एवं मृत्यु के वाद पुन र्वार मृत्युरूप है।

ज्ञान विज्ञानसम्भव मनुष्य जन्म को प्राप्त होकर यदि आत्मा को नहीं जानता है, तव वह कभी भी मङ्गल को प्राप्त नहीं करेगा ।।

किस को जानने से समस्त जाना जाता है ? यहाँपर प्रकरण बल से ब्रह्म ज्ञान को ही जानना होगा।

जिस में यह सव कार्य कारण रहते हैं, विलीन भी होते हैं, और उस से उत्पन्न भी होते हैं, मृन्मय घटादि में मृज्जाति मात्र के समान सर्वानुस्यूत जो वस्तुहै, वह ब्रह्म है, उन को जानने से समस्त वस्तुका ज्ञान होता है,।

स्थिति और फलभोग से ब्रह्म का ही वोध होता है, द्वा सुपर्णा इत्यादि श्रुति में स्वर्गादिको आश्रय रूप में पाठ किया गया है। यहाँ एक पक्षी की कर्मफल लोभिता, और दूसरेकी कर्मफल को भोग न करके ही शरीरके मध्य में देदीप्यमान रूप से अवस्थिति का प्रतिपादन किया गया हैं, पहले यदि स्वर्गादिकं वस्तु का आश्रय रूप में प्रतिपादित नहीं होता, तव उन दोनों में से देदीप्यमान का अब्रह्मत्व रूप से प्रतिपादन होता। नहीं तो सहसा ब्रह्मत्व प्रति पादक वचन असंगत हो जायेगा। जीवत्व परक वचन असंगत नहीं होता है। कारणलोक प्रसिद्धकाही अनुवादहै। अतएव उससे ब्रह्मका ही वोधहोताहै।

सुपर्णौ, वृक्ष से पक्षी जैसे भिन्न है, वैसे दोनों देह से भिन्न है, दोनों

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ।१।३।८

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृते मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानिनृणाम् १०।८७।१५

सदृश है, चिद्रुप हैं । वियोग हीन होने के कारण तथा एक मत से चलने के कारण दोनों में सख्य है । यदृच्छा से अर्थात् अनिरुक्त माया से ही वासस्थान मिला है । वृश्च्यते अर्थ में वृक्ष-देह हैं, जो छेदन के योग्यहै । उस वृक्षके हृदय रूप स्थल में दोनों ने निकेतन वनाया हैं, उन दोनों के मध्य में एकजीव कर्म फल को भोग करता है, अन्य ईश्वर अभोक्ता होकर भी निजानन्द तृप्त बल से ज्ञानादि शक्ति के द्वारा अधिक शोभित होता है ।

नारद के समीप में सनत् कुमार गण कहे थे ! कि भूमा पुरुष विजिज्ञासितव्यहै, भूमा पुरुषको जानने से अपर वस्तु की स्फूर्त्ति नहीं होती है, केवल ब्रह्म ही सर्वत्र स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं । भूमा पुरुष को छोड़कर अपर वस्तु ज्ञात होने से अपर विषय की स्फूर्ति होती है । यहाँपर सन्देह यह है कि, प्राण किम्वा जीव है ? उत्तर में कहा जाताहै कि श्रीविष्णु ही भूमा पुरुष हैं। प्राण सचिव जीव को भूमा कहा नहीं जाता, क्यों कि भूमा पुरुष की अशेष सुख-रूपता एवं सर्वोपरिविराजमानता उपदिष्ट हैं । श्रीभगवान् के अनुग्रह से जो व्यक्ति भुक्त हुआ है, उस को संप्रसाद कहा जाता है । सम्प्रसाद प्राण सचिव जीव से समधिक गुण युक्त रूप में उपदिष्ट है, भूमा प्राण से भिन्न है। प्राण भूमा होने पर, तदूर्द्धरूप में भूमा का उपदेश असम्भव होता, श्रीविष्णु प्राण से भी उत्कृष्टहैं, उपक्रमादि से प्राण सचिव जीव उपदिष्ट है, ऐसा भी नहींकहा जा सकता, क्यों कि परमात्मामें ही आत्म शब्द की व्युत्पत्ति है । भूमा पुरुष अनुभूत होने से उन में आविष्ट व्यक्ति का अपर वस्तु का दर्शन नहीं होता । तब वहाँपर स्वल्प सुखप्रद सुषुप्ति का साक्षीभूत जीव की भूमरूपता कहना एकान्त अनुचित है, सुतरां स्पष्टत ही स्थिर हुआ कि विष्णु ही भूमा पुरुषहै ।

उपलब्ध समस्त कारणों का कारण आप ही हैं, आप बृहद् ब्रह्म हैं, बृहद् ही अवशेष में रहते हैं, बृहद् से समस्त पदार्थो की उत्पत्ति, लय, आदि होते हैं । आप ही सर्वोपादान हैं, आप विकार रहित भी हैं, घट आदिके लिए मृत्तिका के समान आप ही मूलाधार हैं । इसलिए मन्त्र द्रष्टा ऋषिगण मन एवं वाणी को ब्रह्म के लिए ही नियुक्त करते हैं । जैसे मनुष्य जहाँ भी पैर रखता है, वह पृथिवी ही है वैसे वेदगण सर्व कारण रूप में आप को ही प्रति

धर्मोपपत्तेश्च ।१।३।८

तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं
सत्यं परं धीमहि १२।१३।१६

अक्षरमम्बरान्त धृतेः ।१।३।१०

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश
मव्यक्तमाध्यात्मिक योगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवाति दूर
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ।।८।३।२१

अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमूम् ।
कूटस्थे तच्चमहति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ।।७।१२।३०
इत्यक्षरतयात्मानं चिन्मात्रमवशेषितम्
ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः ।७।१२।३१

पादन करते हैं ।

विशेषत जो धर्म है वह भूमा पुरुष के लिए कथित हुआ है, वह परब्रह्म श्रीहरि में ही उपपन्न है, अन्यत्र सम्भव नहीं है । भूमा का अमृतत्व, अनन्त्या धारत्व, सर्वाश्रयत्व एवं सर्व कारणत्व आदि धर्म श्रुति में सुस्पष्ट रूप में उक्त है । उक्त शुद्ध विमल, विशोक, अमृत रूप परम सत्य ब्रह्म को हम सव ध्यान करते हैं ।

बृहदारण्यक में लिखित है—आकाश जिस में ओतप्रोति हैं, वह अक्षर ब्रह्म है, वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व,अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह,अच्छायइत्यादि रूप है, यहाँपर जिज्ञास्य यह है कि–अक्षर शब्द से जीव, प्रधान, अथवा ब्रह्म का वोध होता है इस के उत्तर में कहते हैं– अम्बर पर्य्यन्त समस्त भूतों का आश्रय रूप में अक्षर को जव निर्देश किया गया है, तव उस शब्द से ब्रह्म को छोड़कर किसी की भी वोध नहीं होता है ।

उन अक्षर, समस्त कारणों का कारण, अव्यक्त आध्यात्मिक योग से उपलब्ध अतीन्द्रिय, सूक्ष्म वस्तु के समान अति दूर में अवस्थित, अनन्त, आद्य परि पूर्ण ब्रह्म का स्तव करता हूँ ।

जलमें क्षिति को अप को ज्योति में वायुको आकाश में आकाश को कूटस्थ में कूटस्थ को महत् में महत् को अव्यक्तमें अव्यक्त को अक्षर में विलीन करके मुक्ति के लिए चिन्मात्र अवशेष आत्मा को अक्षर ब्रह्म के साथ अभिन्न

सात्र प्रशासनात् ।१।३।११

त्वम करण स्वराड़खिलकारकशक्ति धर-
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजया निमिषाः ।
वर्षभुजो क्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः१०।८७।२८

अन्यभाव व्यावृत्तेश्च ।१।३।१२

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशाक्तिधरः ॥१०।८७।२८

रूप में चिन्तन करें।

यदि कहो, उक्त अक्षर शब्द से सर्वविकार भूत प्रकृति तथा भोग्यभूत अचेतन पदार्थों के आश्रयभूत जीव गृहीत होने से दोष क्याहै ? उत्तर मेंकहते हैं—अम्बर पर्य्यन्त यावतीय पदार्थ का आश्रय ब्रह्म को छोड़कर अपर पदार्थ में सम्भव नहीं है। प्रधान व जीव में संकल्प से जगत धारण असम्भव है।

यदि अखिल सत्त्व निकेत होने के कारण श्रीभगवान् सेव्य है, तव करण सम्वन्ध होनेसे उन में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की भी प्राप्ति होगी, ऐसा होने पर जीव के साथ उनकी समानता अनिवार्य होगी, इस संशय अपनोदन के लिए कहते हैं—अपाणिपाद होकर भी गतिशील व ग्रहीता आप हैं, अचक्षु होकर भी देखते हैं, अकर्ण होकर भी सुनतेहैं, वह समस्त वस्तु को जानते हैं, उनको कोई नहीं जानता, वह पुराण पुरुष सव के आदि हैं, ।

करण सम्वन्ध रहित होकर भी अखिल जीवों की इन्द्रियो को परि-चालन आप करते हैं। क्योकि आप स्वराट्हैं, अतएव अधिकारीवर्ग आप को पूजते हैं,

जैसे सस्त्रीक किंकर गण स्वामी की सेवा करते हैं, वैसे ब्रह्मादि देवगण आपकी सेवा करते हैं, यहाँपर दृष्टान्त इस प्रकार है„ जैसे खराडमण्डल पति महा मण्डलेश्वर की प्रजा से पूजा ग्रहण करके भी महामण्डल पतिकी पूजा करते हैं, वैसे समस्त देवगण मनुष्य से पूजा ग्रहण करते हैं, और आपकी पूजा भी करते हैं, क्यों कि वे सव आपके प्रदत्त अधिकार से अधिकारी हैं । आप से भीत होकर 'जिस जिस कर्म में वे सव नियुक्त होते हैं, कर्त्तव्य पालन करते हैं, आप की आज्ञा का पालन रूप उपहार को वे सव अर्पण करते है। श्रुति कहती है— भीषा स्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमइति ।

वृहदारण्यक में लिखित है कि— यह अक्षर अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है,

ईक्षति कर्मव्यपदेशात् सः ।१।३।१३

त्वंहि ब्रह्म परं ज्योति गूंढ़ं ब्रह्मणि वाङ्मये ।
यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥१०।६३।३४

दहर उत्तरेभ्यः ।१।३।१४

उदर मुपासते यं ऋषि वर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसर पद्धति हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१०।८७।१८

एवं अश्रुत होकर भी श्रोता हैं, यहाँपर वाक्य शेष के द्वारा अक्षर पुरुषत्व ब्रह्म भिन्न अपर में निरस्त हुआ है । सुतरां अक्षर शब्द ब्रह्म का ही वोधक है ।

आप स्वराट् हैं, स्वतः सिद्ध ज्ञान शक्ति सम्पन्न हैं, अतः आप की इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है और आप अखिल प्राणियों की जितनी भी इन्द्रिय हैं, उन सवों को शक्ति प्रदान करते हैं ।

उपनिषद् में उक्त है कि—"जो प्रणवाक्षर स्वरूपा परम पुरुषको ध्यान करता है, वह स्थूल सूक्ष्म शरीर से विनिर्मुक्त होता है । ब्रह्मलोक लाभ करता है, एवं वह परम पुरुष को दर्शन करने में समर्थ होता है, यहाँपर जिज्ञास्य यह है कि—ध्यान तथा दर्शन का विषय ब्रह्मा अथवा पुरुषोत्तम नारायणहै ? उत्तर यहहै कि–पुरुषोत्तम नारायणही दर्शन का विषय है, यहाँ पर ब्रह्म लोक शब्द से विष्णु लोक को जानना होगा, क्योंकि ब्रह्मत्व श्रीविष्णु को छोड़कर अपर में सम्भव नहीं है ।

आप निखिल वाङ्मय में अत्यन्त गूढ़ हैं, कारण आप निखिल ज्योति पदार्थों का प्रकाशक हैं, एवं उस से प्रकाशित नहीं होते हैं । यह सम्भव हैं, इस लिए कहते हैं । अमलात्मा व्यक्तिगण आप का दर्शन करते है । आप स्वतः प्रकाश होने के कारण उन अमलात्मा समीप में स्वतः प्रकाशित होते हैं ।

इस ब्रह्म पूर हृदय पद्म में जो दहर आकाश है, वह ही ब्रह्मका आवास स्थल है । ब्रह्म ही, अन्वेष्टव्य है, इस उपनिषद् की उक्ति में सन्देह यह है कि दहरा काश शब्द से भूताकाश, जीव अथवा श्रीविष्णु का वोध होगा ? उत्तर में दहराकाश शब्द से श्रीविष्णु की प्रतीति होती है, क्यों कि सर्वाधारत्व, पाप हारित्व आदि गुण भूताकाश अथवा जीव में सम्भव नहीं है ।

अनवगाह्य महिमा सम्पन्न ब्रह्म की उपासना प्रथम उपाधि के अव लम्बन से होती है, उदर ही ब्रह्म ही ऐसे शार्कराक्षा उपासना करतेहैं । हृदयं

गतिशब्दाभ्यां तथा दृष्टं लिङ्गञ्च ।१।३।१५

स्वकृत पुरेष्वमीष्ववहिरन्तर संवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽशकृतम् ।।
इति नृगतिं विविच्य निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुविविश्वसिता ।।१०।८७।२०

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१।३।१६

ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद् यूयं परिनिन्दथ
सेतुं विधरणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः ।
एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः
यं पूर्वे चानुसन्तस्थुर्यत् प्रमाणं जनार्दनम् ।।
तद् ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् ।।४।३-३०-३१-३२

ब्रह्म, आरुणय उपासना करते हैं।

ऋषि मार्ग में जो जन कूर्पदृश हैं वे उदरालम्वन, मणिपूरस्थ ब्रह्म को ध्यान करते हैं, कूर्पदृश स्थूल दृष्टि सम्पन्न, शार्कराक्ष--रजः पिहित दृष्टि सम्पन्न व्यक्तिगण हृदय ब्रह्म को ध्यान करते हैं। आरुणि गण साक्षात् हृदयस्थ दहर,--सूक्ष्म को ध्यान करते हैं, परिसर प्रद्धति हृदयका विशेषण है। हे अनन्त ! आप की उपलब्धि का स्थान सुषुम्ना परमस्थान है, अनन्तर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थान का मार्ग हृदय होकर ही है। वह धाम किस प्रकार है ? जिस को प्राप्त कहने के पश्चात् मृत्यु मुख संसार में आना नहीं पड़ता हैं।

गति एवं शब्द के द्वारा भी दहर शब्द से श्रीविष्णु की प्रतीति होती है। वहपद विष्णु लिङ्गक है, श्रुति प्रमाण से भी दहराकाश शब्द विष्णुपद का वोधक है। सत्य लोक का वोधक नहीं है।

स्व कर्मोपार्जित देह रूप पुर में नर प्रभृति में भोक्तारूप में अवस्थित पुरुष को सर्व शक्त्याश्रय परिपूर्णब्रह्म का ही अंश कहा जाता है, कार्य-कारण आत्मक आवरणरहित आप हैं, इस प्रकार जीवों की गति को जान कर कविगण काम्य कर्म को त्याग करते हैं, और स्वात्मार्पण के द्वारा आपकी उपासना करते हैं, अर्पित कर्म मुक्ति दायकहै, ऐसे विश्वस्त होकर ही कविगण आप की उपासना करते हैं, जगत में ऐसी उपासना की ही श्रेष्ठता है।

इस दहर में विश्व धारण रूप महिमा दृष्ट है, सुतरां विष्णु ही दहर शब्द वाच्य है।

प्रसिद्धेश्च ।१।३।१७

हरि र्हि साक्षाद् भगवाञ्छरीरिणा
मात्माझषाणामिव तोयमीप्सितम् ।।५।१८।१३

इतर परामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ।१।३।१८

तद् ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्
विज्ञायात्मतथा धीरः संसारात् परिमुच्यते ।।१०।८६।१०
महसि महीयसेऽष्ट गुणितेऽपरिमेयभगः ।।१०।८७।३८।।

उत्तराच्चेदाविर्भाव स्वरूपस्तु ।१।३।१९

निरस्त साम्यातिशयेन राधसा
स्व धामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।।२।४।१४
देवा नारारणाङ्गजाः ।।२।५।१५

ब्रह्म एवं ब्राह्मण--समस्त वर्णाश्रम धर्माचरण कारि व्यक्तिके लिएसेतु मर्यादारूप है। यह पथ मङ्गल मय है, और इसे पहले ऋषियोंने ग्रहण किया था, क्योंकि जनार्दन ही इस का मूल है, वह ब्रह्म परमशुद्ध सनातनों का एक मात्र अवलम्वनीय है।

को ह्येवान्यात् इत्यादि—श्रुति की उक्ति से भी ब्रह्म में ही आकाशकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

भगवान् श्रीहरि शरीरियों के लिए साक्षात् आत्मा है, जैसे मीनों के लिए जल ईप्सितहै, उस के विना जीवन धारण असम्भव है, वैसे ही शरीरियों के लिए श्रीहरि हैं।

संप्रसाद जीव इस देह से उत्क्रान्त होकर परम ज्योति रूप को प्राप्त होता है, यहाँपर सन्देह है कि दहर वाक्य में जीवका उल्लेख होने से दहर शब्द से जीव गृहीत होने से दोष ही क्या होगा? उत्तर में कहते हैं--उपक्रम में कथित अपहत पाप्मत्वादि अष्ट विधगुण, जीवमें उपपन्न होना असम्भव है। सुतरां उपक्रम वाक्य को देखकर जीव को ग्रहण करना अयौक्तिक होगा।

आत्म रूपमें उन ब्रह्म, परम सूक्ष्म, चिन्मात्र, सत् तथा अनन्त को जानने से धीर व्यक्ति संसार से मुक्त होता है।

आप परममैश्वर्य अणिमादि अष्ट विभूति में विराजित होते हैं, आप अपरिमित ऐश्वर्यशाली हैं।

सूत्र में 'तु' शब्द शङ्का निरसन के लिए दिया गया है, 'न' कार का

अन्यार्थश्च परामर्शः ।१।३।२०

यदङ्घ्रिभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
समे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥२।४।२१

अल्पश्रुतेरितिचेत् तदुक्तम् ।१।३।२१

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥२।४।१६

भी इस सूत्र में अनुवर्त्तनीय है। प्रजापति वाक्य में साधन से आविर्भावित स्वरूप के उपदेश के कारण, नित्यं आविर्भाव स्वरूप का ग्रहण नहीं किया जाता है। दहर वाक्य में कथित अष्ट गुण नित्य आविर्भूत रूप से प्रतीत होते हैं, अतएव दोनों में महत् अन्तर जानना होगा, और भी साधन के द्वारा आवि भावित अष्ठ गुण विशिष्ट जीव में सेतुत्व, जगत् विधारकत्व, आदि धर्म भी असम्भव है, अतएव दहर शब्द से परेश का ही वोध होता है।

श्रीहरि अचिन्त्य ऐश्वर्य युक्त हैं, जिन की अपेक्षा अन्य में साम्य, अति शय भी नहीं है, ऐसे ऐश्वर्यात्मक निज स्वरूप में ब्रह्म निरन्तर बिलसित हैं।

समस्त देववृन्द एवं उनके गुण समूह श्रीनारायण के अङ्ग से ही आविर्भुत हुए हैं।

उक्त वाक्य के अन्तराल में जीव का कथन हुआ है, वह परमात्म ज्ञान के लिए है, ऐसा जानना होगा। जिनको लाभ करने के अनन्तर जीव अष्टगुण-सम्पन्न स्वरूप से अभिनिष्पन्न होते हैं, वह ही परमात्मा हैं।

श्रीभगवान् ही ज्ञान प्रद है, जिनके चरणार विन्द के अनुध्यान रूप समाधि से शोधित वुद्धि के द्वारा ही जीव आत्म तत्त्व को जानते हैं, कविगण भी अपनी अपनी रुचिके अनुसार उन तत्त्व को विभिन्न प्रकार से वर्णन करते है, वह भगवान् मुकुन्द मेरें प्रति प्रसन्न होवें।

यदि कहो 'दहरोऽस्मिन्निति" इस वाक्य में अल्पत्व सुनने के कारण उस दहर मध्य में उक्त वाक्यसे जीव का वोध होनाचाहिये ? उत्तर में कहते हैं–इसका समाधान पहले हो चूका है, निचाय्यत्वात् व्योम वच्च इस सूत्रमें

अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।२२

ता नाविदन् मय्यनुसङ्गबद्ध धियःस्वमात्मानमदस्तथेदम् ॥
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नाम रूपे ॥११।१२।१२

अपि स्मर्य्यते ।१।३।२३

मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतोभव ।
अतिव्रज्यगतोस्तिस्त्रो मामेष्यसि ततः परम् ॥११।२६।४४

शब्दादेव प्रमितेः ।१।३।२४

स्मरण का स्थान के अनुसार अविचिन्त्य विभु पुरुष भी उपासक की अनुकम्पा करने के लिए परिच्छिन्न रूप में प्रकट होते हैं।

विचक्षण व्यक्ति गण, जिनके चरणार विन्द की उपासना करते हैं अनन्तर इहलोक परलोक में मनकी आसक्ति को छोड़कर अनायास से ब्रह्मगति को प्राप्त करते हैं, उन सुभद्रश्रवा को वारं वार प्रणाम करता हूँ।

नित्य गुण विशिष्ट दहर वाक्य का प्रजापति वाक्य से उक्त साधन के द्वारा आविर्भावित गुणाष्टक जीव के द्वारा अनुकरण के कारण दहर जीव से भिन्न है, जीव पहले माया के द्वारा आवृत होकर या पश्चात् ब्रह्मोपासना के द्वारा संच्छिन्न आवरण और पर ज्योति सन्निधान प्राप्त होने से आविर्भावित गुणाष्टक विशिष्ट हो जाने से ब्रह्म तुल्य हो गया है, वह ही प्रजापति वाक्योक्त जीव का दहरानुकरण कार्य है। अनुकरण कार्य से अनुकरण करने वाले का परस्पर भेद सुसिद्ध है। मुक्तजीव का ब्रह्मानुकरण निरञ्जनपरमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुति में देखने में आया है।

मेरी आसक्ति सुतीव्र होने से गोपीगणने स्वदेह एवं पति पुत्र ममता स्पद को नहीं जाना, इस लोक देहादि, एवं परलोक, कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ जैसे मुनिगण समाधि में नाम रूप को नहीं जानते, किन्तु नदी जैसे समुद्र में प्रविष्ट होकर एकहो जाती है, वैसे गोपियां भी एकान्तः करण होगयीथी।

मुक्त पुरुष भगवत् साधर्म्य लक्षण को प्राप्त करता, यह विषय श्रुति में स्पष्टतः ही है। सुतरां दहर शब्द से श्रीहरि को छोड़कर अपर का वोध नहीं होता है।

मेरे में वाक् चित्र को आविष्ट करके मद्धर्म निरत हो, ऐसा करने पर त्रिगुणात्मिका गतित्रय को अतिक्रम करने के अनन्तर मेरे को प्राप्त करोगे।

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत् पुरटमौलिनम्
अपीव्य दर्शनं श्यामं तड़िद्वाससमच्युतम् ॥१।१२।८

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् १।३।२५

हृत् पद्म कोषे स्फुरितं तड़ित् प्रभम् ॥४।९।२
हृदि हृदि धिष्ठितमात्म कल्पितानाम् ॥१।९।४२

तदुपर्य्यपि वादरायणः सम्भवात् ।१।३।२६

यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य्य विश्व-
विभावनायात्त गुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत् खलु पारमेष्ठ्यम्
पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥४।८।२०
अनन्य भावे निज धर्मभाविते
मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ।४।८।२२

कठ वल्ली में लिखित है—हृद्याभ्यन्तर में अङ्गुष्ठ मात्र जो पुरुष अवस्थित हैं, वह उपास्य है। यहाँपर जिज्ञास्य है कि—अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष शब्द से जीव अथवा विष्णु का वोध होता है। उत्तर है कि—उक्त शब्द से श्री विष्णु ही अनुमित है, क्यों कि जीव कर्मधीन है, भूत भव नियामय रूप ऐश्वर्य्य अङ्गुष्ठ परिमित पुरुष में अनुमिति है, श्रुति का यह कथन जीव में असम्भव है।

अङ्गुष्ठ परिमित हृदयमें स्मरण के लिए विभुको अङ्गुष्ठ प्रमाणकहा गया है, यह हृदय परिमाण के अनुसार ही जानना होगा, क्यों कि शास्त्र मनुष्याधिकार को हीं सूचित करते हैं,। उपासना की शक्ति न रहने से उपासना नहीं होती, सुतरां मानव देह इस के अनुकूल होने के कारण–विभु का अङ्गुष्ठमात्र परिमाण अविरुद्ध है।

हृदय पद्म कोष में तड़ित के समान कान्ति विशिष्ठ श्रीप्रभु को ध्रुवने देखा था।

विभु—आत्मवान् व्यक्ति के हृदय में आप अधिष्ठित हैं।

वृहदारण्यक में लिखित है कि— जो जो देवता ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे उन को प्राप्त करते हैं, यहाँपर जिज्ञास्य यह है कि–मनुष्यके समान देवताओं की ब्रह्मोपासना सम्भव है, कि नहीं ? उत्तर है कि–मनुष्य के उपरितन लोक वासी देवगणों की ब्रह्मोपासना ही भगवान् वादरायण इससिद्धान्त

विरोध कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्ते र्दर्शनात् ।१।३।२७

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नःस्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदय कमलं त्वद् गृहं प्रत्यवोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां नहि वहुमता नारसिंहापरैः किम् ।७।८।४२
विभजयनवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम्
रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान् मुहूर्त्तवत् ॥३।२२।४४
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वं संकल्पविद्विभुः ॥३।२३।४७

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां १।३।२८

स वाच्य वाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ।
नामरूप क्रियां धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥२।१०।३६

से स्वीकार करते हैं। उपनिषद् में इस विषय में अनेक प्रमाण है।

ब्रह्मा जिन के चरणारविन्द की परिचर्या करके ही पारमेष्ठ्य पदको लाभकिए थे, उन अभिवन्दद्य पुरुषोत्तमका अनन्य भावसे भजन करो,

देवताओं की विग्रहवत्ता की स्वीकार करने पर भी उक्त दोषनहीं होगा। क्यों कि--असीम शक्तिमान् कर्दम् सौभरि प्रभृति महर्षिगण जव काय व्यूह परिग्रह करने में समर्थ थे, तव देवगण भी युगपत् बहु रूप में आविर्भूत हो सकते हैं, अतएव उन सवोंके लिए विग्रह धारण करना असम्भव नहींहै।

इन्द्रने कहा, हे परम ! हे नृसिंह ! आप हम सवके रक्षक है, औरदैत्यने हमारे यज्ञ भाग को अपहरण कर लिया था, आपने उस को भी हम सव को प्रत्यर्पण किया, हमारे हृदय कमल में आपका स्मरण भी नहीं होता था, दैत्य के भय से दैत्य का ही स्मरण निरन्तर होता था, अव ऐसी स्थिति नहीं रहीं, दैत्य राज का निधन होने से हृदय में आपका ही निवास होगा। अतएव हे नृसिंह, तीन लोकोंके ऐश्चर्य काल कवलित होते है, आप हमें भक्तिप्रदानकरें।

महर्षि कर्दमने अपने को नौ संख्या से प्रकट किया, और अनेक वर्षों को एक मुहूर्त्त के समान अतिक्रम किया।

समर्थ सर्व संकल्प के ज्ञाता महर्षि कर्दमने नौ प्रकार से अपने को प्रकट किया था।

देवा नारायणाङ्गजाः ।।२।५।१६

प्रजापतीन् मनून् देवानृषीन् पितृगणान्पृथक् ।।२।१०।३७

अतएव च नित्यत्वम् १।३।२९

त्वं शब्द योनि र्जगदादिरात्मा ।।८।७।२५

अग्निर्मु खं तेऽखिल देवतात्मा ।।८।७।२६

कालं गतिं तेऽखिल देवतात्मनो ।।८।७।२६

मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश

यै स्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः

यत्तच्छिवाख्यं परमात्मतत्त्वं

देव स्वयं ज्योतिरवस्थितिस्ते ।।८।७।२९

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।१।३।३०।

यदि कहो कि–देवता विग्रह वादी का कर्म के साथ विरोध नहीं हो सकता, किन्तु वेद शब्दके साथ विरोध होना सम्भव है। उत्तर में कहा जाता है—नहीं। प्रत्यक्ष, अनुमान के द्वारा वह आशङ्का भी दूरहोती है, वेद शब्द नित्याकृति वाचक है, एवं यह सव शब्द का वाच्य, नित्याकृति का अनुस्मरण से ही उन विग्रह की उत्पत्ति हुई है।

वह भगवान् ब्रह्म रूप को धारण करके वाच्य वाचक रूप से वाचक रूप से नाम समूह को, एवं वाच्य रूप से रूप समुदय, एवं क्रिया समूह का सृजन किया है, वह सकर्मक एवं अकर्मक भी हैं।

प्रजापतियों को, मनुष्यओं को, देवता ओं को, ऋषियों को पितृगणको पृथक् पृथक् रूपसे सृजन किया देवतागण श्रीनारायणके अङ्ग से उत्पन्नहुएहैं।

इस प्रकार नित्य आकृति वाचित्व एवं कर्त्ता की स्मृति के साथ सृष्टि होने के कारण वेद शब्द की नित्यता की सिद्धि होती है।

आप शब्द रूप वेद की उत्पत्ति भूमि हैं, स्वतः सिद्धज्ञान स्वरूप भी आप हैं, जगदादि–महत्तत्त्व आत्मा अहङ्कार भी आप हैं।

अग्नि सर्व देवता है, श्रुति ऐसी कहती है। वह अग्नि आप का मुख है आप अखिलात्मा हैं, काल आप की चेष्टा है, तथा आप ही आश्रय हैं। हे ईश ! पञ्चोपनिषद्–तत् पुरुष, अघोर सद्योजात, वामदेव, ईशान रूप मन्त्र

सर्वभूतमयो विश्वं ससर्ज्जेदं स पूर्ववत् ॥२।६।३८

स एव आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ।

आत्मात्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पातिच २।६।३६

मध्यादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः १।३।३१

ब्रह्मादयो वहुतिथं यदपाङ्ग मोक्ष

कामास्तपः समाचरन् भगवत् प्रपन्नाः ॥११।६।३३

ज्योतिषि भावाच्च ।१।३।३२

एक स्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः

सत्यः स्वयं ज्योति रनन्त आद्यः

नित्योऽक्षरोऽजस्त्र सुखो निरञ्जनः

पूर्णाद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥१०।१४।२३।

आपका मुख है, जिस मुख के द्वारा अष्टोत्तर त्रिशत् कालात्मक मन्त्र का आविर्भाव हुआ है ।

नैमित्तिक प्रलय के अन्त में कर्त्ता की स्मरण पूर्विका सृष्टि हो सकती है, किन्तु प्राकृतिक प्रलय के समय प्रकृति शक्ति संयुक्त परमेश्वर को छोड़कर अपर पदार्थों का जव विलय होता है, तव स्मरण पूर्विका सृष्टि कैसे सम्भव होगी ? इस आशंका निरास करने के लिए कहते है—महाप्रलय के अवसान में जो सृष्टि होती है, वह भी पूर्व कल्पोक्त नाम रूप की आदि सृष्टि होती है। वह भी पूर्व सृष्टि के ही समान होती है। अतएव इस से वेद शब्द के साथ विरोध भी नहीं होगा ।

सर्वभूतमय ने पूर्व सृष्टि के समान ही इस विश्व को सृजन किया ।

वह आद्य पुरुष प्रति कल्प में सदृश सृष्टि करते हैं, रक्षण तथा विनाश भी स्वयं करते हैं।

सम्प्रति जिज्ञास्य है कि--ब्रह्म विद्यामें देवताओं का अधिकार होसकता है, किन्तु जिस विद्या में देवगण ही उपास्य है, उस में वे सव अधिकारी हैं या नहीं ? इसके उत्तर में विवृतहै कि—जैमिनि ऋषिने देवगणों के अधिकार का निर्णय नहीं किया है, क्यों कि वह सम्भव नहींहै, उपास्यत्व एवं उपासक-त्व उभय धर्म एक व्यक्ति में रहना असम्भव है ।

ब्रह्मादि देवगण अपने के प्रति श्रीहरि की दृष्टि पात के लिए वहुकाल सम्यक् रूप से तपस्या करते हैं ।

त्वंहि ब्रह्म परं ज्योति गूंढ़ं ब्रह्मणि वाङ्मये १०।६३।३४

भावन्तु वादरायणोऽस्तिहि ।१।३।३३

अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ।।१०।६३।४३
तं त्वा जगत् स्थित्युदयान्त हेतुं
समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।।
अनन्य मेकं जगदात्मकेतं
भवापवर्गाय भजाम देवम् ।।१०।६३।४४

शुगस्य तदनादर श्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यतेहि१।३।३४

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धुनां त्रयी न श्रुतिगोचरा १।४।२५

देवगण केवल ज्योतिरूप पर ब्रह्म के उपासक हैं, यह श्रुति में है, सुतरां ब्रह्म आराधना को छोड़कर अन्य विद्या में वे सब अधिकारी नहीं हैं,

आप ही एकमात्र सत्य है, और उपास्य हैं, कारण; आदि आत्मा है, आप अधिकारी हैं, क्यों कि आद्य कारण आप ही हैं,, । सृष्ट्यादि कार्य के पहले ही आप हैं, क्यों कि आप पुराण हैं । , आप पुरुष हैं, श्रुति कहती है, पूर्व्वमेवाहमिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वमिति, जन्मादि विकार आप में नहींहै, आप नित्यहैं । वृद्धि परिणाम-अपक्षय विनाश भी आप में नहीं हैं, क्यों कि-- आप पूर्णअक्षर अजस्र सुख--अमृतहैं, अनन्त अद्वय होने के कारण आप पूर्णहैं । आप ही, अमृतहैं, क्योंकि स्वयं ज्योति निरञ्जन, एवं उपाधि से मुक्त हैं, निर्म्मिल हैं ।

आप ही परं ज्योति स्वरूप ब्रह्म हैं और शब्दकाअगोचर हैं ।

श्रुत्युक्त मध्वादि विद्यामें देवगण का अधिकार है, श्रीवादरायण का भी यह मत है ।

मैं, ब्रह्मा देवगण, मुनिगण, शुद्धमन होकर सर्वतो भावेन, आत्मा, प्रेष्ठ, ईश्वर, आप की शरणागत हूँ । हे भगवन् ! आप ही भजनीय हैं, हमें भक्ति प्रदान करें । जगत् के स्थिति आदि का हेतु आप हैं, सम, प्रशान्त, सुहृद, आत्म दैव आप ही हैं, अनन्य एक, अन्तर्यामी रूप आप ही हैं, अपर कोई भी भजनीय नहीं हैं, भक्ति प्राप्ति के लिए हमसब आप का भजन करते हैं ।

भगवान् रैक्क जानश्रुति नामक एक शूद्रनरपति को । संवर्ग विद्या उप देश किये थे, ऐसी प्रसिद्ध है । सुदरां जिज्ञास्य यह है कि वेद विद्या में शूद्र

क्षत्रियत्वावगते श्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।१।३।३५

दृढ़ व्रत सत्य सन्धो ब्रह्मण्यो बृद्ध सेवकः
शरण्यः सर्व भूतानां मानदो दीनवत्सलः ।।४।१६।१६
मातृभक्तिः पर स्त्रीषु पत्न्यामर्द्ध इवात्मनः
प्रजासु पितृवत् स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ।।
देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्द्धनः
मुक्त सङ्ग प्रसङ्गोऽयं दण्ड पाणिरसाधुषु ।।४।१६।१७–१८

संस्कार परामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।१।३।३६

संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम्
इज्याध्ययन दानानि विहितानि द्विजन्मनाम्

जाति अधिकारी है, या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। वेद विद्या में शूद्र अधिकारी नहीं है, जानश्रुति को छान्दोग्य उपनिषद् में शूद्र कह कर सम्बोधन किया गया है, सत्यहै, किन्तु आप प्रकृत शूद्र नहीं हैं, पुत्रायण गोत्र में आपका जन्म हुआ है, राजा शोक ग्रस्त हुए थे, इस लिए उनको शूद्र शब्दसे सम्बोधन किया गया था।

स्त्रीं, शूद्र, तथा द्विजबन्धु वेद श्रवण करने में अधिकारी नहीं है।

पूर्वोक्त राजा जानश्रुति क्षत्रिय थे, श्रुत्यादि में चैत्र रथबोधक जोसब शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उससे उनका क्षत्रिय सिद्ध होता है।

दृढ़ व्रत, सत्यसन्ध, ब्राह्मण सम्मान कारी, वृद्धसेवक, समस्त प्राणियों के आश्रय दाता, प्राणिमात्र को मान दाता, दीन वत्सल, परस्त्री में मातृभाव पत्नी के प्रति अर्द्ध देह की बुद्धि से प्रीतिमान्। प्रजाके प्रति पिता के समान स्निग्ध, विद्वानों का किङ्कर देह धारियों के समीप में आत्मा के समान प्रेष्ठ, शोभन हृदय वालों का आनन्द वर्द्धन कारी, मुक्त सङ्ग में प्रकृष्ट आसक्त, असाधु के प्रति दण्ड प्रदाता यह सब क्षत्रियके गुणों से विभूषित थे।

वेद में शूद्र का अधिकार नहीं है, इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, वेदमें अधिकारी के लिए संस्कार की अपेक्षाहै, शास्त्रोक्त संस्कार होने पर वेदाध्ययन में अधिकार होता है। अष्ट वर्ष में ब्राह्मणको, एकादश वर्ष में क्षत्रिय को, एवं द्वादश वर्ष मेंवैश्यको उपनयन संस्कार ग्रहण करना अनिवार्यहै। उस के बाद वे सब वेदाध्ययन करेंगे। शूद्र के लिए जब उपनयन संस्कार ही नहीं हैं, तब वेदाध्ययन में भी शूद्र का अधिकार नहीं है। द्विज का लक्षण है कि संस्कार

जन्म कर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रम चोदिताः ।।७।२१।१३

विप्रस्याध्ययनादीनि षड्न्यस्याप्रतिग्रहः

राज्ञो वृत्तिः प्रजा गोप्तुरविप्राद्वाकरादिभिः

वैश्यस्तु वार्त्ता वृत्तिः स्यान्नित्यं ब्रह्म कुलानुगः

शूद्रस्य द्विज शुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनोभवेत् ।।७।११।१४-१५

शमो दम स्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्

ज्ञानं दयाच्युतात्मतत्त्वं सत्यञ्च ब्रह्म लक्षणम् ।

शौर्य्यं वीर्य्यं धृतिस्तेज स्त्यागश्चात्मजयःक्षमा ।

जिसका अविच्छिन्न है, वह द्विज है, यह संस्कार गर्भाधान आदि समस्त संस्कार मन्त्र से जिसका हुआ है, वह ही द्विज है। ऐसा होने पर अविच्छिन्न संस्कार शूद्रभी द्विज कहलायेगा, ? नहीं, ब्रह्मा जिसके लिए उक्त मन्त्र ग्रहण के द्वारा संस्कार का विधान किए है, वह ही द्विज होगा, शूद्र मन्त्र युक्त संस्कारवान् नहीं है, और नतो उपनयन ही है, अतः शूद्रका द्विजत्व नहीं है। स्मृति इस प्रकार कहती है। विवाह मात्रं संस्कारं शूद्रोऽपि लभते सदा न केनचित् समसृजत् छन्दसा तं प्रजापतिरिति। श्रुति भी इस प्रकार है, गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्। जगत्या वैश्यम्, न केनचित् शुद्रम् ।। अतः शूद्र के लिए विवाह के अतिरिक्त अपर संस्कार की आवश्यकता नहीं है। उपनयन संस्कार तो शूद्र के लिए सर्वथा निषिद्ध है, अतः उस का द्विजत्व नहीं है।

त्रैवर्णिक के लिए धर्म कहते हैं, इज्या, अध्ययन, दान, एवं आश्रमोचित कर्म, द्विजाति के लिए विहित है, किन्तु जो जन्म से ही विशुद्ध है, विशुद्ध कुल, विशुद्ध कर्म एवं विशुद्ध आचरण शील के लिए उस धर्म है। जो दुष्कुल में उत्पन्न हुआ हैं, तथा दुराचार परायण है, उस के लिए उक्त धर्म विहित नहीं है। जन्म कर्म से शुद्ध व्यक्ति ही ब्रह्म चर्य्यादि आश्रम विहित क्रिया करेंगे शूद्र का एक ही धर्म है, वह वर्णधर्म है, आश्रमभेद के द्वारा विशेष धर्म का विधान उसके लिए नहीं है।

ब्राह्मण के लिए षट् कर्म विहित है-इज्या अध्ययन दान, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, जीविकाके लिए तीन कर्म है, अध्यापन, याजन, विशुद्ध व्यक्तिसे दान ग्रहण क्षत्रिय के लिए दान ग्रहण निषिद्ध है। प्रजापालने में रत क्षत्रिय की वृत्ति इस प्रकार है। प्रजा पालन, ब्राह्मण को छोड़कर अपर प्रजा से कर ग्रहण, दण्ड एवं शुल्क से धन ग्रहण, वैश्यकी वृत्ति है, कृषि वाणिज्यादि

ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्रलक्षणम् ।
देव गुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्ग परिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ।
शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया ।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥७।११।२१-२४।

तदभाव निर्द्धारणे च प्रवृत्तेः १।३।३७

स्त्रीशूद्र द्विज बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।१।४।२५

श्रवणाध्यनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ।१।३।३८

मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरुद्वह
यस्तून्मखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणोगुरुः ।

शूद्र के लिए वृत्ति है-द्विजाति की शुश्रूषा, एवं द्विज स्वामी की शुश्रूषा ।

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षान्ति, सरलता, ज्ञान, दया, सत्य, भगवत्प्रीति यह सव ब्राह्मण लक्षण में आते हैं।

शौर्य्य, वीर्य्य, धृति, तेज, त्याग, आत्मजय, क्षमा, ब्राह्मणके आनुगत्य, प्रसाद., सत्य यह सव क्षत्रिय के लक्षण है ।

देवता, गुरु, अच्युत में भक्ति, त्रिवर्ग परिपोषण, आस्तिक्य उद्यम, नैपुण्य, यह सव वैश्य के लक्षण है ।

नम्रता, शौच, अमायासे प्रभुकीसेवा, मन्त्र हीन यज्ञ, आस्तिक्य, सत्य, गो, विप्र की रक्षाकरना, शूद्र के लक्षण है । अमन्त्र यज्ञ अर्थात् नमस्कार के द्वारा ही पञ्चयज्ञानुष्ठान करना, याज्ञवल्क्यने कहा है नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान् न हापयेदिति ।

छान्दोग्य में गौतम ऋषि ने जावालि को गोत्र विषयक प्रश्न करने पर उत्तर में जावालिने कहा मैं नहीं जानता हूँ ।" इस सत्य वाक्य से सन्तुष्ट होकर, ब्राह्मण कभी मिथ्या नहीं वोलते हैं, इस प्रकार धारणा से जावालि का अशूद्रत्व निश्चय किया था । पीछे उसे ब्राह्मण कह कर संस्कारोपयोगी समिध लाने का आदेश किया या, यहाँ ब्राह्मण शब्द से उपलक्षित त्रिवर्ण का ही संस्कार हो सकता है, और का नहीं हैं, अतएव शूद्र का वेदशब्द में अनधिकार है,--यह स्थिर हुआ ।

स्त्री शूद्र--द्विज बन्धुओं का वेद अध्ययन करने में अधिकार नहीं है ।

शूद्र वेद श्रवण न करे, श्रुति में इस प्रकार वर्णित है, सुतरां वेद में शूद्र

वाहुभ्योऽवर्त्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुवर्त्ततः ।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥
विशोऽवर्त्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।
वैश्यस्तदुद्भवो वार्त्तां नृणां यः समवर्त्तयत् ॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्मसिद्धये ।
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद् वृत्त्यातुष्यतेहरिः ॥
एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।
श्रद्धयात्म विशुद्धयर्थंयज्जाताः सह वृत्तिभिः ।३।६।२६-३३

कम्पनात् ।१।३।३६

अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा।
मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्त भगवत्तेजसान्वितः ६।१०।१३

अधिकारी नहीं हो सकता । स्मृति में भी शूद्र के लिए वेद श्रवण निषिद्ध वचन दृष्ट होता है ।

वेद मुख से उद् भूत होते हैं, ब्राह्मण भी पुराणपुरुष के मुख से उद् भुत होने के कारण मुख के समान ब्राह्मण वर्णो का मुख्य गुरु हैं । अध्यापन वृत्ति के साथ ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुए । इस प्रकार वाकी तीन वर्णों के विषय में जानना होगा ।

क्षत्रिय की पालन रूपा वृत्ति हैं । वह क्षत्रिय बाहू से आविर्भूत हुआ है । श्रीविष्णु के अंश से उत्पन्न हुआ है, कण्टक रूप चौर से उपद्रुत जनताकी रक्षा-वृत्ति के साथ यह उत्पन्न हुआ है । वैश्य लोक की वृत्तिकरी व्यवस्था जीविका के लिए एकान्त आवश्यक है, अतः इस के लिए श्रीविष्णु के उरूसे वैश्य अत्पन्न हुआ ।

शुश्रूषा धर्म के लिए शुश्रूषा वृत्ति के साथ शूद्र श्रीविष्णु के चरणों से उत्पन्न हुआ है, द्विज शुश्रूषा रूप वृत्ति से श्रीहरि स्वयं ही संतुष्ट होते हैं ।

श्रीहरि जनक हैं, और आदि गुरु हैं, वृत्तिप्रद भी हैं, अतः श्रीहरिका आराधन इन सवों के लिए एकान्त आवश्यक है, आराधना की सामग्री इन सवों की स्वाभाविकी अपनी वृत्ति रूप सामग्री है इस कर्म के द्वारा श्रीहरि आराधित होकर परम सन्तुष्ट होते हैं ।

वज्रादिके साथ समस्त जगत् काँपने के कारण यहाँपर वज्र शब्द से ब्रह्म का वोध होता है । श्रीहरि, सर्वत्र गमन करने के कारण चक्र, वर्जन के

वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद् ।६।१२।३
भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ।६।८।३२
यथा दारुमयी नारीयथा पत्रमयीमृगः
एवं भूतानि मघवन्नीश तन्त्राणि विद्धिभोः ।६।१२।१०
लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशावशे
द्विजा इव शिचा वद्धाः स काल इह कारणम् ।।६।१२।८

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४०

नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा
हरेर्दधीच स्तपसा च तेजितः
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो
यतो हरिर्विजय श्रीर्गुणास्ततः ।६।११।२०

कारण वज्र, और सव खण्डन करने के कारण खड्गहै, सुतरां श्रीहरि ही इन समस्त अस्त्रो के नाम से कहे जाते हैं, परमात्मा का प्राण शब्दितत्त्व औरभय हेतुत्व भी श्रुति प्रसिद्ध है, यह वज्र शब्द भी श्रीहरिका वोध कराता है।

मुनि की शक्ति से उत्सिक्त, भगवत् तेज से युक्त इन्द्रने विश्व कर्मा-निर्मित वज्र को उठाया। वज्री इन्द्रने वज्र से छेदन किया था। श्रीहरिभूषण आयुध नाम आदि अपनी शक्ति से ही प्रकट करते हैं, अर्थात् यह सव उन से अभिन्न है।।

हे मघवन्! जैसे दारुमयी नारी, और पत्रमयी मृग मनुस्य के संकेत से चलते हैं, वैसे समस्त प्राणी जगत् ईश्वर के अधीन चलते हैं।

लोक पालों के सहित समस्त लोक बिवश होकर जिनके वशमें चलते हैं, पक्षी जैसे पिञ्जर में वद्ध होकर मनुष्य के अधीन अपनी चेष्टा करता है, वैसे विश्व वासियों के लिए काल ही परम कारण है, जिस के वश से जगत् वासी चलते हैं।

उस ब्रह्म के समक्ष सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, प्रभृति किसी का भी प्रकाश नहीं है, इत्यादि पहिले शुना जाता है, और इस के भय से अग्नि प्रभृति प्रज्वलित होते हैं, इत्यादि पीछे कहा गयाहै। दोनों स्थल में ब्रह्म मात्र वोधक ज्योतिः शब्दादिक के द्वारा ब्रह्म के द्वारा प्रभाव का वोध होने के कारण, वीच में वज्र शब्द से कही गई भयंकर वह ब्रह्म ही है, ऐसा प्रतीत होता है।

श्रीहरिके तेज से युक्त तथा दधीचिमुनि की तपस्या पूत इस वज्र से

रूपं यत्तात् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ॥
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः १०।३।२४

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४१

अनाम रूप श्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसद् परः ६।१६।२१
यन्न स्पृशन्ति नविदुर्मनो बुद्धीन्द्रियासवः
अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ६।१६।२३

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।१।३।४२

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ।

शत्रु जय करो, जहाँपर श्रीहरिहै, वहाँ ही श्री,गुण, विजय आदि होते हैं।

वेद जो कुछ रूप को कहते हैं, वह वस्तु आप ही है, साक्षात् विष्णु अध्यात्म की दीप स्वरूप हैं, वह रूप, अव्यक्त, आदिकारण रूप ,ब्रह्म स्वरूप, ज्योतिरूप, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र निर्विशेष, निरीह, इस प्रकार कार्य करने में समर्थ जो वस्तु, वह ही आप श्रीविष्णु हैं, प्रकाश, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म,, तथा सत्तामात्र शब्द विन्यास से वह वस्तु स्वप्रकाश है।

आकाश ही नाम रूप का निर्वाहक है, जो नाम रूपादि विमुक्त वह ही ब्रह्म है। वह ही आत्मा एवं अमृत है, इस प्रकार श्रुति की उक्तिसे जो आकाश शब्द दृष्ट होता है, उससे जीव, अथवा परमात्मा को समझना होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, यहाँपर आकाश शब्द से परमात्मा का बोध होता है। जीव का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्यों कि विविध रूप की निर्वाहकता,, मुक्तावस्थ जीव से पृथक आकाश की साधन करती है,, बद्धजीव को ही कर्म फल से विविध नाम रूप प्राप्त करना पड़ता है।

जीव मुक्त होकर ईश्वरत्व प्राप्त होता है, और विश्व कर्त्तृत्वादि धर्म को भी प्राप्त होता है, अतएव मुक्त जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, इस प्रकार आक्षेप का समाधान करते हैं, मुक्त जीव ब्रह्म है, इस प्रकार का अर्थ सम्भव

यह्यंब्जनाभ चरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेत् गुणकर्मजानि ।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यते आत्मतत्त्वं
साक्षाद् यथामल दृशोः सवितृ प्रकाशः ।११।३।३६-४०

पत्यादिशब्देभ्यः ।१।३।४३

नहीं है, कारण सुषुप्ति और उत्क्रान्ति स्थल में जीवसे ब्रह्म का भेद स्पष्टतः ही कहा गया है ।

सुषुप्ति काल में प्राज्ञआत्मा के साथ मिलित होकर जीव वाह्य आन्तर कुछ भी नहीं जानता है, और उत्क्रमण के समय प्राज्ञ परमात्मा के द्वारा अधिष्ठित होकर स्थूल देह को परित्याग करते समय हिक्का लेकर गमन करते हि । इस प्रकार सुषुप्ति और उत्क्रान्ति स्थल में जीव से ब्रह्म का प्रभेद सुस्पष्ट वर्णित है ।

इन्द्रियों की वृत्तिलय होनेपर निर्विकार आत्मा की उपलब्धि होती है, जरायुज, स्वेदज, अण्डज उद्भिज्ज में जीव अनुवर्त्तन करता है । आत्मा का स्वरूप अविकारी है, क्यों कि इन्द्रियगण अहङ्कार में लीन होनेपर कूटस्थ निर्विकार आत्मा का अवस्थान सुप्रसिद्धहै । लिङ्गशरीर ही उपाधि है, उसको छोड़कर विकार होता ही नहीं, उपाधिके अभाव से ही निर्विकारता की सिद्धि होती है, अहंकार पर्यन्त समस्त लीन होने पर शून्य तत्त्व पर्यवसित होता है. ऐसा नहीं है, दर्शन--स्पर्शनादि विशेष ज्ञान शून्य सुखात्मा सुषुप्ति साक्षी की ही सुखानुस्मृति होती है । एतावन्तं कालं सुखमहं सुप्तंनं किञ्चिद् अवेदिषमिति, अतः अननुभूत का स्मरण नहीं होता है, इसलिए विषय सम्वन्ध का अभाव सुषुप्ति में है, अथच सुखानुभूति होनेपर आत्मा की सिद्धि होती है ।

यदि सुषुप्ति में कूटस्थ आत्मानुभव होता है, तव संसार पुनर्वार कैसे होता है ? अतः कहते हैं, अविद्या और उस के संस्कार के कारण संसार होता है, संसार निवृत्ति का उपाय भी कहते हैं ।

जव जीव वित्तैषणादि से अपने को मुक्त कर अब्जनाभ के चरणारविन्द में भक्ति करता है, तव चित्त शुद्धि होती है, विशुद्ध चित्त में अव्यवधान से आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है, इस में दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे अमल नेत्र होने पर सूर्य का प्रकाश उपलब्ध होता है, वैसे पूर्वसिद्ध आतम तत्त्व की उपलब्धि श्रीहरिभक्ति के द्वारा विशुद्ध चित्त में होती है ।

यदि कहो कि इस से अभीष्ट सिद्धि नहीं हुई है, ईश्वर तथा जीव में भेद औपाधिक मात्र है ? इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में कहते हैं । उक्त श्रुतिमें

त्वमीशिषे जगतस्तस्थूतश्च प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।।
चित्तस्य चित्तेर्मन इन्द्रियाणां पति र्महान् भूत गुणाशयेशः ।।७।३।२६

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना
र्मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजोमहां
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ।।७।३।३१

आगे कहा गया है. "आत्मा सब से श्रेष्ठ है, सब का नियामक है. सबका अधिपति है। सबका शास्ता है, वह भूतगणोंका अधीश्वर, लोकों का ईश्वर, लोकपाल, मर्य्यादा रखनेवाले, सबका आश्रय, सांकर्य्य का निरासक है, यह सब वेद वाक्य ही ब्रह्म वस्तु को जीव से पृथक् करके निर्देश करते हैं, उक्त सर्वाधिपत्तित्व मुक्त जीव में असम्भव है, जीव सृष्ट्यादि के कर्त्ता नहीं है।

निषेध वचन से ही यह प्रतीत होता है। ब्रह्म ही जीव के अन्तर में रहकर उन सब का शासन करता हैं, इत्यादि तैत्तिरीयक श्रुति में उन समस्त धर्मों ब्रह्म का ही निर्देश करते हैं। भेद को औपाधिक नहीं कह सकते। क्यों कि मुक्ति में भी भेद सुना जाता है। अतएव वद्ध मुक्त उभय प्रकार जीव ही ब्रह्म से भिन्न हैं। सुतरां नामरूप निर्वाहक आकाश शब्द से पर मात्मा ही है, मुक्त जीव नहीं है।

श्रीहरि हि—स्वप्रकाश, जगत् प्रकाशक, जगत् कारण, सृष्टादिके कर्त्ता महान्, परमेश्वर हैं, श्रीहरि का महत्व, ईश्वरत्व निम्नोक्त वाक्य के द्वारा प्रदर्शित होते हैं। आप ही जगत् का कर्त्ता, तथा नियन्ता हैं। आप सूत्रात्मा रूपसे स्थावर जङ्गम की नियमन करते हैं। अतएव आप प्रजाओं का पतिहैं। चित्त, चेतना, मन और इन्द्रियों के स्वामी हैं, आकाश आदियों भूतों का, उन के गुण, शब्दादि विषय, वासना आदियों का नियन्ता भी हैं।

काल स्वरूप के द्वारा जगत् का संहार भी करते हैं। कालादि अवयव के द्वारा सवको क्षय करते हैं, अतः सृष्टादि का कर्त्ता होनेपर भी आप निर्विकार हैं। कूटस्थ हैं।

आत्मा, ज्ञान रूप परमेष्ठी—परमेश्वर, अज, जन्म शून्य, महान्, अपरिच्छिन्न है, और भी जीव लोक कर्म के वश से जन्मादि परिणाम की प्राप्तकरते हैं, आप उन सब जीवों के भी जीवन का हेतु हैं, क्यों कि आप आत्मा है, नियन्ता हैं।

इति वेदान्त दर्शनस्य श्रीमद् वेदव्यासकृत भागवत भाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीय पादः।

प्रथमाध्यायस्य

चतुर्थः पादः

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपक-विन्यस्तगृहीते र्दशयति च ।१।४।१

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि
हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणञ्च सूतं
सत्त्वं बृहद्वन्धुरमीशसृष्टम् ॥७।१५।४१
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मो
चक्रेऽभिमानं रथिनञ्च जीवम् ॥
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति
शरन्तु जीवं परमेवलक्ष्यम् ।७।१५।४२
यावन्नृकाय—रथमात्मवशेपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्च्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युत बलो दधदस्तशत्रुः
स्वानन्द तुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥७।१५।४५

पूर्व में निरंकुश ऐश्चर्यशाली पर ब्रह्म को ही उपास्य रूप में निर्णय किया गया है। सम्प्रति कपिल दर्शनोक्त प्रधान वाचक शब्द से युक्त वाक्यों का समन्वय विचार करते हैं।

कठवल्ली में कहा गया है, विषय समूह इन्द्रियों से श्रेष्ठ हैं, विषय से मन, मनसे वुद्धि, वुद्धि से महान् महान् से अव्यक्त, अव्यक्त से प्रकृति, प्रकृतिसे पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुष से कोई श्रेष्ठ नहीं है, वह शेष है, वह परमगति है।

यहाँ संशय यह है कि इसस्थल में अव्यक्त शब्द के द्वारा स्वतन्त्रप्रधान को कहा गया है, किम्वा शरीर की कहा गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर में कहते हैं। 'न व्यक्तं, अव्यक्तं' इस व्युत्पत्ति के द्वारा काठकादि का आनुमानिक कपिल स्मृति शास्त्रोक्त प्रधान ही वाच्य कहा गया है। यह नहीं कह सकते हो, क्यों कि यहाँ अव्यक्त शब्द से रथरूप

सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ।१।४।२

अतः परं यदव्यक्तमव्यूढ़ गुण बृंहितम् ।
अदृष्टाश्रुत वस्तुत्वात् सजीवो यत् पुनर्भवः १।३।३२

विन्यस्त शरीर का ही बोध कराता है। पूर्वग्रन्थ में आत्म शरीरादिक की रथादि रूप से कल्पना देखने में आयी है, जोव्यक्ति इन समस्त रथादिक को वश में रखकर विष्णुपद का अनुसन्धान करता है, वह अनायास से इसपथ को अति क्रमण करताहै। परिशेष में प्रकरण के बल से अवशिष्ट शरीर अव्यक्त शब्द के द्वारा विशेषतः कहा गया है। यहाँ सांख्य तत्त्व का कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार उत्तरोत्तर के परत्व स्वीकार करने में उनके मत का विरोध अपस्थित होता है

लौल्य से अज्ञ का नरक पात अवश्य होगा। अत अप्रमत्त होकर तत्त्वज्ञान के लिए यत्न करना एकान्त आवश्यक है, यह अर्थ श्रुति संवाद के द्वारा व्यक्त करते हैं।

शरीर रथ है इन्द्रिय अश्व है, इन्द्रिय स्वामी मन है। शब्दादि विषय गन्तव्य देश है, वुद्धि सूत है, सत्त्व चित्तहै, जो देह व्यापि है वन्धुर भी है, और स्वतन्त्र के समान प्रतिभात है।

दशविध प्राण-अक्ष है, और धर्म और अधर्म चक्रद्वय है, अहंकार युक्त जीव ही यहांपर रथी है शुद्ध जीव शर है, और परम ब्रह्म लक्ष्य है। जैसे धनुष से शर पात किया जाता है वैसे प्रणव के द्वारा जीव को ब्रह्म में गिरायाजाताहै।

जव तक यह नृकाय रूप रथ अपने वश में रहता है, उसी समय श्री-अच्युत के चरणार विन्द सेवारूप ज्ञान खड्गसे शत्रु की जय करना आवश्यक है, और उपशान्त होकर स्वानन्द से तुष्ट होकर रथादिक की उपेक्षाकरे।

जो शरीर व्यक्त है उसे अव्यक्त शब्द से कैसे कहा जा सकता है? इस आशंका का उत्तर देते हैं—शंका निरास के लिए तुशब्द है। कारण रूप सूक्ष शरीर यहाँ विवक्षित है, कारण यहहै कि सूक्ष्म शरीर का ही अव्यक्तत्व योग्य है, प्रलय कालमें यह परिदृश्य मानजगत् सूक्षभाव से प्रकृति में विलीन होकर अव्यक्त वीज शक्ति की अवस्था में रहताहै इत्यादि श्रुतिमें भी सूक्ष्म शरीर की अव्यक्त शब्द योग्यता दिखलायी है।

अतः स्थूल रूप से अन्यएक रूप भी आरोपित है, वह किस प्रकार है? यदव्यक्त सूक्ष्म है, इस में कारण यह है कि अव्यूढ़ गुण वृंहित है, व्यूह कर चरणादि परिणाम। अव्युढ़ो जो गुण समूह उन गुणों से रचित हैं। आकार विशेष रहित होने 'के' कारण अव्यक्त कहा गया है, यह भी कैसे सम्भव है?

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३

स एव भूयो निज वीर्य चोदितां
स्वजीवमायां प्रकृति सिसृक्षतीम् ।
अनाम रूपात्मनि रूप नामनी
विधित्समानोऽनुसार शास्त्रकृत् ।१।१०।२२

अदृष्टाश्रुत वस्तु होने से सम्भव है। जो आकार विशेष युक्त वस्तु है वह हम सव के समान दृष्ट होता है, और इन्द्रादि के समान श्रुत भी होता है, यह वस्तु वैसी नहीं हैं। इस प्रकार वस्तु की स्थिति में प्रमाण क्या है ? उत्तर में कहते हैं,–वह जीव है ? अर्थात्में जीवोपाधिहै, " जीव जीवोपाधि से निर्मुक्त होकर जीव जीव की परित्याग करके" इस वाक्य में जीवोपाधि लिङ्गदेह में जीव शब्द का प्रयोग होने के कारण जीवोपाधि रूप में कल्पित हैं, ऐसा अर्थ जानना होगा। आच्छा, स्थूल देह ही भोगायतन होने के कारण अन्य कल्पना का प्रयोजन ही क्या है ? उत्तर में कहते हैं—कारण है–कि–सूक्ष्म से जन्म होता है, अर्थात् पुनः पुनः जन्म होता है, " उत् क्रान्ति गत्यागतीनां उत्क्रान्ति प्रभृति क्रियाके लिए सूक्ष्म देह स्वीकार करना परम आवश्यक है, इसके विना उक्त नियम सम्भव नहीं होता है।

यहाँपर आशङ्का हो सकती है, कि–यदि कार्य में अनुप्रविष्ट सूक्ष्म शरीर का ही कारणत्व स्वीकार किया जाता है, तो उस से प्रधान होता है। क्यों कि सांख्य में प्रधान का ही उस प्रकार निरूपण किया गया है। इस के उत्तर में कहते हैं।

परम कारण स्वरूप ब्रह्म के अधीन होने के कारण प्रधान स्वकार्य उत्पादन करने में समर्थ होता है। और वह प्रधान पुरुष के ईक्षण में ही स्व-कार्य में प्रवत्तित होता है, किन्तु स्वतन्त्र भावसे प्रवत्तित नहीं हो सकता है। कारण यह है कि प्रधान जड़ है। इस विषय में श्वेताश्वतर श्रुति कहती है– प्रकृति तो माया है, और प्रकृति का अधिपति ईश्वर ही मायी है, मायी पुरुष माया के द्वारा इस जगत् की सृष्टि करता है, जो एक और अवर्ण होकर भी विविध आकार से भासमान अपनी शक्ति के द्वारा इस प्रकार करूँगा इस प्रकार संकल्प से अनेक वर्णो की सृष्टि करताहै। इस विचार से हमसव सांख्य मत में प्रवेश नहीं करते हैं। सांख्य के मत में प्रधान स्वतन्त्र कारण है।

सृष्टि के पहले और प्रलय के अनन्तर निष्प्रपञ्च रूप में पुरुष अवस्थान करते हैं, सृष्टि प्रलय के मध्य में सप्रपञ्च रूप में पुरुष अवस्थित होते हैं, अग्रिम संवाद से स्पष्टीकृत होता है। वह अप्रच्युत स्वरूप प्रकृति को अवलम्वन किया

ज्ञेयत्वावचनाच्च १।४।४

यत् तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यंसदसदात्मकम्
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषविशेषवत् ॥३।२६।१०

वदतीतिचेन्न, प्राज्ञोहि प्रकरणात् ।१।४।५

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात् स्वयंज्योति रजः परेशः
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमायया आत्मन्यवधीयमानः ॥

है, विश्व की सृष्टि प्रवाह अनादि है। वह प्रकृति कैसी हैं ? स्वकाल शक्ति के द्वारा प्रेरिता स्वांशभूत जीवोंको मोहित करने वाली, अतएव सृजन करने की इच्छा सम्पन्ना। इस प्रकार माया का अनुसरण पुरुषने किया, क्यों किया ? उत्तर में कहते है,--अनाम रूप जीव को नामरूप विधान करने के लिए ही अनुसरण किया है। जीवों के भोगके लिए भोगायतन उपाधि को सृजन का भी आवश्यकथा। कर्म समूहको करनेके लिए आपने वेद का भी निर्माण किया, क्यों कि आप शास्त्र कृत् हैं।

परवर्त्ती कारण से भी प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य नहीं हो सकता है। सांख्य कहते है कि—प्रकृति पुरुष के विवेक से जीव की मुक्ति होती है, अतः प्रधान ज्ञेय वस्तु है, कहीं विभुति विशेष लाभ के लिए इस प्रकार कहा जाता है, किन्तु यहाँपर यह वात नहीं आतीहै, क्यों कि—यहाँ विभुति वोधक शब्द का अभाव है, केवल मात्र अव्यक्त शब्द का उल्लेख है।

प्रकृति का लक्षण करतेहैं, जो प्रधान है, वह ही प्रकृति है। वह प्रधान किस प्रकार है ? कारण यह है कि वह अविशेष होकर भी विशेषों का आश्रय हैं, तब क्या वह ब्रह्म है ? नहीं। त्रिगुण है, वह क्या महत्वादि है ? नहीं। अव्यक्त-अकार्य्य है। यह क्या काल स्वरूप है ? नहीं। सद सदात्मक कार्य कारण रूप है। वह क्या जीव प्रकृति है ? नहीं। वह नित्य है।

यदि कहते हो अव्यक्त प्रधान का ज्ञेयत्व न कहना अप्रसिद्ध है। क्यों कि--अशब्द आदि शब्द से प्रतीत वस्तु को जानने से जीव अमरत्व लाभ करता है, इत्यादि स्थल में उस का ज्ञेयत्व कहा गया है, इस प्रकार नहीं कह सकते हो, कारण यह है कि—इस स्थल में प्राज्ञ परमात्मा को ही कहा गया हैं, पुरुष से श्रेष्ठ कोई नहीं हैं, वह समस्त भूतों में गुप्त भावसे रहकर निजस्वरूप को प्रकाशित नहीं करता हैं, इत्यादि स्थल में प्राज्ञ पुरुष को ही कहागया हैं।

यथानिलः स्थावर जङ्गमाना
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्
एवं परं भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥५।११।१३।१४

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।१।४।६

परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु
भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सुच ।७।६।२०
गुणेषु गुण साम्येच गुणव्यतिकरेतथा।
एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥७।६।२१

क्षेत्रज्ञ द्विविधत्वंपदार्थ जीव, तत् पदार्थ ईश्वर, पहले जीवका विवरण होचूका हैं, सम्प्रति जीव का प्राप्य ईश्वर का निरूपण करते हैं, क्षेत्रज्ञ आत्मा, व्यापी, पुराण,--जगत् कारण, पुरुष, पूर्ण, साक्षात् अपरोक्ष, स च स्वयं ज्योति, अजो, जन्मादि शून्य, ब्रह्मादिक का भी ईश्वर, नार जीव समूह—उसका निलय--आश्रय, नियन्ता, भगवान् ऐश्वर्यादि षड् गुणवान्। वासुदेव,--सर्व भूतों का आश्रय, स्वाधीन माया के द्वाराआत्मा जीव में नियन्तारूपमें प्राज्ञ अवस्थित हैं। दृष्टान्त के द्वारा इस का वर्णन करते हैं।

जैसे अनिल स्थावर—जङ्गम में प्रविष्ट होकर उन सव को नियमन करते हैं, वैसे ही भगवान् बासुदेव इस विश्व में प्रविष्ठ होकर इस को नियमन करते हैं ॥

अतएव प्रधान किसी प्रकार से भी अव्यक्त पद् वाच्य नहीं हो सकता है। कठवल्ली में भी कहा गयाहै, कि-पितृ प्रसाद, स्वर्ग लाभ के हेतु अग्नि विद्या और आत्म विद्या। यह तीनों ज्ञेय रूप है, तथा जिज्ञासा का विषय भी हैं। और किसी पदार्थ को नहीं कहा गया है, अतएव यहाँपर प्रधान वेद्य नहीं है, यह जानना चाहिए।

भजनीय श्रीहरि ही है, क्यों कि--आप आत्मा है, और सर्वत्र नित्य अवस्थित है, ब्रह्मा से लेकर स्थावर-जङ्गम आदि में और जीव समूह में अजीव घटादिक में महत् भूत आकाशादि में आप अवस्थित हैं।

गुणसाम्य प्रधान में गुणव्यतिकर--महत्तत्त्वादि में ईश्वर, आत्मा, अव्यय, भगवान् ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित है।

भोक्तृ, भोग्य, द्रष्टा, दृश्य के भेद, निजशक्ति माया के द्वारा होता है, प्रत्यगात्मा द्रष्टा, भोक्ताव्यापक रूप से निर्देश्य है। दृश्य भोग्यादि देह व्याप्य

प्रत्यगात्म स्वरूपेणं दृश्य रूपेण च स्वयम् ।।
व्याप्य व्यापक निर्द्देश्यो ह्यनिर्द्देश्योऽविकल्पितः ।७।६।२२
केवलानुभवानन्द स्वरूपः परमेश्वरः ।
माययान्तर्हितैश्वर्य्य ईयते गुण सर्गया ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्
भावमासुरमुन्मुच्य यथा तुष्यत्यधोक्षजः ।७।६।२४
तुष्टे च तत्र किमलभ्य अनन्त आद्ये ।७।६।२५
धर्मार्थ काम इति योऽभिहित स्त्रिवर्गः
ईक्षा त्रयी नय–दमौ विविधा च वार्त्ता
मन्येतदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ।७।६।२६

महद्धच ।१।४।७

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।

रूप से निर्देश्य होते हैं ।

स्वयं अविकल्पित अनिर्देश्य होनेपर भी इस प्रकार प्रतिभात होते हैं ।

आप केवल अनुभवात्मक आनन्द स्वरूप हैं, सर्वज्ञ और सर्वत्र विद्यमान होने पर भी मायाके द्वारा आवृत ऐश्वर्य्य होने से उपलब्ध नहीं होतेहैं ।

अतएव समस्त भूतों के प्रति दया, सौहार्द स्थापन करना, एवं आसुरिक भाव को वर्जन करना एकान्त आवश्यक है ।
इस से अधोक्षज सन्तुष्ट होते हैं, अनन्त आद्य श्रीहरि सन्तुष्ट होने से जब कुछ प्राप्त हो जाते हैं ।

धर्म से पुरुषार्थ सिद्ध होने पर भी श्रीहरि की आराधना करना ही उचित है । धर्मार्थ काम यह त्रिवर्ग है, और इस के लिए ईक्षा, आत्मविद्या, त्रयी, कर्मविद्या, नय, दम, तर्क व दण्डनीति, विविध,-कर्त्ता, जीविका, यह सब ही वेद के अर्थ स्वरूप हैं, किन्तु स्व सुहृद स्वात्मान्तर्यामी परम पुरुष के प्रति यदि उक्त सब साधन, आत्मसमर्पण के लिए होते हैं, तब वे सब सत्य होंगे । अन्यथा असत्य होंगे । यह ही वेदों के प्रति पाद्य विषय है ।

जैसे बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है, यहाँ बुद्धि से श्रेष्ठ कहने के कारण,

ज्ञानक्रियार्थफलरूप तयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ।११।३।३७

चमसवदविशेषात् ।१।४।८

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यक् धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।।
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।
गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञान गूहया ।।३।२६।३-५

और आत्मा शब्द के साथ एकार्थता होने से महत् शब्द से स्मृति कथित महत्तत्व का ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे आत्मा से श्रेष्ठत्व कहने के कारण अव्यक्त शब्द से प्रधान को ग्रहण नहीं कर सकते ।

प्रमाण का विषय न होने पर ब्रह्म नामक पदार्थहै ही नहीं ? ऐसा कह नहीं सकते । क्योंकि सत् स्थूल कार्य, असत्—सूक्ष्म, कारण, वे सब ब्रह्म ही है। कारण वह सदसत से भिन्न परम कारण है, कार्य कारण से भिन्न नहीं होताहै । एक वस्तु अनेक विध का कारण कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते है,—वह उरु शक्ति है । अनेक शक्ति युक्त है । उरु–महती, माया लक्षणा शक्ति है जिनकी । उरु शक्ति, उरु-महती माया लक्षणा शक्ति युक्त । वह ब्रह्म अनेकरूपों से प्रतिभात होते हैं । प्रथम एक ही ब्रह्म, तदनन्तर सत्त्व, रज, तम नामक त्रिवृत् प्रधान, अनन्तर क्रिया शक्ति के द्वारा सूत्र, ज्ञान शक्ति से महान् होते हैं, अनन्तर अहम् तत्त्व, जीव, एवं जीवोपाधि अहङ्कार होते हैं । अनन्तर ज्ञान क्रिया अर्थ फल रूप से भी प्रतिभात होते हैं । ज्ञान शब्द से देवता, क्रिया से इन्द्रियगण, अर्थ विषय समूह, फल—उस के प्रकाश सुखादि एक ही ब्रह्म इन सब रूपों में प्रतिभात होते हैं । स्वतः भासमान ब्रह्म अनेक रूपोंमें विलसित होने परभी उनको ज्ञात होने के कारणकी अपेक्षानहीं है, आप स्वराट्हैं।

त्रिगुणात्मिका अजा माया को आत्मीय ज्ञान से अपनाने से जीवतद्गत सुख दुःख भोग करता हैं । इत्यादि उपनिषद् उक्ति को पाठ करने से सन्देह होता है कि—अजा शब्द से स्मृत्युक्त प्रकृति किम्वा वैदिकी ब्रह्मात्मिका शक्ति है ? इस का उत्तर यहाँपर यह है कि—यहाँपर स्मृत्युक्ता प्रकृति नहीं है । क्यों कि, जन्म रहित को ही अजा कहा जाता है । इस प्रकार व्युत्पत्ति से स्मृति सिद्धा प्रकृति का बोध होने का कोई कारण नहीं है । वृहदारण्यक में

ज्योतिरूपक्रमातु तथाह्यधीयत एके ।१।४।६

प्रत्यक् धामा स्वयं ज्योति विश्वं येन समन्वितम् ।३।२६।३
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयींविभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया । ३।२६।४
दैवात् क्षुभित धर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्य्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ।।३।२६।१६।।

जैसे चमस पद के द्वारा यज्ञीय पात्र विशेष का वोध होता है, किसी विशेष चमस का वोध नहीं होता है, वैसे इस मन्त्रस्थ अजापद के द्वारा स्मृत्युक्त प्रकृति का वोध नहीं होगा।

आत्म दर्शन रूप ज्ञान ही अहंकार निवर्त्तक मुक्तिद है, अतएव तत्त्व लक्षण ज्ञान से ही प्रकृति व पुरुष का पृथक् पृथक् ज्ञान होता है, यह ज्ञान निःश्रेयसकेलिए एकान्त आवश्यक है।

इस में पुरुष का स्वरूप वर्णन करते हैं, अनादि आत्मा ही पुरुष है, वह आत्मा प्रत्यक् धाम है, सर्वस्वतः स्फूर्त्त स्वरूप है, वह संसारी नहीं है, प्रकृति से अतीत व असङ्ग है। निर्गुण, तथा स्वयं ज्योतिः है, जिनसे विश्व प्रकाशित है। इन सब हेतु से पुरुष प्रकृति से भिन्न है, यह प्रति पादन हुआहै।

प्रकृति, आवरण विक्षेपनामक शक्ति भेद से दो प्रकार है, जो प्रकृति के अविवेक से संसारको प्राप्त कर लेता है, वह ही जीव हैं। और जो प्रकृति को अपने वश में रखकर विश्व सृष्ट्यादि कार्य करते है, वह परमेश्वर है। प्रकृति के अविवेक से जीव का संसार प्रकार को वर्णन करते है। सूक्ष्म, अव्यक्त श्री विष्णु की शक्ति रूपा को लीला से आगत देखकर यदृच्छा से प्राप्त किया। लीला निम्नोक्त प्रकार है। विचित्र गुण युक्ता अनेक सरूप प्रकृति प्रजा का निर्माण किया। और इस को देखकर मुग्ध हुआ। श्रुति इस प्रकार है—अजा मेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः। अजो ऐको जूष माणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य इति। मुमुहे जीव आत्माको विस्मृत हुआ है।

श्रुत्युक्त ज्योति शब्द से ज्योतिर्वस्तु का भी प्रकाशक ब्रह्म का ही वोध होता है, तादृश ज्योतिः शब्द के द्वारा उपक्रम होने के कारण अजा शब्द के द्वारा ब्रह्म की ही शक्ति की समझना होगा।

जीव के अदृष्ट से क्षुभिता प्रकृति में चिच्छक्ति के अधीन किया, वह प्रकृति महत्तत्त्व को उत्पन्न किया, वह महत्तत्त्व प्रकाश वहुल है।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।१।४।१०

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कुटस्थो जगदङ्कुरः
स्वतेजसापिवत् तीव्रमात्म प्रस्वापनं तमः ॥३।२६।२०

न संख्योपसंग्रहादपिनानाभावादतिरेकाच्च ।१।४।११

श्रीउद्धव उवाच–

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातानृषिभिः प्रभो
नवैकादश पञ्चत्रीण्याथ त्वमिह शुश्रुम ॥

प्रत्यक् धामा स्वयं ज्योतिः वह ब्रह्म है। जिन्होंने इस विश्वको प्रकाशित किया है।

श्रीविष्णु की शक्ति रूपा गुणमयी, सूक्ष्मा प्रकृति की यदृच्छा रूप से प्राप्त किया।

संप्रति ईश्वरसे उत्पन्न प्रकृतिका अजात्व, और अजा होकर भी ज्योति रूप ब्रह्म से उत्पन्न होना किस प्रकार सम्भव है, इस प्रकार की आशंका का समाधान करते हैं।

प्रकृति में दोनों सम्भव हैं। क्योंकि तमशक्ति विशिष्ट ब्रह्म से प्रधान की उत्पत्ति कहीगयीहै,तमःशब्द वाच्या, अत्यन्तसूक्ष्मा, नित्यापरमेश्वरकीशक्तिहै।

श्रुति कहती है कि—सृष्टि के पूर्व में तमः शक्ति विशिष्ट ब्रह्म के साथ उनकी सूक्ष्म तमः शक्ति एक होकर अवस्थिता थी। उस समय समस्त तमोमय था। दिन रातकी कोई प्रतीति नहींथी, प्रलय कालमें वही शक्ति ब्रह्म के साथ एक होकर रहती हैं। किन्तु ब्रह्म में विलीन नहीं होती, पृथिवी जल में विलीन होती है, इत्यादि श्रुति में पृथिवी से लेकर अक्षर पर्यन्त का लयहोना कथित है। तमः शक्ति का लय नहीं कहा गया है, किन्तु उसका ऐक्य प्राप्त होना कहागया है, अति सूक्ष्मता के कारण विभाग की अयोग्यतासे ही ऐक्य शब्द का प्रयोग हुआ है। सिसृक्षु परमेश्वर से त्रिगुणात्मक अव्यक्त की सृष्टि होती है। और अव्यक्त से महदादि की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार प्रकृतिमें कार्यत्व और कारणत्व सिद्ध होता है। प्रलय कालमें तमः शब्द वाच्या प्रकृति ब्रह्म में अवस्थान करती है, और सृष्टि काल में प्रधानाव्यक्त आदि नाम से हिरण्मयरूप से प्रतीति होती है॥

जैसे आदित्य कारण अवस्था में एकीभूत होकर भी कार्यावस्था में वसुप्रभृति देवताओं का भोग्य मधुरूप से, और उदय अस्तादि रूप में कल्पित होनेपर भी वहाँपर कोई विरोध नहींहै, वैसेही यहाँपर भी कोईविरोध नहींहै।

केचित् षड् विंशतिप्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्य्येकादशापरे ।
केचित् सप्तदश प्राहुः षोड़शैके त्रयोदश ।।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयोयद्विवक्षया
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ११।२२।२–३

श्रीभगवानुवाच

युक्तञ्च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा
मायां मदीयामुद् गृह्य वदतां किन्नुदुर्घटम् ।।११।२२।४
महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानिमे ।।३।२६।१२
इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग् दृग्रसन नासिकाः
वाक् करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ।३।१६।१६
मनो वुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षण रूपया ।३।२६।१४
एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य च
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ।३।२६।१५

जगत् स्रष्टा ने आत्मगत विश्व को प्रकट करने के लिए महान् तीव्र तमः को उप संहार किया, कारण आप लय विक्षेपशून्य कूटस्थ है। वह तम आत्मा को आच्छादित करता है। पहिले समस्त तत्त्व को प्रकृति में विलीन किया गया था ।।

वृहदारण्यक में लिखित है कि—जिस में पञ्च पञ्चजन व आकाश प्रतिष्ठित वह आत्मा है। यहाँपर जिज्ञास्य यह है कि—पञ्चपञ्चशब्द से पञ्चविंशति एवं जनशब्द से तत्त्वको समझना होगा ? किम्वा पञ्च शब्द के द्वारा पाँच एवं पञ्चजन शब्द से किसी संज्ञा का वोध होगा ? इस का उत्तर यह है कि इस से सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्व का वोधन हीं होता है। क्यों कि—तत्त्व अनेक है। नानाभूत में अनुगत धर्मका, अभाव निबन्धन एक एक तत्त्व पचिश है। इस प्रकार अर्थ भी असम्भव है ।।

इस प्रकार अर्थ न करने पर भी पञ्चविंशति तत्त्व असिद्ध होता हैं। विशेषतः आत्मा व आकाश का पृथक् अभिधान के कारण सप्तविंशति तत्त्व

प्राणादयो वाक्यशेषात् ।१।४।१२

यत् पश्यति न पश्यन्तं, चक्षुर्यस्य न रिष्यति
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ८।१।११

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ।१।४।१३

त्वमग्नि र्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमोज्योतिषांपतिः
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च ।६।५।३

हो जाता है। यहाँपर पञ्चजन शब्द के द्वारा सप्तर्षि के समान संज्ञामात्र समझना होगा।

श्रीउद्धवने कहा हे विश्वेश ! ऋषियोंने कितने ही तत्त्वोंका निर्देश किया हैं नौ, पाच, तीन, कोई कोई षड् विंशति तत्त्व मानते हैं, कोई पञ्च विंशति तत्त्व मानते हैं, कोई सात, नौ, षड् चार एकादश, सप्तदश, षोड़श, एकादश, इस प्रकार विभिन्न तत्त्व को ऋषियों ने क्यों कहा, हे प्रभो, आप कृपया स कारण तत्त्वों के विभाग को वर्णन करें।

श्रीभगवान् ने कहा। ब्राह्मण गण जो कुछ कहते हैं, सव ठीक है, मेरी माया को अवलम्वन करके कहने वालें के लिए कुछ भी दुर्घट नहीं है।

पञ्च महाभूत, भू, आप, अग्नि, मरुत्, नभ, पञ्च तन्मात्र, गन्धादिपञ्च, इन्द्रिय दश, त्वक् दृग्, रसन, नासिका, वाक्,कर चरण, मेढ्पायु यह दश है। मन, बुद्धि अहङ्कार, चित्त, यह भेद अन्तः कारण का है। तत्त्वज्ञगण इस प्रकार काल को भी पञ्चविंशति में अन्तर्भाव करते है।

प्राणों के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रवण का श्रवण, अन्न का अन्न, मन का मन, इत्यादि श्रुति के अनुसार पञ्चजन शब्द से प्राणादि पञ्चवायु वोधित होते हैं।

यदि वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, तव चक्षुके द्वारा क्यों नहीं दिखाई पड़ता है, इसलिए कहते हैं, वह चक्षुरादि का अविषय है। प्रमाता को प्रमाण विषय नहीं कर सकता है। श्रुति इस प्रकार कहती है। चक्षुषश्चक्षु रुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि।

घटनाश हो जानेपर देवदत्त का तद्विषयक चाक्षुषज्ञान का जैसे अभाव होता है, वैसे ईश्वर का भी स्वरूप भूत तद्विषयक ज्ञान का नाश हो जाय ? अतः कहतेहैं, स्वतःसिद्ध ज्ञान होनेके कारण विषयका अभावसे ज्ञान का नाश नहीं होता है, जैसे सविता का प्रकाश प्रकाश्य का नाश होने से भी नष्ट नहीं होताहै। भूतगण जिनका निलयहै, ऐसे असङ्ग सर्वान्तर्यामी का भजन करो।

त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजःपौरुषं परम् ।।८।५।५

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।१।४।१४

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिवविस्तृतम् ।४।२४।६०

समाकर्षात् ।१।४।१५

त्वमेकं आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति—
स्तथा रजः सत्त्वतमो विभिद्यते ।

यदि कहो कि—ऐसा अर्थ माध्यन्दिनगण काही सम्मत है। अन्न शब्द का अभाव निवन्धन काण्व गण के लिए असङ्गत है । यह आशङ्का निरासार्थ कहाजाता हैं कि—अन्न शब्द काण्वगण के पाठ में न रहने पर भी ज्योतिः शब्द के द्वारा पञ्च संख्या का पूरण भी होता है ।

आप अग्नि हैं, सूर्य भी आप ही हो, ज्योतिषांपति नक्षत्रों का पति आप ही हो, जल, क्षिति , आकाश वायु, मात्रा और इन्द्रियभी आप ही हो, आप लोकपाल हो सर्वात्मा आप ही हैं, और ईश्वर का परम तेज, सामर्थ्य भी आप ही हो ।

पुनर्वार सांख्य आशङ्का करते हैं, वेदान्त में ब्रह्म को विश्व का एक मात्र कारण निर्देश करते है, वह संगत नही हैं, क्योंकि वेदान्त में सृष्टि के सम्वन्ध में अनेक कारण का उल्लेख मिलता है, एकत्र आत्मा से ही आकाश की उत्पत्ति, इत्यादि वचन से आत्मा को कारण कहागया है। अन्यत्र यह विश्व न था" असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है, यहाँपर असत् को कारण कहा गया है, "इस लोक का कारण कौन है ? " इस प्रश्न के उत्तर में आकाश को सृष्टि का कारण कहा गया है। यह समस्त भूतों का प्राण में विलय होता है, इस स्थल में प्राण ही सृष्टि का कारण है। "यह विश्व असत्था '' यहाँपर असत् को कारण कहागया है। " सत् ही था" इस वचन से सत् को कारण कहा गया है। "यह विश्व पहिले अव्याकृत था. पश्चात् प्रधान से व्याकृत हुआ, यहाँपर प्रधान को कारण कहा गया है। अतएव केवल ब्रह्मही जगत् का कारण है ।

'उसने कामना की' इत्यादि पूर्व वाक्य में 'यह असत्" एवं आदित्य ब्रह्म, इत्यादि स्थल में समाकर्षण के कारण वह सव वाक्य ब्रह्म पर ही है, यह जानना चाहिये। अतएव ब्रह्म ही विश्व का एकमात्र हेतुहै, इस में सन्देह नही हैं ।।

महानहं स्वं मरुदग्नि वार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ।।४।२४।६।६३

सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्ट—
श्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अन्यो विदुस्तं पुरुषंसन्तमन्त-
र्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधुसारघं यः ।।४।२४।६४

जगद्वाचित्वात् ।१।४।१६

यत्रेदं व्यज्येत विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् ।
तत्त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिवविस्तृतम् ।४।२४।६०

जीवमुख्य प्राणलिङ्गान्नेति चेद्तद् व्याख्यातम् ।१।४।१७

आप ही क्रीड़ा के लिए चेतनाचेतनात्मक विश्व में अपने को अनेक रूपों में प्रकट किया है, आद्य, एकमात्र आप ही हो, माया नामक शक्ति आप की हीहै, पहिलेयह शक्ति आपमें सुप्त होकर रहतीहै, पश्चात् उक्तशक्तिके द्वारा रजः सत्त्व, तम, महान् अहङ्कार अग्नि, वायु, धरा, सुरर्षिगण भूतगण आदि रूप में आविर्भूत हुए ।।

जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, चतुर्विध रूप में प्रकट होकर उस में आविष्ट होगए, आपस्वराट् हैं, अतः आप इस सृष्टि पदार्थ में आसक्त नहीं होते हैं, जीव मधुकरके समान इस में अनासक्त होकर संसार को प्राप्तकरताहै।

जो यह पुरुषों के कर्त्ता है, एवं वह सव जिनका कर्म है, यह ज्ञातव्य है, यहाँपर सन्देह यह है कि प्रकृति के भोक्ता तन्त्रोक्त भोक्ता जीव ही ज्ञातव्य रूप से उपदिष्ट है, ? किम्वा सर्वेश्वर विष्णु को जानना होगा ? इस का उत्तर यह है कि—यहाँपर तन्त्रोक्त क्षुद्र क्षेत्रज्ञ का वोध नहीं होगा, किन्तु वेदान्त वेद्य सर्वेश्वरका ही वोध होता है । क्यों कि—इस शब्द का सहचर कर्मशब्द के द्वारा चिद्जड़ात्मक प्रपञ्च वोधक होकर उसका कर्त्ता परमेश्वरको ज्ञापित किया गया है, सुतरां जो समस्त जगत् का कारण, वह ही एकमात्र वेद्य है ।।

वह तत्त्व किस प्रकार है ? प्रश्नोत्तर में कहते है—जिन में यह विश्व आधारित है, और इस विश्व के सर्वत्र जो अवस्थित है, वह ब्रह्म आकाश के समान सर्व विश्व में विस्तृत हैं ।।

जीवमुख्य प्राणलिङ्गान्नेतिचेत्तद्व्याख्यातम् ।१।४।१७

नम आद्याय बीजाय ज्ञान विज्ञानभूर्त्तये ।

प्राणेन्द्रियमनोबुद्धि विकारै र्व्यक्तिमीयुषे ।१।४।२८।

यस्योत् प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्त जीवेश्वरो

यः सृष्ट्वेदमनु प्रविश्यऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।

यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्त कुलायं यथा

तं कैवल्य निरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ।१०।८७।५०

यदि कहो–कि—मुख्य प्राण एवं जीव का ज्ञापक शब्द रहने के कारण इन दोनों में से एक को अवश्य ही उक्त शब्द से जानना होगा ? इस आशङ्का की, विदूरित करने के लिए कहते हैं—यहाँपर मुख्य प्राणादि लिङ्ग रहने पर भी जीवादिक का ग्रहण असम्भव है । क्यों कि इस के पहले तादृश शब्द जीवादि परक न होकर ब्रह्म पर रूप में व्याख्या की गई है ॥

विश्व का मूल कारण को नमस्कार, ज्ञान विज्ञान मूर्त्ति को प्रणाम, जो प्राण. इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि रूपमें प्रकटित होतेहैं, उनको नमस्कार हो।

यहाँपर मुख्य प्राण और जीव के लिङ्ग दर्शन होने के कारण उन में से कोई एक ग्राह्य हो ? इस आशङ्का का समाधान करते हैं ॥

यहाँ मुख्य प्राणादि लिङ्ग रहने से भी जीवादि का ग्रहण नहीं हो सकते हैं । कारण कि पूर्व इन्द्र प्रतर्दन नामक आख्यायिका में उक्त लिङ्ग की ब्रह्म पर व्याख्या की गई है, यहाँपर "तुम को ब्रह्म का उपदेश करूँगा । इस प्रकार उपक्रम, और जो " जो इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, वह समस्त पापों का नाश कर समस्त भूतों का श्रेष्ठ आधिपत्य लाभ करता है । " इस प्रकार उपसंहार होने कें कारण जीव लिङ्ग के शब्द का ब्रह्म पर अर्थ किया गया है । प्रतर्दन आख्यान निर्णय से ही उक्त अर्थ होता है, ऐसा नहीं, कारण यह है कि उक्त स्थल में कर्मपद का विचार है, " यस्य चैतत् कर्म " यह अपूर्व है ।

जो इस विश्व का स्रष्टा हैं, और अनुशयी जीव के समस्त पुरुषार्थ सिद्धि केलिए सृष्टि स्थिति प्रलय आदि भी करना है, इस प्रकार आलोचक है । इस के द्वारा ब्रह्म विश्वका निमित्त कारण व उपादान है, यहसिद्ध हुआ है ।

प्रकृति पुरुष भी जगत् के उपादान निमित्त कारण है ? सत्यहै, किन्तु यह दोनों भी उन ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण वह ब्रह्म मूल कारण हैं, जो अव्यक्त और जीवका ईश्वरभी अर्थात् प्रवेश एवं नियमन आपसे ही होते हैं ।

अन्यार्थस्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।१।४।१८

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना
मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महां
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ।७।३।३१

वाक्यान्वयात् ।१।४।१६।

व्यक्तं विभो स्थूल मिदं शरीरं
येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।।

जिस जीव के लिए इस विश्व का आपने निर्माण किया है, जीव जब शरीर में प्रवेश करता है, तब आप भी उसके स्वनिर्मित पुरमें प्रविष्ट होकर उसको नियमन करते हैं।

उपासकके लिए कैवल्य भी प्रदान करतेहैं। जो जीव श्रीहरिके चरणों में शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम करताहै, उसको माया छोड़ देती है, ब्रह्म सम्पन्न जीव का भी शरीर सम्बन्ध देखाजाता है, ? सत्य है, किन्तु उस का रहस्य इसप्रकारहै। सुप्त शरीरवान्व्यक्ति अपर व्यक्ति को देखताहैं, किन्तु वह सुप्त व्यक्ति अपने को नहीं देख पाता, इस प्रकार जीवन्मुक्त को अपर व्यक्ति देहवान् देखता है, किन्तु जीवन्मुक्त पुरुष अपने को इस प्रकार नहीं देखता है, उन हरि को अनवरत ध्यान करें जिन से भय विदूरित होजाता है, और जो निरन्तर मायाको पराभूत करके विराजित् हैं ।।

यदि कहो कि– उक्त शब्दके साथ संयुक्त कर्मशब्द व ब्रह्म में प्रसिद्ध प्राण सन्दर्भ से इस सन्दर्भ को ब्रह्म पर व्याख्या करने पर भी जीव का कीर्त्तन होने के कारण, उस को "ब्रह्म पर है, ऐसा कैसे कहें ? प्रश्न एवं व्याख्यान से भी जीवशब्द के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण नहीं होता है, इस आशंका निवारण के लिए कहते हैं कि–जैमिनि का कथन है कि–ब्रह्मबोध के लिए ही जीवका कथन हुआ है, क्यों कि प्रश्न एवं व्याख्यान से भी ब्रह्म का ही बोध होता है।

काल रूप से संहर्त्ता आप ही हो, आयुको लव आदि कालावयव के द्वारा क्षय करते हैं, सृष्टयादि कर्त्तृत्व आप में होने पर भी आप कूटस्थ हैं। निर्विकार हैं, कारण आप ज्ञान रूप परमेष्ठी, परमेश्वर, अज जन्मशून्य महान् अपरिच्छिन्न हैं, जीव लोक कर्म के वश से जन्मादि को ग्रहण करते हैं आप

भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥
अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मैभगवतेनमः ।७।३।३३-३४

प्रतिज्ञासिद्धे लिङ्गमाश्मरथ्यः ।१।४।२०

न यदिदमग्र आस नभविष्यदतोनिधना
दनुमितमन्तरात्वयि विभाति मृषैकरसे ॥
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै
वितथमनो विलासमित्यवयन्त्यबुधाः ॥१०।८७।३७

उन सवके जीव जीवन के हेतु हैं, कारण आप आत्मा हैं, उन सव का नियन्ता हैं ॥

यहाँ परमात्मा ही उपदिष्ट हो रहा है, तन्त्रोक्त जीव नहीं है, क्योंकि पूर्वापर पर्यालोचन के द्वारा समस्त वाक्यों का परमात्मा में ही समन्वय होता है ॥

ब्रह्माण्ड शरीर जीवका ब्रह्मत्व कैसे सम्भव हो ? और ब्रह्माण्ड गर्भत्व भी कैसे होगा ? उत्तर में कहतेहैं—व्यक्त, यहसव कार्य, आपका शरीर व्यक्त है, यह सत्य है जिस शरीर के द्वारा आप इन्द्रिय, प्राण मन के विषयों को भोग करतेहैं,, किन्तु पारमेष्ठ्य पारमैश्वर्य धाम में, स्वरूप में स्थित होकर ही भोग करते हैं, स्वरूप तिरोधान के द्वारा नहीं अतएव आप अव्यक्त आत्मा, निरुपाधि ब्रह्म ही पुराण पुरुष हैं, ।

एक व्यक्ति के लिए ब्रह्म और पुराण पुरुष होना कैसे सम्भव हो ? उत्तर में कहते हैं, हे अनन्त ! आपने अव्यक्त, मन वाणी के अगोचर रूप के द्वारा इस विश्व को व्याप्त किया है, अचिन्त्यैश्वर्य युक्त भगवान् को नमस्कार है, चिदचित् शक्ति युक्त होने के कारण ही आप भगवान्है, चित् शक्ति विद्या अचित् शक्ति माया इन दोनों से युक्त हैं ।

"आत्म विज्ञान के द्वारा सर्व विज्ञान लाभ होता है" इत्यादि प्रतिज्ञा में भी आत्म का परमात्मत्व सिद्धि का कारण दृष्ट होता है । आश्मरथ्य मुनि का यह मत है ।

प्रपञ्च की पृथक् स्थिति में साधक वचन नहीं है, यह पहिले कहागया ात्व में यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यहश्रुति और इस श्रुति

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौड़ुलोमिः ।१।४।२१

सत्त्वञ्चाभिजयेद्युक्तोनैरपेक्ष्येण शान्तधीः
संपद्यतेगुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ।
जीवो जीव विनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न वहिर्नान्तरश्चरेत् ११।२५।३५-३६

मूलक अनुमान भी प्रमाण है, इस लिए कहते हैं, यह विश्व सृष्टि के पहिले नहीं थी, सदेव सौम्येद मग्र आसीत् । आत्मा वा इद मेक एवाग्र आसीत् यह श्रुति इस विषय में प्रमाण है, प्रलय के वाद भविष्य में रहेगी , यह भी नहीं कह सकते हो, क्यों कि श्रुति कहती है, नासदासीत् नो सदासीत तदानीम् । अत एकरस केवल स्वरूप आप में यह मिथ्या रूपमें विलसितहै, यह निश्चित है, जव इस प्रकार ही है, तव श्रुति के द्वारा द्रव्य मात्रों का मृत् लोह कार्ष्णायस आदि का जो रूप भेद घट कुण्डल आदि है, इस के सादृश्य के द्वारा वोध कराया जाता हैं । कार्याकार वस्तु की स्थिति नाम मात्र से भिन्न होती है, कारण मृदादिमें ही गतार्थता है, कैसे आकाश आदि पदार्थ की नाममात्रता है, किन्तु ब्रह्म ही सत्य है, इस विषय में श्रुति इस प्रकार हैं । यथा सौम्यैकेन मृत् पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति, वाचारम्भणं विकारो नाम धेयम् । मृत्तिकेत्येव सत्यम् । यथा एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात् । यथा एकेन नख निकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायस मित्यादि । अतएव विश्व की स्थिति में प्रमाण न रहने के कारण, असत्त्व में प्रमाण रहने से मनो विलास को जो लोक सत्य रूप से जानते हैं वे सव अवुध अज्ञ है ।

मुकुट कुण्डल कङ्कण किङ्किणी परिणतं कनकं परमार्थतः ।
महदहङ्कृति ख प्रमुखं तथा नर हरे न परं परमार्थतः ।।

उत् क्रमिष्यमाण, साधन सम्पन्न, आसन्न परमात्म प्राप्ति के ज्ञानी में तादृश भाव होनेके कारण समस्त प्रियहोनेके कारण उप क्रमंप्राप्त आत्म शब्द के द्वारा परमात्मा का ही वोध हो रहा है, इस तरह औड़िलोमि आचार्य करते हैं ।।

जीवंका मुक्त होकर शरीरसे उत्क्रान्त होना आवश्यकहै, अतएव उपशमात्मक सत्त्व के द्वारा सत्त्व को जय करने से शरीर से उत्क्रान्त होकर मुक्त होता है, एवं मुझ श्रीभगवान् को प्राप्त करताहै,, जीव लिङ्ग शरीरात्मक जीव को ज्ञान के द्वारा दग्ध करने से वह मुक्त होताहै ।

आशय सम्भव गुण के साथ जीव लिङ्ग देह को परित्याग करने के

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।१।४।२२

न घटत उद्भवः प्रकृति पूरुषयोरजयो
रुभय युजा भवन्त्यसुभृतोजलवुद्वुद्वत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैःपरमे
सरित इवार्णवे मधुनिलिल्युरशेषरसाः १०।८७।३१

अनन्तर मुझ ब्रह्म को प्राप्त कर पूर्ण होताहैं ॥

सैन्धव खण्ड जैसे जल में निक्षेप करने पर वह जल के साथ मिलजाता है, जल और लवण के साथ भेद नहीं रहता है, जलका जो अंश गृहीत होता है, वह लवणमय वोध होता है, इस प्रकार यह सव अनन्त विज्ञानघन जीव प्रकृति में अध्यस्त होने के कारण देहेन्द्रिय स्वरूप में परिणत भूतग्राम से सञ्जात एवं इसके साथ एकत्र होकर देवनरादि आख्यासे व्यक्त दशाको प्राप्त होते हैं; पश्चात् भूतग्रामों के विलीन होने पर इसके साथ विलीन होते हैं ? इस वाक्य का समाधान के लिए कहते हैं—काशकृत्स्न ऋषि कहते हैं जल में सैन्धवखण्ड के समान विज्ञान धन सञ्जात जीवेतर उक्त महाभूत, परमात्मा की अवस्थितिका उपदेश होने के कारण परवर्त्ती वाक्यकोभी परमात्मपर रूप से ही समझना होगा।

परमात्मा से जीव उत्पन्न होता है ? इस प्रकार कहने से नियन्ता और नियम्य भावतो होगा, किन्तु जीवों कीं अनित्य प्रतीति होगी, ऐसा होनेपर मोक्ष पदार्थ जीवों के लिए स्वरूप हानिकर पदार्थ पर्यवसित होगा ? यह भी समुचित वचन नहीं है, स्वप्रकाशानन्दात्मा जीव का अविद्या कृत-अनर्थ निवृत्ति ही मोक्ष है, उपाधि का जन्म से ही जीव का जन्म होता है, स्वतः जन्म सम्भव नहीं है, विवरण में यह सव का प्रकाश करतेहैं। "नघटत उद्भवः' प्रकृति पुरुष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वे सव अज हैं, श्रुति भी कहती है, अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजा जनयन्तीं स्वरूपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।

परस्पर अध्यस्त होकर ही उत्पन्न होते हैं ? यह भी नहीं कहा जा सकता है। अतः प्राणादि उपाधियुक्त जीव का जन्म होता है, जैसे केवल जल से अथवा पवन से जल में वुद् वुद् उत्पन्न होता है, यह नहीं कहा जाता, किन्तु दोनों के मिलन से ही होता है, जैसे जल उपादान है और पवन निमित्त है, वैसे प्रकृति निमित्त हैं, और पुरुष उपादान है। श्रुति इस प्रकार है, तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः सोऽ कामयत् वहु स्याम् प्रजायेय। यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणः सर्वे लोकाः सर्वे

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।१।४।२३

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति
स्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥१०।२।२८

अभिध्योपदेशाच्च ।१।४।२४

कल्पान्ते काल सृष्टेन यान्धेन तमसावृतम् ।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ७।३।२६

देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वएव आत्मानो व्युच्चरन्ती, इस श्रुतिसे चेतना चेतन प्रपञ्चका उपादान परमात्मा है, यह परिज्ञान होता है। अतएव विविध नाम गुण रूप अनेक प्रकार उपाधि के साथ परमात्मा में लीन होते हैं। सुषुप्ति, प्रलय में " मधु में जैसे अनेक रस लोन होते हैं वैसे जीव लीन होते हैं। मधु में सकल कुसुम रस विशेष रूप से प्रतीत न होने पर भी सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सुषुप्ति आदि में विशेषमात्र का लय होने के कारण मैं अवस्थित होने के कारण सामान्य रूप से यह रह जाता है। मुक्ति में कारण का भी लय होने के कारण निरूपाधि परमात्मा में ही वे सब लीन होते हैं। अर्णव में जैसे समस्त सरित् लीन होती है। श्रुति इस प्रकार है। यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानारूपाणां वृक्षाणां रसान् समवहार मेकतां सङ्गम यन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमूष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहइति। यस्या नद्य स्यन्दमानाः समुद्रेऽन्तंगच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान् नाम रूपाद् विमुक्तः परान् परं प्रुरुष मुपैति दिव्य मित्याद्याः ॥

ब्रह्म ही जगत् की प्रकृति अर्थात् उपादान है। क्यों कि श्रौत प्रतिज्ञा के अनुरोध से यह अवश्य स्वीकार्य्य है।

इस प्रकार संसार वृक्ष रूप कार्य की तुम ही एकमात्र प्रसूति हो; प्रकृष्ट रूप से जन्म जिन से होता है, वह प्रसूति है कारण है„ तुम ही एकमात्र लय स्थान हो, और पालक भी हो ब्रह्माविष्णु महेश्वर को स्रष्ठा, पालक„ संहारक रूप त्रैलोक देखते है, जिनको वुद्धि आच्छन्ना है, और जो विपश्चित् हैं उस प्रकार नहीं देखते हैं॥

श्रुति में परमात्मा चित् स्वरूप एवं अचित् स्वरूप के द्वारा वहु होने

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।१।४।२५

अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्
चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवतेनमः ७।३।२४

आत्मकृते परिणामात् ।१।४।२६

व्यक्तं विभो स्थूल मिदं शरीरं
येनेन्द्रिय प्राण मनोगुणां स्त्वम् ।
भुंक्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥७।३।३३

योनिश्च हि गीयते ।१।४।२७

सत्य व्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितञ्चसत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणंप्रपन्नाः ।१०।२।२६

का संकल्प करते हैं, " इस प्रकार विवरण दृष्ट होता है, ।

कल्पान्त में प्रकृति गुणों से यह जगत् निविड़ भाव में स्थितथा इसको आपने ही अभिव्यक्त कियाहै, त्रिगुण रूप धारण करके इस को सृजन, पालन, संहार भी करते हैं, अपरिच्छिन्न शक्ति युक्त परमेश्वर आप को नमस्कार है ।

श्रुति में ब्रह्म के उभय रूपत्त्व कथन दृष्ट होताहै, सुतरां ब्रह्म ही जगत् का उपादान स्वरूप एवं आप ही उसका उपादान कारण हैं ॥

जो अनन्त अव्यक्त रूप से इस जगत् में व्याप्त है, चिदचिच्छक्ति युक्त उन भगवान को प्रणाम ॥

परमात्मा ही कर्त्ता एवं कर्म रूप से अभिहित होतेहैं, कूटस्थत्वादि धर्म का अविरोधी, परिणाम विशेष के द्वारा सम्भव होने के कारण, कर्त्तृ रूप में अवस्थित पूर्ण सिद्ध पदार्थ का कर्म रूपत्व होना भी असङ्गत नहीं है ।

ब्रह्माण्ड शरीर रूप जीव केलिए ब्रह्मत्त्व केसे सम्भव हो ? ब्रह्माण्ड गर्भत्व का भी सम्भव कैसे हो ? उत्तर में कहते है, व्यक्त यह सब कार्य आप का शरीर हैं, शरीर व इन्द्रिय के द्वारा सव विषय को भोगते हैं, किन्तु स्वरूप में स्थित होकर, स्वरूप तिरोधान के द्वारा नहीं. अतएव आप ही अव्यक्त, आत्मा, ब्रह्म, पुराण पुरुष भी हैं ।

श्रुति में ब्रह्मही कर्त्ता एवं योनि रूप से कथितहैं, क्योंकि ब्रह्मही निमित्त एवं उपादान यह उभय स्वरूप हैं वहाँपर योनि शब्द उपादाम,

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ।१।४।२८

सवं ममाशेष विशेष माया–
निषेध निर्वाण सुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा सच विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्म शक्तिः ।।६।४।२८

वाची है ॥

आप संकल्प सत्य हैं, सत्य ही आप की प्राप्ति का साधन है, सृष्टि के पूर्व प्रलय के अनन्तर, स्थिति समय में आप अव्यभिचारी रूप से अवस्थित है, सत्यस्य योनि सत् शब्द से पृथिवी जल, तेजः, त्यत् शब्द से वायु आकाश है, एवं सच्च, तच्च, सत्य भूत पञ्चकम् । तत सत्य मित्याचक्षेत , श्रुति इस का कारण पूर्व में स्थित, अन्तर्यामी रूप से स्थिति समय में स्थित, एवं नाश में भी सदाअवस्थितहैं, इस प्रकारसे त्रिसत्यत्व प्रति पादित हुआहै, समदर्शन, सुनृता वाणी भी आप में सदा वर्त्तमान है, और इन दोनों का प्रवर्त्तक आप ही हैं । इस प्रकार से आप सत्यात्मक है, हे भगवान् हम सव प्रपन्न हैं ॥

श्वेताश्वतर उपनिषद में लिखित है, "क्षर प्रधान अमृत अक्षर संहार कर्त्ता हर ही सव के अध्यक्ष हैं । आप भवरोग का प्रशमन करके रुद्र नाम से अभिहित होते हैं, " ।

इत्यादि स्थल में रुद्रादि शब्द से शिवादि देवता विशेष को समझना होगा ? अथवा ब्रह्म को समझना होगा ? इसका ही उत्तर प्रदत्त हो रहा है,– उक्त रूप समन्वय चिन्तन के द्वारा हरादि शब्द समूह ब्रह्म पर रूपमें निर्दिष्ट हुए हैं, क्योंकि समस्त नाम ब्रह्म का ही हैं, ब्रह्म को सर्वनामा कहागया है । अशेष विशेष जिस माया में हैं उस का निषेध होकर जिसकी निर्वाण सुख की अनुभूति होती है, वह सर्वनाम विश्वरूप है, अनिरुक्त आतमशक्ति सम्पन्न श्रीभगवान् मेरे प्रति अनुग्रह करें ।

ब्रह्मसूत्रस्य श्रीमद्भागवतभाष्ये प्रथमाध्यास्य
चतुर्थपादः समाप्तः ।।

❀ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ❀

❀ ब्रह्म सूत्रस्य द्वितीयोऽध्यायः ❀

स्मृत्यनवकाशदोष प्रसंग इति चेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोषप्रसंगात् ।२।१।१

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थाष्णु चरिष्णु भूम्नः ।।२।६।४२

प्रथम अध्याय में समन्वय निरूपण के द्वारा निखिलदोष रहित, अचिन्त्य अनन्त-शक्ति समन्वित, अपरिमित गुण समूह युक्त, सर्वात्मा, सर्व विलक्षण, जगत् के उपादान निमित्त कारणरूप सर्वेश्वर, वेदान्त-वेद्य श्रीहरि को वर्णन किया गया है। सम्प्रति द्वितीय अध्याय में निजपक्ष में स्मृति तर्क विरोध का परिहार, प्रधानादि वादों का युक्ति के द्वारा आभास रूपत्व और सृष्ट्यादिक क्रियाओं का समस्त वेदान्त में एकरूप है, यह सब विषय निरुपित होंगे। सर्व प्रथम श्रुतियों का विरोध निरूपण किया जाता है, यहाँसंशय है, कि सर्वकारण ब्रह्म में जो समन्वय प्रदर्शित हुआ है, वह सांख्यादि स्मृतिविरुद्ध है ? अथवा नहीं ? श्रुति में 'ऋषिं' प्रसूतं कपिलं नामक ऋषि को उल्लेख आता है, उन्होंने वेदोक्त कर्मकाण्ड को यथायथ स्वीकार करने के साथ ही ज्ञान काण्ड का वर्णन किया है, ओर इस की विस्मृति के लिए सांख्यस्मृति की भी रचना की है, उनका मत है, दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ है। और "विमुक्त मौक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य अचेतनत्वेऽपि क्षीर वत् चेष्टितं प्रधानस्य' यह सब प्रमाणों से अचेतन प्रधान को जगत् कारण कहागया है। केवल ब्रह्म को जगत् कारण कहने से उक्त कापिल स्मृति निर्विषय हो जाती है, अतः उक्त स्मृति के अविरोध से वेदान्त की व्याख्या करना समीचीन है, मन्वादि स्मृति कर्म काण्ड पर है, अतः निर्विषय नहीं होती है, यह सब पूर्व के खण्डन के लिए सूत्र की अवतारणा करते हैं।

अवकाश का अभाव अनवकाश है, अर्थात् निर्विषयता है, यथाश्रुत व्याख्याने द्वारा ब्रह्म कारणता वाद में सांख्यस्मृति निर्विषय दोष युक्त होते है, अतएव वेदान्त की व्याख्या विपरीत होना आवश्यक है, यह कथन अयौक्तिक है, कारण है कि ब्रह्म कारणता वादि मन्त्रादि स्मृति में निर्विषयतादोष की प्रसक्ति होगी। मनुने कहा,-सृष्टि के पहले समस्त विश्व तमोमय था अप्रज्ञात

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ।२।१।२

जनिमसतः सतो-मृति मुतात्मनि ये चभिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ।।१०।८७।२५

अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय और सुप्तके समान अवस्थित था। अनन्तर स्वयम्भू भगवान उस तमोराशि को दूर करने लगे, वे अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय अचिन्त्य रूप है, आप स्वयं प्रादुर्भूत होकर समस्त पदार्थो को सृजन किया है। सांख्य स्मृति में इस के विपरीत सिद्धान्त प्रतिपादित होने के कारण वेदविरुद्ध अनाप्त सांख्यस्मृति की व्यर्थता दोषावह नहीं है।।

भूमा परम पुरुष ही प्रकृति प्रवर्त्तक है, सहस्र शीर्ष इत्यादि वर्णित लीलाविग्रह ही आद्य अवतार है, आत्म सृष्ट भूतों के द्वारा विराज नामक पुर का निर्माण करने के अनन्तर अंश से आदि देव नारायण वहाँपर अवस्थित हुए, श्रीबिष्णु के तीन रूप है, इन सर्वों का नाम पुरुष है, प्रथम पुरुष महत् स्रष्टा, द्वितीय पुरुष–ब्रह्माण्ड में अवस्थित, तृतीय पुरुष समस्त भूतों का अन्तर्यामी है। अवतार शब्द से समूह का ग्रहण होने पर भी, आदि पुरुष में विशेषता है, काल, स्वभाव, सदसत् कार्य कारणरूपा शक्ति मनः प्रभृति कार्य समूह ब्रह्मादि गुणावतार, दक्षादि विभूति, मनः महत्तत्त्व द्रव्य, महाभूत समूह विकार-अहंकार, गुण सत्त्वादि, विराट्-समष्टि शरीर, स्वराट् वैराज, स्थानु-स्थावर, चरिष्णु--जङ्गम, व्यष्टि शरीर यह सब पदार्थ आद्य पुरुष से ही आविर्भूत हुए हैं।

अधिकन्तुसांख्य स्मृति में इस प्रकार अनेक विषय उक्त है कि जो वेद विरुद्ध है, इस से सांख्य स्मृति का आप्तत्व नहीं होता है, वे सब विषय यह है-पुरुष और जीवात्मा समूह बिभु एवं चिन्मात्र है इसका बन्ध और मोक्ष प्रकृति ही करती है, बन्ध मोक्ष दोनों प्राकृत हैं, सर्वेश्वर नामक पुरुष विशेष प्रसिद्ध नहीं है। काल भी कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, प्राणादि पांच पदार्थ इन्द्रियोंकी वृत्ति हैं, इत्यादि अनेकानेक विषय सांख्य स्मृति में देखने में आते हैं।

इस प्रकार उपदेष्टागण के भ्रम वाहुल्य होने के कारण उत्तम ज्ञानप्राप्त करना सुलभ नहीं है, जगत् की उत्पत्ति होती है, यह वैशेषिक-गण कहते हैं। पातञ्जल दर्शन असत से ब्रह्मत्व की उत्पत्तिको मानते है, नैयायिकगण एक बिंशति प्रकार दुःख नाश को ही मोक्ष कहते हैं, सांख्य दर्शन आत्मा में भेदको

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।२।१।३

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपण मृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।
त्रिगुणमय पुमानिति भिदा यदवबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ।१०।८७।२५

मानते हैं, मीमांसक गण कर्मफल व्यवहार को ही सत्यमानते हैं। वे सब ही आरोपित भ्रम से ही यह सब कहतेहै, तत्त्व दृष्टि से नहीं, सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ब्रह्मैव सन ब्रह्माप्येति। अनीशया शोचति मुह्यमानः, अविद्यायाम न्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितममन्य माना, जंघन्य मानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। एक एव हि भूत आत्मा भूते भूते व्यवस्थित एकधा वहुधाचैव दृश्यते जलचन्द्र वदित्यादि श्रुति के साथ विरोध है। और भी वस्तुतः त्रिगुणमय पुरुष होने से यह सब सम्भव होता, किन्तु यह वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, त्रिगुणमय पुरुष का भेद को अज्ञान के कारण कहा गया है, तव क्या अज्ञान भी एक प्रकार वस्तु है ? वस्तुतः पुरुष में अज्ञान नहीं है, अवोध से अतिरिक्त असङ्ग में अववोध रस ज्ञान घन पुरुष में वह अज्ञान होना सम्भव नहीं है।

वेद विरुद्ध होने के कारण सांख्य स्मृति के द्वारा वेदान्त की व्याख्या करना उचित नहीं है, किन्तु योगस्मृति द्वारा वेदान्त की व्याख्या करना उचित है, क्योंकि-वेदान्त के आश्रय से योग स्मृति का वर्णन हुआ है। योग भी श्रौत है, कठश्रुति में उक्त है—"तो" योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्। विद्यामेतं योग विधिञ्च कृत्स्नम्। इत्यादि योग विषयक प्रकरण है, श्वेता श्वतर उपनिषद् में त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं इत्यादि आसनादि योगांग का उपदेश है। भगवान पतञ्जलिने कहा अथ योगानु शासनम्। योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। यह ही योग स्मृति का आदि सूत्र है, समन्वय के अविरोध से वेदान्त की व्याख्या करने से योगस्मृति की अनवकाशता होगी, क्योंकि इसमें केवल योग की चर्चा है, मन्वादिस्मृति धर्म को कहती है, अतः उसकी साव काशता है, अतएव समन्वय की दृष्टि न रखकर वेदान्त की व्याख्या योगस्मृति से करना कर्त्तव्य है, ऐसे पूर्वपक्ष होने पर उत्तर करते है,।

सांख्य स्मृति के प्रत्याख्यान से योग स्मृति का भी प्रत्याख्यान होता है, योगस्मृति भी सांख्य के समान वेद विरुद्ध है। अत योगस्मृति से वेदान्त व्याख्या होनेसे वेदान्तानु सारिणी मन्वादिस्मृतिकी निर्विषयता होगी, अतएव मन्वादि स्मृति के द्वारा ही वेदान्त की व्याख्या करना उचित है।

यमादिभि र्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।

मुकुन्द सेवया यद्वत् तथाद्धात्मा न शाम्यति ।१।६।३६

नविलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४

यमदूता ऊचुः—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।

वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भुरिति शुश्रुम ।६।१।४०

योगस्मृति वेदान्त का अविरोधी नहीं है ऐसी वात नहीं है, उस में प्रधान स्वतन्त्र कारण हैं। ईश्वर एवं जीव चिन्मात्र विभुरूप है, योग से दुःख निवृत्ति और मुक्ति होती है, इत्यादि वेदान्त विरद्धार्थ प्रतिपादित हुआ है, चित्तवृत्ति रूप प्रत्यक्षादि प्रमाण समूह का उस में अर्थ किया गया है, जो कि वेदान्त विरद्ध है, वेदान्त वेद्य ईश्वर जीव उपाय उपेयका यथायथ रूप से वेदान्त में व्याख्या है।

" त्रिरुन्नतं " इत्यादि श्रुतिमें जो आसनादि योगांगका विधान और "तत् कारणं सांख्य योगाधिगम्यं " इत्यादि स्थलों में जो सांख्यादि शब्द का व्यवहार तथा उस के द्वारा जो ज्ञान-ध्यान की वात का उल्लेख है, वह ज्ञान और ध्यान वैदिक विधि के अतिरिक्त रूप से स्वीकार करना होगा। प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान से तथा तदुक्त योगमार्ग के द्वारा मोक्ष नही हो सकता है। क्योंकि उन सर्वेश्वर पुरुष का ज्ञान एवं ध्यानदि भक्ति अंग समूह मुक्ति का कारण है। इस प्रकार श्रुति में कहा गया है, वेद का अविरुद्ध अंश ही योगसे ग्रहणीय है, "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" इस से आपाततः दृष्टि से योगदर्शन परेश निष्ट है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु साधुगण के कथनानु सार यह दर्शन परेशनिष्ठ नहीं है। कारण यह है कि पतञ्जलिने मोहवश होकर इस प्रकार परेश वोधक कुछ सूत्रों का प्रणयन किया है। योग स्मृति आदि में ईश्वरादिक को स्वीकार अवश्य किया गया है, किन्तु इस प्रकार स्वीकार करनेसे उस विषय में अधिक शंका उठतीहै, अतएव उनसव स्मृतियों के निमित्त ही यह सव अधिकरण कथित होता है, इस सूत्र के द्वारा हिरण्य गर्भ कृत योगस्मृति भी निराकृत हुई है।

साधुगण असाधारण अनुभव के द्वारा वर्णन करते है यमादिके द्वारा आत्म शुद्धि उस प्रकार नहीं होतीहै जैसे श्रीमुकुन्द के सेवा से साक्षात् आत्मा एवं मनकी निर्मलता होती है, कथञ्चित् मुकुन्द को सेवा मात्र से ही मन निश्चल होता है उनका गुण वर्णन से तो आत्मोपशम सुनिश्चित्त रूप से होगा ही ॥

येन स्वधाम्न्यमी भावा रजः सत्त्व तमोमयाः ।
गुणनामक्रियारूपै विभाव्यन्ते यथातथम् ।६।१।३१

सांख्य स्मृति को वेद विरुद्ध कहने से सांख्य स्मृति भी वेद में वेद विरुद्ध तथ्य का उद्घाटन कर सकती है, इस प्रकार आशंका का परिहार के लिए अन्य प्रकरण आरम्भ करते हैं. इस विषय में शंका यह हो सकती है कि वेद आप्त अथवा अनाप्त ! वृष्टि कामः कारीर्यायजेत इत्यादि श्रुत्युक्त अनुष्ठान करने पर भी वेद वर्णित फल प्राप्त न होने से वेद म अप्रामाण्य ज्ञान होना अवश्यम्भावी है ? इस प्रकार शंका का उत्तर म कहते हैं।

सांख्यादि स्मृतिके समान वेद अप्रामाणिक नहीं हो सकतेहैं कारण कि वेद सांख्यादि स्मृति से सम्पूर्ण विलक्षण है, साख्यादि स्मृति जीव कल्पित भ्रमादि दोष चतुष्टय युक्त है, वेद नित्य तथा भ्रमादि दोषों से पूर्णतः रहित है, वेद का कर्त्ता अभ्रान्त है यही दोनों में अन्तरहै, ईश्वर कृत वेदों में भ्रमादि दोषों की सम्भावना ही नहीं है वेदका भ्रमादि कर्तृ दोषशून्यत्व औरनित्यत्व श्रुति और स्मृति से अवगत हो जाता है. श्रुति कहती है, वेद वाक्य नित्य हैं, स्मृति में भी उल्लेख है–स्वयम्भु भगवान् ने पहिले आदि अन्त रहिता दिव्य वेद वाक्य का प्रकाश किया है। जिससे सकल शास्त्र की प्रवृत्ति हुई। मन्वादि स्मृति वेद मूलक होने के कारण प्रामाणिक है।

आशङ्का यह है उत्पन्न वस्तु अनित्य होती है वेद भी यत्रसूत्ति पुरुषसे उत्पन्न होने के कारण अनित्य क्यों नही होगा ? उत्तर में कहते हैं--उत्पत्ति वाचक जनि शब्द से केवल आविर्भाब कहा जाता है, इसलिए शास्त्र में कहा है,—स्वयम्भू यहवेद पहले तुमसे गान किया गया है। वेदनित्य है, शिवादि ऋषिगण उस के स्मरण कर्त्ता है, इस की रचना किसीने नहीं की है, फल के अदर्शन से भी यह अप्रामाण्य दोष युक्त नहीं हो सकता है, अधिकारी होने पर सर्वत्र फल मिलता हैं। करने वाले की अयोग्यता से कहीं कहीं फल का अभावदेखाजाता है,, अतः वेद, विरुद्ध होने के कारण साख्यादि स्मृति अप्रामाण्य दोष है।

वेद कर्तृक विहित ही धर्म है, वह वेद के प्रामाण्य से ही प्रामाण्य युक्त होता है। अतः जो वेद प्रमाणक नहीं है, वह ही अधर्म है। इस प्रकार स्वरूप और प्रमाण भी कहागया है। जैमिनि कहते है—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" श्रीकुमारिल भट्ट ने इसकी व्याख्या कीहै, द्वयमेकेन सूत्रेण श्रुत्यर्थाभ्यां निरूप्यते। वेद के प्रामाण्य में कारण यह श्रीनारायण से उद्भूत हुआ है, स्वयम्भू शब्द से निश्वासमात्र से स्वयं ही उद्भूत हुआ है। श्रुति भी इस प्रकार है— "अस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेद इति"

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते
योनीनां गुणवैषम्यात् तथात्मा प्रकृतौस्थितः ३।२८।४७

दृश्यते तु ।२।१।६

सदिव मनस्त्रिवृत् त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।

वह नारायण कौन है ? उत्तर में कहते हैं, जो अपनी महिमा में विराजित होकर भी समस्त प्राणियों के भाव समूह को गुण, नाम, ब्राह्मण आदि क्रिया, अध्ययनादि, एवं आश्रमादि को यथायथ रूप से विचार पूर्वक विधान करता है वह ही श्रीनारायण है ॥

यदि कहो कि तत्तेज ऐक्षत वहुस्याम् । इतिछान्दोग्ये " ता आप ऐक्षन्त वहु वह्वयः स्याम " ते इमे प्राण अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः कोनः विशिष्ट इति वृहदारण्यके, उस तेजने देखामें वहुत होऊँगा—ऐसा संकल्पकिया उस जलने देखा, वहुत होऊँगा, ऐसा संकल्प किया इसप्रकार वाक्य छान्दोग्य में है, वृहदारण्यक में भी वेसव प्राण हम सव मङ्गल के लिए हैं, हम सव के मध्य में कौन प्रधान हैं—इस प्रकार विचार करते करते प्रजा पति के समीप में उपस्थित हुए ऐसा देखने में आता है, वे सव वाक्य वन्ध्या पुत्र के समान निरर्थक है, क्यों तेज, जल,और प्राणादिक वस्तु जड़ है, उन सव की देखने और वोलने की शक्ति कहाँ है । एक देश में अप्रामाण्य होनेपर वेद के अन्यान्य अंश में भी अप्रामाण्य हो सकता है । जव वेद की अप्रा- माणिकता है, तव वेद प्रतिपाद्य ब्रह्म की जगत् कारणता भी अप्रामाण्य होगी इस प्रकार शङ्का के उत्तर में करते हैं ।

यहाँपर तु शब्द शंकाछेदन के लिए है, उक्त स्थल में उस तेजने देखा" तेज आदि आभिमानिक चेतन देवताके लक्ष्य में जानना चाहिए । जड़पदार्थ के उद्देश्य में नहीं है, तेज, प्रभृति शब्द समूह देवता का विशेषण है, अतः किसी भी प्रकार वेद अनाप्त नहीं हो सकताहै, तथा वेदके द्वारा ब्रह्मका जगत् कारणत्व भी सुस्थिर होता है । पृथक् अवस्थान न रहने पर भी दृष्टान्त के द्वारा भेद का प्रदर्शन करते हैं, जैसे इदानीं प्रज्वलित काष्ठ से उत्पन्न अग्नि को पृथक् मानते है, धर्मभेद के द्वारा ही धर्मि में भेदाभिमान होता है, जैसे काष्ठ अग्नि की उतपत्ति स्थल है, काष्ठ का ह्रस्व दीर्घ भेदसे अग्नि भी ह्रस्व दीर्घ प्रतिभात होतेहै, इस प्रकार अभिमान द्वारा पदार्थको पृथक् कहाजाता है।

नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्ट मिदमात्मतयावसितम् ॥१०।८७।२६

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७

सत्यव्रतं सत्य परंत्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये ॥

यदि कहो कि ब्रह्म जगत का उपादान हो नहीं सकता है । वैरूप्य निबन्धन ब्रह्म को जगत् का उपादान कहा नहीं जाता ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—विरूप का भी उपादान उपादेयभाव देखा जाता है । तु शब्द के द्वारा शंका का निरास किया गया हैं, ब्रह्म वैरूपनिबन्धन ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं है, यह कहा नहीं जा सकता है, जैसा कि गुणों की उत्पत्ति विजातीयद्रव्य से, कृमियों की उत्पत्ति मधु से, करि तुरगों की उत्पत्ति कल्लवृक्ष से, तथा सुवर्ण की उत्पत्ति चिन्तामणि से होती है, आथर्वणिक का दृष्टान्त भी इस का परि पोषक है, '' जिस प्रकार ऊर्णनाभ कीट निज उदर से सूत का विस्तार कर फिर उस को निगल जाता है, जैसा कि पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीव देह से केश, लोमादि उत्पन्न होते हैं, ठीक उसी प्रकार अक्षर पुरुष से विश्व उत्पन्न होता है ।

यदि असत् उत्पन्न नहीं होता है, और त्रिगुणमय पुरुष भी नहीं होता है, तब यह प्रपञ्च और पुरुष पृथक् नहींहै, इस प्रकार कहना होगा, दोनों की प्रतीति होती है, दोनों है । अतः कहतेहैं, मनोमात्र विलसित यह त्रिगुणात्मक विश्व असत् होने पर भी सत् के भाँति प्रतिभात होता है । यह कैसे सम्भव हो ? अधिष्ठान आप है, और अधिष्ठान सत्ता से इसप्रकार प्रतीति होती हैं, केवल यह ही नहीं, किन्तु पुरुष से लेकर सब ही इस प्रकार दृष्ट होते हैं । पुरुष का भी पृथक् अवस्थानमनोमात्र विलसित है । उक्त विषय में श्रुति इस प्रकार है, असतोऽधि मनोऽसृजत, मनः प्रजापतिमसृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत । तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्चेति ॥

आत्मविद् के समीप में विश्व सत् रूप में दृष्ट होता है ? असत् कहना कैसे सम्भव हो ? आत्म विद्गण भोक्तृ भोग्यात्मक समस्त विश्व को आत्म रूप से ही जानते हैं, आत्म कार्य यह विश्व होने के कारण, पृथक् नहीं देखते हैं । जो जिस उपादान से निर्मित होता है, वह उसी रूप से गृहीत होता है, लोकाचार से स्पष्टी करण करते हैं—कनक की विकृति कुण्डलादि कनक रूप से ही गृहीत होते है, क्यों कि वे सब ही कनक है, अतएव स्वकृत यह विश्व एवं इस में प्रविष्ट पुरुष आत्म रूप से ही निश्चित है ॥

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥१०।२।२६

अपीतौ तद्वत् प्रसंगादसमञ्जसम् ।२।१।८।

श्रीदेवाऊचुः—

पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं
त्वमेवाद्य स्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने ॥
पुमान् शेषे सिद्धै र्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः
स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥४।७।४२

इस प्रकार उपादान से यदि उपादेय विलक्षणहै, तव उत्पत्ति के पहले जगत् के उपादान रूप ब्रह्म में अस्तित्व का अभाव होगा। उस समय एक मात्र ब्रह्म ही था. असत् जगत् उस से उत्पन्न हुआ है, सत् कार्य वादी को यह इष्ट नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षका उत्तर देते हैं—

ब्रह्म और जगत् का वैरूप्य कहने पर भी कोई दोष नहीं है, कारण है कि–पूर्वसूत्र में सारूप्य का प्रतिषेध करने के लिए ही वैरूप्य कथित हुआ है, उस से उपादान से उत्पाद्यका द्रव्यान्तरत्व व्यक्त नहीं हुआहै, सुतरां ब्रह्म एवं जगत् का वैरूप्य विद्यमान होने पर भी कङ्कण और सुवर्ण की भाँति द्रव्य का ऐक्य निबन्धन जगत् कार्य को असत् नहीं कहा जा सकता है, ॥

पुनर्वार आक्षेप करते हैं, यदि सूक्ष्म शक्ति का ब्रह्म चित् जड़ात्मक नाना प्रकार अपुरुषार्थ एवं विकारों का आस्पद जगत् का उपादान है, तव प्रलय काल में उस विकृतमय जगत् के संसर्गसे ब्रह्म भी विकारी एवं अपुरुषार्थ हो सकते हैं, षष्ठयन्त से इवार्थ में वत् का प्रयोगहै, तत्र तस्येवेति सूत्रके द्वारा जानना होगा। प्रलय में ब्रह्म के साथ जगत् का ऐक्य होने से ब्रह्म में जगत् का नश्वर धर्म संक्रमित होने की सम्भावना है, अतएव सर्व ज्ञान और निरु–पाधिक उपनिषद् प्रतिपाद्य गुण समूह से युक्त ब्रह्म जगत् का उपादान है, यह कैसे सम्भव होगा ?

देवगण कहते हैं, हम सव देवता हैं, सत्य हैं, तथापि जगात् के आद्य अन्तमें तुम ही रहते हो अपर कोई नहीं रहताहै। कल्पापायेमें, प्रलय विकृत कार्य समूह को उप संहार करके तुम ही आद्य पुमान उरगेन्द्र शय्यामें शयन करतेहो। तुम जनलोक वासी सिद्ध गणके चिन्तनीय अध्यात्मपदवी ज्ञानमार्ग स्वरूप हो, अधुना प्रत्यक्ष होते हो ॥

न तु दृष्टान्त भावात् ।२।१।९

श्रीदक्ष उवाच—

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिल बुद्धय वस्थं
चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्या—
मास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ।।४।७।२६

स्वपक्षे दोषाच्च ।२।१।१०

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदवबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ।।१०।८७।२५

पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं,— "तु" शब्द आक्षेप परिहार के लिए है, इस में कुछ भी असामञ्जस्य नहीं है। क्यों कि उपादेय जगत् के संसर्ग से उपादान भूत ब्रह्म में अशुद्धत्व नहीं आता है। सार्वकालिक शुद्धता के दृष्टान्त भी वर्त्तमान है, जैसे एक चित्र पट में नील पीतादि वर्ण समूह निज निज प्रदेश में दृष्ट होते हैं, किन्तु वे सब समस्त वस्त्र में बिखर कर नहीं रह सकते हैं,, जैसे कि एक ही देह में बाल्यादि देहधर्म समूह देहमें ही प्रतीत होते हैं, और काणत्व इन्द्रिय धर्म इन्द्रिय में ही प्रतीत होता है, आत्मा में नहींहै, ठीक उसी प्रकार अ पुरुषार्थ और विकार आदि शक्ति धर्म समूह शक्ति में ही अवस्थित होते हैं, किन्तु शुम ब्रह्म में उस की प्रसक्ति नहीं है।

आप स्वरूप में निरन्तर अवस्थित शुद्ध चिन्मात्र चैतन्यघन हैं, शुद्धत्व के लिए कारण है कि अखिल बुद्धि की अवस्था आप में नित्य निवृत्त है। अत आप एक हैं भेदशून्य है; अतएव आप ही एकमात्र भयशून्य हैं, श्रुति कहती है, द्वितीयाद्वै भयं भवति जीव इस स्वरूपके होने पर भी ब्रह्म में विलक्षणता हैं। माया को अभिभव करके स्वतन्त्र ही होकर माया के साथ पुरुष लीला मनुष्य नाट्य को विस्तार करते हुए माया में अवस्थित होते है और अपरि शुद्ध के समान रागादि युक्त के समान प्रतिभात होते हैं अपर सब माया से अभिभूत होकर संसार को प्राप्त करते हैं। अतएव ईश्वर आप ही हैं।।

केवल निर्दोष रूप से ब्रह्म का उपादानत्व स्वीकार नहीं किया गया है किन्तु प्रधान के उपादानत्व स्वीकार करने में दोष दिखलाया गया है, सांख्य

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति
चेदेवमप्यनिर्मोक्ष प्रसंगः। २।१।११

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः
यदा तदेवासत्तर्कै स्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥२६।४१

आद्योऽवतारः पुरुष परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ॥
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थाष्णु चरिष्णुभूम्नः।२।६।४२

एतेन शिष्टा परिग्रहा अपिव्याख्याता।२।१।१२

एवं निरुक्तं क्षितिशब्द वृत्त मसन्निधानात् परमाणवो ये ॥
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः।५।१२।९

दर्शन ने जो दोष हमारे पक्ष में दिखलाया है, वे सव दोष अन्यत्र निराकृत हुए हैं,, उपादान और उपादेय का वैरूप्य सांख्यपक्षमें दिखनेमें आताहै, सांख्य के मत में शब्दादि शून्य प्रधान से शब्दादि विशिष्ट जगत् की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है, इस प्रकार उपादान उपादेय के वैरूप्यके वश असत् कार्यवाद जान पड़ता है। प्रधान से ब्रह्म का ऐक्य स्वीकार करने पर प्रलय के समय प्रकृति के संसर्ग से ब्रह्म का अपुमर्थ एवं विकार की प्राप्ति प्रसङ्ग आदि दोष भी हो सकते हैं, प्रधान वाद में जगत् प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है।

पुरुष की वुद्धिवृत्ति अनेक प्रकार होने के कारण, पुरुष मति प्रभव तर्क समूह अप्रतिष्ठित है, वे सव तर्क के प्रति अनादर प्रदर्शन पूर्वक उपनिषद् लिखित ब्रह्मोपादानता ही स्वीकार्य है, लब्ध प्रतिष्ठित के तर्क प्रतिष्ठित है, यह भी स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि कणाद एवं कपिल लब्ध प्रतिष्ठ हैं, किन्तु उन दोनों में मत भेद सुस्पष्ट है, समस्त तर्क ही अप्रतिष्ठित है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि तर्क जिस से अप्रतिष्ठित होता है, उस से तर्क ही प्रतिष्ठित हो जाता है, जिस से तर्क की अप्रतिष्ठा न हो ऐसा तर्क ही स्वीकार्य है, समस्त तर्क को अप्रतिष्ठित कहने से जगद् व्यवहार उच्छेद का प्रसङ्ग होगा॥ अतएव ब्रह्मोपादान ही जगत् का है, यह स्थिर हुआ है,।

वेद विरोधी सांख्यादि मत के निरास से अवशिष्ट कणाद अक्षपाद प्रभृति वेद विरोधी दार्शनिक मत भी निरस्त होगये है, दोनों पक्ष में वेद

एवं कृशं स्थूलमणु बृंहद् य
दसच्च सजीवमजीवमन्यत् ॥
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म
नाम्ना जयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥५।१२।१०
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक
मनन्तरन्त्ववहिर्ब्रह्मसत्यम् ॥
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्द संज्ञं
यद् वासुदेवं कवयोवदन्ति ॥५।१२।११

विरोधी रूप समान दोष विद्यमान है, आरम्भ वाद में भी न्यून परिमाण आरम्भकत्व का कोई नियम नहीं है, दीर्घ तन्तु के द्वारा आरब्ध द्वितन्तु विशिष्ट पट में और आकाश से उत्पन्न शब्द में उसका व्यभिचार भी है ॥ कारण है कि–वस्तु विषयक तर्क को प्रतिष्ठान नहीं है, इस लिए सामान्य रूप से तर्क का परिहार किया गया है, इस कारण से अपर वुद्धमत स्वीकृत परमाणु को अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं, । कोई कोई परमाणु को क्षणिक तथा अर्थात्मक रूपसे स्वीकार करते हैं, कोई तो ज्ञान रूप से तथा अपर कोई शून्य रूप से स्वोकार करतेहैं, और अन्य कोई सद् असद् रूप सेस्वीकार करते हैं। वस्तुत सव ही परमाणु की नित्यता को स्वीकार नहीं करते हैं ॥ तव क्षिति की सत्यता होनी चाहिये ? कहते हैं नहीं। इस प्रकार क्षिति शब्द अर्थ के विना ही प्रयुक्त हुआ है। अथवा यह मिथ्या रूपसे ही अर्थ किया गया है। क्योंकि असत् जो सूक्ष्म परमाणु जो पृथिवी का कारण है, उसमें लयदेखा जाता है, अतएव परमाणु को छोड़कर क्षिति ही नहींहै, तव परमाणु सवसत्य हो जाय ? कहते है नहीं। वादिगण कार्यानुपपत्ति से मन के द्वारा ही इसे कल्पना की है। कल्पना का कारण यह है कि परमाणु समूह के द्वारा ही पृथिवी पदार्थ की कल्पना की है। अवयवि स्वीकृत न होने के कारण ही समूह को ग्रहण किया है। तथापि वेसव सत्य क्यों नहीं होगे ? नहीं। अविद्या के द्वारा प्रपञ्च निर्मित होने के कारण यह सव कल्पित है भगवन्माया विलसित अज्ञान के द्वारा ही कल्पित है।

इस प्रकार कृश, स्थूल, अणु, वृहद्, द्वैत, असत् कारण, सत्, कार्य, जीव चेतन, अजीव, जड़ आदि समस्त ही माया कृत है।

तव सत्य क्या है ? कहते है, ज्ञान ही सत्य है। यह व्यवहारिक सत्य नहीं। किन्तु पारमार्थिक सत्य है, वृत्ति ज्ञान को निरास करने के लिए षट्

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।२।१।१३

एषनित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ॥
आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजतेप्रभुः ।६।१६।९
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वपरोऽपिवा
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तॄणांगुणदोषयोः ॥६।१६।१०
नादत्त आत्मा हि गुणं नदोषं न क्रियाफलम् ।
उदासीन वदासीनः परावर दृगीश्वरः ।६।१६।११

तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः ।२।१।१४

विशेषण दियेगये हैं,, वह ज्ञान विशुद्ध है, अन्य सव आविद्यिक है, वह एकरूप है, अन्य सव बहु रूप है, वाह्य अन्तर शून्य है, अन्य विपरीत है, ब्रह्म परिपूर्ण है, अपर परिच्छिन्न है, यह प्रत्यक् है, अपर विषयाकार है, यह प्रशान्त निर्विकार है अपर सविकार है, वह स्वरूप ज्ञान ही सत्य है। वह कैसा है ? ऐश्वर्य्यादि षट् गुण से परिपूर्ण भगवत संज्ञा युक्तहै, जिन को वासुदेव कहतेहैं॥

सूक्ष्म शक्ति युक्त ब्रह्म जगत् का उपादानहैं, और स्थूल शक्ति के द्वारा ब्रह्म ही उपादेय जगत् रूप से परिणत होते हैं, यह मत ठीक हैं, ? किंवा नहीं ऐसी शंका होने पर समाधान करते हैं।

भोक्ता जीव के साथ ब्रह्म की एकता प्रयुक्त अभेदापत्ति होने के कारण द्वासुपर्णा आदि श्रुति में निर्द्धारित भेद भावका विलोप होने पर ब्रह्म की उपादानता अस्वीकार्य है, इत्यादि पूर्णपक्ष का सिद्धान्तका लौकिक दृष्टान्त से परिहार हो सकता है। लोक में जिस प्रकार दण्ड धारी पुरुष से दण्ड का भेदस्थिर नहीं होने पर भी दण्डऔर दण्डधारी पुरुष का स्वरूपतः भेद स्वीकार करना होता है, ठीक उसी प्रकार शक्तिमद् ब्रह्म से शक्ति अभिन्न होने पर भी शक्ति और ब्रह्म में भेद स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं है।

जीव नित्य है वह अव्यय है अपक्षय शून्य भी है, क्योंकि यह सूक्ष्म, जन्मादि शून्यहै, यह कैसे सम्भवहै, ? सर्वाश्रय जन्मादिमान देहादिका आश्रय है, वह देहादि रूप नहीं है। कारण यह स्व प्रकाश है, यह माया गुण के द्वारा विश्वात्मक की सृजन करता है, तदात्मानं स्वयमकुतेति श्रुतेः। वस्तुत चिच्छक्ति विशिष्ट ईश्वर ही जगत् स्रष्टा है। जीव सृजन करता है, यह कथानक मात्र है। अथवा स्वकर्म द्वारा सृष्टि निमित्त एवं भोगके निमित्त होने के कारण जीव को भोक्त्राश्रय एवं सर्वाश्रय कहागया है॥

यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते।
मृन्मयेष्विव मृज्जाति स्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥६।१६।२२

जगत् से ब्रह्म का अभेद स्वीकार कर के ब्रह्म का जगत् उपादानत्व निरूपण किया गया है, उसे असत् कहने से उक्त सिद्धान्त सङ्गत नहीं होता है, इस प्रकार आक्षेप का समाधान के लिए अधिकरणान्तर का आरम्भ कर रहे हैं, वहाँ उपादेय जगत् उपादान ब्रह्म से भिन्न है, अथवा अभिन्न है, ? मृत् पिण्ड उपादान है, और घट, उपादेय है, ऐसी बुद्धि होनेपर ही मृत पिण्ड से घट निर्माण में मानव की प्रवृत्ति होतीहै, जल आनयन में घट से जल आनयन होता है, उपादान मृत् पिण्ड से नहीं अतएव उपादान पूर्व काल रूप वस्तु है, और उपादेय उत्तर कालस्थ है, इस प्रकार दोनों में भेद सुसिद्ध है, भेदको अस्वीकार करने से कारक व्यापार व्यर्थ होगा, अतएव उपादान से असत् उपादेय की उत्पत्ति होती है, एवं उपादान से उपादेय भिन्न है, इस प्रकार वैशेषिक आदि के मत से पूर्व पक्ष होनेपर, उत्तर के लिए कहते हैं।

जीव शक्ति एवं प्रकृति शक्ति युक्त उपादान भूत ब्रह्म से उपादेय जगत् भिन्न नहीं है। कारण हैं कि—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यं" "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवा द्वितीयं" इत्यादि श्रुति वाक्य समूह चित् जड़ात्मक जगत् को तद्युक्त ब्रह्म से अभिन्न निरूपण करते हैं, इस लिए ही आचार्य समस्त जगत् ब्रह्म का उपादेय तथा ब्रह्म से अभिन्न है, ऐसे निश्चय करके उपादान भूत ब्रह्म का विज्ञानसे उपादेय समस्त जगत् का ज्ञान होता हैं, ऐशी प्रतिज्ञा करते हैं। श्वेत केतु आचार्य उपदेश का अर्थ ग्रहण में असमर्थ होकर प्रश्न करने पर आचार्य लोक प्रतीति से सिद्ध उपादान उपादेय का अभेद दिखाने के लिए कहते हैं। सौम्य ! एक ही मृत् पिण्ड रूप उपादान से घटादि उपादेय वस्तु समूह उत्पन्न होतेहैं, इसलिए मृत्तिका को जानने से घटादि का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। क्योंकि घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं है। इस प्रकारसर्व उपादान ब्रह्म को जानने से उपादेय समस्त जगत् का ज्ञान होता है॥

ब्रह्म समस्त कारण का भी कारण है, जिनमें इस परिदृश्यमान जगत् आधारित है। जिस में यह कार्य कारण रूप अवस्थित भी हैं, विलय भी होता है, उत्पन्न भी होता है, मृन्मय घटादि में मृत जाति मृन्मात्र के समान समस्त में जो अनुस्यूत है, उन ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ।

कल्पान्त जगत् अपने कारणमें निविड़ होकर रहा तम के द्वारा आवृत जगत को जिन्होंने प्रकाश किया है, उन स्वयं ज्योति को प्रणाम करता हूँ॥

कल्पान्ते कालसृष्टेन यान्धेन तमसावृतम् ।
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयं ज्योतिः स्वरोचिषा ।७।३।२६

भावेचोपलब्धे ।२।१।१५

सृजस्यदः पासि पुनर्ग्र सिष्यसे
यथोर्णनाभि भंगवन् स्वशक्तिभिः ३।२१।१८

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृते मृ्दि वाविकृतात् ॥१०।८७।१५

सत्वाच्चावरस्य ।२।१।१६

नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥१०।८७।२६

अधुना उपादेय का उपादान से अभेद सम्वन्ध में अन्य हेतु देखने में आता है, उसे प्रकाश करने के लिए सूत्रान्तर की अवतारणा करते हैं ॥

घट मुकुटादि उपादेय भाव में मृत् सुवर्णादि उपादान की उपलब्धि होती है, अतः उापदान से उपादेय का भेद नहीं है। घटादि की मृत्ति का स्वरूप में प्रत्यभिज्ञा होती है, यदि कहो कि—हस्ती अश्वादि में कल्प वृक्षादि का प्रत्यभिज्ञान नहीं है ? ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वहाँ भी हस्ती अश्वादि का उपादान भूता पृथिवी की प्रत्यभिज्ञा से व्यवहार निष्पन्न होता है। अग्नि धूम का निमित्त कारण होनेसे ही धूम में अग्नि का उक्त भाव नहीं है, धूम का उपादान आर्द्रेन्धन है, गन्ध के ऐक्य से ही ज्ञात होता है।

निज स्वरूप शक्ति योग माया के द्वारा सत्तादि समस्त शक्ति को अपना आयत्त में स्थापन किए हैं, यह विश्व अपने से भिन्न नहीं है, दृष्टान्त है कि जैसे उर्ण नाभि का सृजन का उपादान अपना शरीर हीहै। वैसे वह विश्व भी अपने से ही निर्मित हैं, शक्ति एवं शक्तिमद् में अभेद एवं भेद भी है।

भूचर व्यक्तियों नो जहाँ भी पदक्षेप किया वे सव पदक्षेप भूमि में ही हुआ है, अतएव मृन् पाषाण इष्टक आदि में विन्यस्त पदक्षेप से पृथिवी स्पर्श का परिहार नहीं होता है। अतएव समस्त वेदान्त आप को ही परमार्थ भूत सर्व कारण प्रति पादन करते हैं। श्रुति कहती है, वाचारम्भणं विकारो नाम धेयम् मृत्तिकेत्येवसत्यम्। सर्वं खलु इदं व्रह्म, इस सव वाक्यों से उपादान उपादेय भाव सुस्थिर होता है।

इस के विषय. में और भी युक्ति यह है कि अवर कालीन अभिव्यक्ति

असद् व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ।२।१।१७

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्ततः
नहि परमस्य कश्चिदपरोनपरश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ।।१०।८७।२९

के पहले तादात्म्य भावसे उपादान में सत्ता दृष्ट होती है, सुतरां उपादान एवं उपादेय पृथक् नहीं है ।।

आत्मविद्गण अशेष को आत्म रूप से ही जानते है,, आत्म कार्य होने के कारण उस से पृथक् नहीं है, जिस उपादान से जो कार्य होता है, वह उसी रूप से गृहीत होता है । कनक की विकृति कुण्डलादि है, कनकार्थी उस को कनक रूप से ही ग्रहण करते हैं, अतएव स्वकृत यह विश्व निर्माण के अनन्तर उस में पुरुष प्रविष्ट होने के कारण आत्म रूप ही इसकी प्रतीति होती है ।

" असद्वाइदमग्र आसीत् " यह जगत् उत्पत्ति के पहले नहीं था, इस श्रुति में उत्पत्ति के पहले असत्व श्रवण होने के कारण उपादान में उपादेय की स्थिती नहीं है ? इस प्रकार कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि यहाँपर जो असद् का कथन है, वह आप के मत में तुच्छ नहीं है, किन्तु धर्मान्तर है, उपादान भाव से, अथवा उपादेय भाव से अवस्थित एक ही द्रव्य स्थूलत्व एवं सूक्ष्मत्व रूप दोनों अवस्था सत् और असत् शब्द से वोधित होती हैं, यहाँपर स्थूलत्व धर्म से सूक्ष्मत्व धर्म पृथक् हैं । जगत् उत्पत्ति के पहले सूक्ष्म रूप से स्थित होता है, इसलिए उस को असत् कहा जाता है । वह नहीं था, इसलिए उसको असत् कहा जाता है, ऐसा नहीं है । असत् एक धर्मान्तरहै, यह अर्थ वाक्य शेष होता है । तदात्मानं स्वयमकुरुत" इस वाक्य शेष से सन्दिग्धार्थ उपक्रमवाक्य का इस प्रकार व्याख्या करना उचित है, न होती आसीत् और आत्मानमकुरुत इन दोनों वाक्यों का विरोध हो सकता है । क्योंकि असत् का काल के साथ असम्वन्ध प्रयोग और आत्मा का अभाव के कारण कर्त्तृत्व की असंभावना होगी ।।

करण प्रवर्त्तक ईश्वर को करण परतन्त्र नरगण भजन करते हैं, यह पहले कहागया है । केवल यह ही कारण नहीं है । उनसे उत्पन्न होने को कारण ही परतन्त्र है । श्रुति कहती है, यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव मेवास्माद् आत्मनः सर्वे प्राणा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वानि भूतानि सर्वएत

युक्तेः शब्दान्तराच्च ।२।१।१८

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै
र्वितथमनोविलासमृतिमित्यवयन्त्यबुधाः १०।८७।३७

आत्मनो व्युच्चरन्तीति, हे विमुक्ता ! नित्यमुक्त ! यदि तुह्मारी अजा मायाके साथ क्रीड़ा विहार हो तव स्थिर चर जाति युक्त देहवान जीवगण भी ही सकते है, तुम जात वस्तुयों से परे हो, सर्वथा असङ्ग हो, विहार क्यैसे ? उदीक्षया ईक्षण लेश से ही होता है, मेरे में लीन जीवों के जन्म कैसे सम्भव होता है ? उत्थ निमित्त युज, अर्थात् इक्षण से ही उत्थित आविर्भूत निमित्त समूह कर्म समूह, उस से युक्त लिङ्ग शरीर समुदय के साथ युक्त होते हैं और जन्म भी होता है । इच्छाही कारणहैं ? कर्म को निमित्त क्यों वनाया गया ? ऐसा न कहनेपर ईश्वर में विषमता आजाती है, उन में वैषम्य नहीं है, उत्तम परमकारुणिक तुम हो, आकाश के समान हो कोई भी तुम्हारा स्व एवं पर नहीं है, असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत, इत्यादि श्रुति से शून्य की प्रतीति होती है, इस लिए कहते हैं, शून्य तुलां दधतः तुम शून्य के समान प्रतीत होते हो, कारण है कि तुम वाणी एवं मनका अगोचर हैं ॥

पूर्व में असत्व को धर्मान्तर कहागयाहै, सम्प्रति उसका कारण प्रदर्शन करते हैं इस विषय में दो कारण हैं ।

असत्त्व के धर्मान्तर में जो युक्ति है, वह शब्दान्तर का कारण है, मृत् पिण्ड कम्वुग्रीबादि आकार युक्तहै, इस प्रकार व्यवहार के कारण कम्वुगीवादि विरोधी कपालादि अवस्थान्तर योग ही घट नहीं है, इस प्रकार व्यवहार के कारण है । स्मृति में भी इस प्रकार उक्त है, मृत्तिका से घट, घट नाश से कपालिका विश्लेष, उससे धूलीकण, तथा धूलीकण क्रम से अणुरूप में परिणत होता है । कार्यावस्था के विरोधी अवस्थान्तर योग में घटादि अभाव का व्यवहार सिद्ध होता है, अत घटाभाव इस प्रकार विरोधी अवस्थान्तर योगसे भिन्न नहीं है । विशेषतः इस प्रकार उपलब्धि होती है, यह युक्ति है, असत् शब्द का प्रयोग पहले होने से उस से सत् शब्द पृथक् शब्दान्तर हैं, सदेव सौम्येदमग्र आसीत् इस श्रुति में सत् शब्द का व्यवहार है, इस प्रकार युक्ति और सत् शब्द से असत् अर्थ सूक्ष्म ही होता है । शशविषाण के समान असत् शब्द का अर्थ अलीक नहीं है ।

यह विश्व सृष्ठि के पहले न था, सदेव सौम्येदमग्रआसीत् । आत्मा

पटवच्च ।२।१।१६

यम उवाच ।

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च
ओतं प्रोतं पटवद् यत्र विश्वम् ॥
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा
नस्योतवद् यस्य वशे च लोकः ॥६।३।१२

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे
ओतप्रोत मिदं यस्मिस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥१०।१५।३५

वा इदमेक एव आसीत् यह सव श्रुति इस में प्रमाण है । प्रलय के अनन्तर भी यह नहीं होगा नासदासीन्नो सदासीत् तदानीमित्यादि श्रुतेः । अतः मध्य में एक रस रूप आप में यह मिथ्या स्वरूप में रहता है, यह निश्चित है । जव इस प्रकार है, अतः श्रुति मृत लोह काष्र्णायस रूप के विकल्प भेद घट कुण्डल प्रभृति वस्तु के सादृश्य के द्वारा निरूपण करती है । जैसे कार्यरूप वस्तु समूह नाममात्र से ही भिन्न है, वस्तुतः सत्य मृदादि है, वैसे आकाशादि पदार्थ नाम मात्र से ही पृथक् है, सत्य पदार्थ एक मात्र ब्रह्म ही है, श्रुति यह प्रति पादन करती है, यथा सोम्यैकेन मृत् पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति, वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम् । यथा एकेन लोह मणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात् यथा एकेन नख निकृन्तनेन सर्वं काष्र्णायस विज्ञातं स्यात् अतएव इस की विद्यमानता में प्रमाण नहीं है, असत्त्व में प्रमाण विद्यमान है, केवल मात्र मनोविलास रूप विश्व को मानते हैं, वे सव अज्ञ है ।

पट उत्पन्न होने के पहले सूत्र रूप में अवस्थान करताहै, अनन्तर ओत् प्रोत रूप से ग्रथित सूत्र से उस की अभिव्यक्ति होती हैं, वैसे जगत् प्रपञ्च सूक्ष्म शक्तिमान ब्रह्म स्वरूप में ही संचित रहता है' पश्चात् जव ब्रह्म सृष्टि करने की इच्छा करते हैं, तव उन से ही यह अभिव्यक्त होकर प्रकाश पाताहै ॥

श्रीयमराजने कहा,—मुझ से अपर विश्व का अधीश्वर है, मैं जङ्गम पापियों का अधीश्वर हूँ । किङ्कर हूँ वह सर्वेश्वर है, वह कोन है, ? जिस में यह विश्व पट के समान ओत प्रोत है, जिनके अंश से ब्रह्मा विष्णु रुद्र, इस विश्व के स्थित्यादि कार्यनिर्वाह करते हैं, जिनके वश में वैल के समानसमस्त लोकपाल चलते हैं ।

जिस में यह विश्व पट के समान सर्वत्र संग्रथित सर्वत्र अनुस्यूत हैं ।

यथा च प्राणादिः ।२।१।२०

स्थिरचर जायतः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विरह उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्यतव शून्यतुलां दधतः ।१०।८७।२६

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नु श्चरिष्णु र्महदल्पकञ्च
विनाच्युताद्वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमात्मभूतः ।१०।४६।४३

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।२।१।२१

श्रीद्रुमिल उवाच—

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता
ननुक्रमिष्यन् सतु वालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ।११।४।२

जिस प्रकार प्राण और अपान आदि वायु प्राणायाम के द्वारा संयमित होकर भी उस समय मुख्यप्राण रूप मे अवस्थान करते हैं, फिर प्रवृत कालमें जिस तरह मुख्य प्राण के हृद्यादि स्थानों का आश्रय करने पर उस मुख्य प्राण से स्वकीय अवस्था की अभिव्यक्ति होती है, ठीक उसी प्रकार प्रपञ्च प्रलय काल में सूक्ष्म शक्ति समन्वित ब्रह्म में तादात्म्य रूप से अवस्थित होकर पुनः सृष्टि काल में जव ब्रह्म की सृष्टि करने की इच्छा होती है, तब उस से प्रधान महदादि रूप में प्रादुर्भूत होता है, उस विषय के समुच्चय के लिए 'च' शब्द है। असत् कार्य वाद में कोई दृष्टान्त नहीं देखा जाता है, इसलिए जीवशक्ति विशिष्ट, प्रकृति शक्ति युक्त एक मात्र ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा उपादेय जगत् भी तदात्मक है। इस प्रकार कार्यावस्थत्व होने पर भी, अविचिन्त्यरूप धर्म के योग होने के कारण पूर्वावस्था की विच्युति नही होती है।

दृष्ट, श्रुत, भूत, वर्त्तमान भविष्यत्, स्थावर जङ्गम, महद् अल्प वस्तु अच्युत को छोड़कर कुछ भी नहीं है वह ही सवहै एवं परमार्थ स्वरूप भी है॥

जीव को जगत् कर्त्ता स्वीकार करने से हिताकरणादि दोष होता है,। हिताकरण से अहित करण है, अर्थात् भ्रमादि दोष जानना होगा। स्वाधीन बुद्धिमान् जन कौशेय कीट के समान कभी भी देह में प्रवेश करेगा ? कौषेय

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान
मवाप नारायण आदिदेवः ।११।४।३
यत् काय एष भूवनत्रय सन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बल मोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्त्ता ।११।४।४

अधिकन्तुभेदनिर्देशात् ।२।१।२२

अस्यासि हेतुरुदय स्थिति संयमाना
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।

कीट स्वयं आवरण निर्माण करके उस में प्रवेश करता है । स्वयं स्वच्छ होकर कोई भी मलिन देह की स्वीकार करता है, ? किसी भी जीव के द्वारा प्रधान, महत् अहंकार, आकाश, पवनादिकार्य का साधन सम्पन्न हो सकता है ? साधन की चिन्ता से ही उसका परिश्रम हो सकता है ! इस लिए जीव का कर्त्तृत्व वाद सदोष है । ईश्वर के जगत् कर्त्तृत्व में जो पूर्णतादि विरोध आ पड़ताहै, उसका परिहार किया जायेगा ।

अनन्त के गुण समूह को कोई गणना करने की इच्छा करता है, तो उस को बालक की भाँति मन्दमति जानना होगा । कोई महामति जन, सुदीर्घकाल में धूलीकणों को गणना करने में समर्थ हो, तो भी अखिल शक्ति धाम सर्व शक्त्याश्रय श्रीभगवान् के गुणों की गणना करने में समर्थ नहीं होगा श्रुति कहती है—

पञ्च भूतोंसे जव इस विश्व को निर्माण करके उस में आदिदेव श्री-नारायण लीला पूर्वक प्रविष्ट हुए तो उन की पुरुष संज्ञा हुई । आप भोक्तानहीं है, प्रभूत पुण्य शाली जीव ही भोक्ता होते हैं । गुण कर्म वर्णित होते हैं । आप सत्त्वादि के द्वारा विश्व की स्थिति, लय, उद्भव के आदि कर्त्ता हैं । जिन के शरीर में अधिष्ठान में ही भुवनत्रय सन्निविष्ट है । समष्टि व्यक्ति जीवों के ज्ञान कर्मेन्द्रिय समूह ही जिन की इच्छा से होते हैं । जिन के स्वरूपभूत ज्ञान से जीवों का ज्ञान होता है, जिनका ज्ञान स्वतः सिद्ध है । जिन के श्वास से ही प्राण वल देहशक्ति ओज, इन्द्रिय शक्ति ईहा क्रिया आदि होते हैं ।

सोऽयं त्रिनाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तम पुरुषस्त्वम् ।११।६।१५
तत् तस्थूषश्च जगतश्च भवानधोशो
यन्मायायोत्थ गुण विक्रियोपनीतान् ।।
अर्थान् जूषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
योऽन्ये स्वतः परिहृतादपि विभ्यतिस्म ।११।६।१७
एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः
न युज्यतेऽसदात्मस्थैर्यथा वुद्धिस्तदाश्रया ।१।११।३८

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः २।१।२३

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता–

भेद निर्देश निबन्धन जीव से ब्रह्म का ही आधिक्य जानना होगा, शङ्का निरास के लिए तु शब्द का प्रयोग है। उरु शक्तिमत्ता एवं उत्कर्ष निबन्धन जीव से ब्रह्म का ही आधिक्य है।

इस जगत के उदयादिके आप ही हेतु हो, क्योंकि आप अव्यक्त प्रकृति जीव पुरुष, महान्, महत्तत्त्व आदि का नियन्ता काल है, वह भी आप ही हो परम अक्षर से भी आप श्रेष्ठ हैं, श्रुति कहती है–महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सापरा गतिः। संवत् सरात्मक काल भी आप हैं, इसलिए आप उत्तम पुरुष हैं, गीता में कहा गया है, यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। इस प्रकार ईश्वरत्व का परि ज्ञान कैसे हुआ हैं? कहते है,--स्थावर, जङ्गम का आप ही अधीश्वर हैं। माया से उत्थित इन्द्रियवृत्ति के विषय समूह की ग्रहण करने पर भी हे हृषीकपते! आप उस में लिप्त नहीं होते हैं, जीव गण एवं योगिगण स्वतः विषयको परित्याग करने के वाद विषय न रहने पर भी एवं त्याग करने पर भी विषय सेवन से भय को प्राप्त करते हैं, वासना मात्र से ही आवद्ध होते हैं। आप सर्वदा अलिप्त हैं ।।

ईश्वर का ईश्वरत्व वह है जो प्रकृतिस्थ होकर भी उस से जात सुख दुःख आदि से सदा ही युक्त नहीं होते हैं। दृष्टान्त यह है कि जैसे आत्मस्थ आनन्द आदि के साथ, बुद्धि आत्माश्रया होने पर भी युक्त नहीं होते हैं, जीव जैसे देह गुणों से युक्त होता है, वैसे ईश्वर प्रकृतिस्थ होकर भी उस से युक्त नहीं होते हैं, यह ही ईश्वर की ईश्वरता है।

स्तर्हि न शास्यतेति नियमोध्रुवनेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृभवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ।१०।८७।३०

उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ।२।१।२४

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनो बुद्ध्याशयात्मने
त्रिगुणेनाभिमानेनगूढ़स्वात्मानुभूतये ।।१०।१६।४२

जीब स्वरूपत: चेतन होनेपर भी उस की पाषाण काष्ठ, आदि के समान अस्वतन्त्र होने के कारण स्वकर्त्तृकत्व नहीं है, श्रुति में कहागया है, परमेश्वर जो के अन्तर में प्रविष्ट होकर उसकी नियन्त्रण करते हैं, स्मृति में भी उक्त है, ईश्वर सकल भूतों के हृदय में विराजित है।

परमात्मासे अविद्या कृत कार्योपाधियुक्त जीवगण संसार अवस्था प्राप्त करते हैं, यदि अविद्या एकहै, तव एकको मुक्तिसे सव की मुक्ति होनी चाहिये अनेक अविद्या होनेपर भी अंगान्तरमें अविद्या रहजाने पर अनिर्मोक्षप्रसङ्ग ही होगा। जीव अणुहोनेपरदेह काभी चैतन्य नहीं होगा, देह परिमाण मध्यम परिमाण होनेपर सावयव होने से अनित्य होगा। अत: सर्वगत नित्य स्वरूप कोई कोई मानतेहै, अविद्या भेदसे बद्ध मुक्त व्यवस्था होतीहै, ईश्वरकी किसी भी अंश में संसार की आशंका नहीं है। सर्व श्रुति भी एकात्म रूप से वर्णन करती है। उत्तर में कहते है, यदि जीव अनन्त एवं व्यापक होता है, तव समान होने के कारण„ शास्य शासक भार ही नहीं होगा, अन्यथा नियन्ता नियम्य भाव होगा, कार्य सव ही कारण के अधीन होते हैं। सर्वत्र ईश्वर अनुस्यूत है, और जीव को परिचालन करतेहैं, जो लोक समान रूप से जानते वह न जानने के समान है. श्रुति कहती है, यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेदस:। अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातं अविजानताम्। अवचनेनैव प्रोवाच, सह तूष्णीं वभूवेत्यादि। ज्ञात मत दुष्ट है, श्रुति कहती है, यदि मन्यसे सुवेदेति दह्रमेवादि नूनंत्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेषु इत्यादि। अतएव जीव ईश्वर परतन्त्र है।

जीव जो कर्म करता है, उस का उप संहार है, अर्थात् तत् कर्त्तृक जो कर्म आरम्भ होताहै, वह कर्म देह ही सम्पादन करता है, सुतरां प्रस्तरादि के समान जीव का अकर्त्तृकत्व कैसे कहा जायेगा ? उत्तर में कहते हैं, जीव में जो कार्योपसंहार दृष्ट होता है, उसकी प्रवृत्ति दुग्ध की भांति है, जीव में दृश्य मान कार्योपसंहार तदीय अस्वातन्त्र्य निबन्धन परमेश्वर कृतही है, ।

देवादिवदिति लोके ।२।१।२५।

त्वमेक एवास्य स्वतः प्रसुति
स्तं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ॥
त्वन्मयया संवृत चेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना नविपश्चितो ये ।१०।२।२८

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्याकोपोवा ।२।१।२६

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ॥
यावद् यत्रोपलभ्येत तावत् स्वत्वं हि तस्य तत् ॥६।१६।८

भूत, मात्रा, इन्द्रिय प्राण, मन, वुद्धि आशय चित्त, स्वरूप आप को प्रणाम, सर्व कारक स्वरूप आप को नमस्कार, अहंकार स्वरूप आप को नमस्कार। सृष्टि कार्य में जो त्रिगुण अभिमान प्रधान हैं, और इस से स्वांशभूत जीवों की जो अनुभूति होती है, वह भी आप से होती है, अतएव आप को प्रणाम ॥

कार्योपसंहार में ईश्वर का अनुपलब्धि रूप विरोध नहीं होता है। यह प्रदर्शित होता है। षठ्यन्त से इव अर्थ में वत् प्रयोग हुआ है।

इन्द्रादि देवगण इस पृथिवीमें दृष्ट न होने पर भी जैसे उन का वर्षणादि कर्त्तृत्व सिद्ध होता है, वैसे ईश्वर अनुपलभ्यमान होने पर भी उस का विश्व कर्त्तृत्व सिद्ध होता है।

तुम ही एक मात्र सर्वेश्वर हो, एवं समस्त सृष्टि का कारण भी हो, उक्त संसार वृक्षकी प्रसूति तुम ही हो, और लय स्थानभी तुम ही हो। पालक भी हो, माया के द्वारा आवृत नेत्र वाले अनेक प्रकार कारण को देखते हैं, विद्वान् गण उस प्रकार नहीं देखते है ॥

सम्प्रति जीव कर्त्तृत्व पक्ष में दोषान्तर प्रदर्शन करते हैं, जीव कर्त्तृत्व वादि के मत में जीव का स्वरूप निरंश होने से समस्त जीव स्वरूप में सकल कार्य की प्रसक्ति हो सकती है, किन्तु उस प्रकार नहीं कहा जा सकता है। अङ्गुलि आदि के द्वारा तृण उठाने के कार्यमें समस्त जीवस्वरूपका कर्त्तृत्व अनुभव नहीं होता है. जीव कृत्स्न स्वरूप में प्रवृत्त होने पर ही अवश्य कृत्स्न सामर्थ्य की अपेक्षा कर सकता है, गुरुतर पाषाण उठाने में जिस प्रकार चेष्टा दीखती है, लघु तृण उठाने में वैसी चेष्टा नहीं होती है। उस में सामर्थ्य का अंश का अनुभव होता है।

एषनित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ॥
आत्म माया गुणैर्बिश्वमात्मानं सृजतेप्रभुः ।६।१६।९
देहेन्द्रिय प्राणमनो धियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ॥
नैवान्यदा लौह मिवाप्रतप्तं
स्थानेषु तद् द्रष्टृपदेशमेति ६।१६।२४

श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात् ।२।१।२७

उस उस कार्य में स्वरूपांश की प्रवृत्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्यों कि जीव का स्वरूप निरंश है, जीव का अंशत्व स्वीकार करने से निरंशत्व श्रुति कूपिता होती है, ऐषोऽणु रात्मा इत्यादि वाक्य वाधित होता है। जीव से " भूत समूह उत्पन्न होते हैं, " इत्यादि वाक्य ब्रह्म पर हैं, सूतरां जीव कर्त्तृत्व पक्ष दूषित हुआ है।

पित्रादि सम्वन्ध प्राप्त होने पर भी जीव नित्य है, देह जन्म होने के कारण उस का जन्म है ऐसी प्रतीति होती है, अतः मैं इस का पुत्र हूँ जीव में ऐसा अभिमान नहीं रहता है, कर्मवशसे जिस पित्रादिमें जवतक सम्वन्ध रहता है, तवतक है, उस का स्वत्व रहता है। उत्तर काल में नहीं।

जीव नित्य है, कारण वह अव्यक्त अपक्षय शून्य है, कारण, वह सूक्ष्म है, जन्मादि शून्यहै, कैसे जन्मादिमान् देहादिक आश्रय भी वह है, कारण वह स्वप्रकाश है, निज माया गुणके द्वारा ही वहविश्वात्मक देह को सृजन करता हैं, 'तदात्मानं' स्वयमकुरुत इस श्रुति से उस को उपादान कारणता भी है, जीव ईश्वर का अंश है, ईश्वर कर्त्तृक सृष्टि होती हैं, और इस अंश में जीव का सृष्टि कर्त्तृत्व आरोपित मात्र ही है।

ईश्वर का ज्ञान जीव के लिए सम्भव नहीं है, अज्ञान में कारणहै, कि-देहेन्द्रिय आदि जिनके अंश से आविष्ट होकर ही अपसे अपने विषयों में प्रवर्त्तित होते हैं, सुसुप्ति मूर्च्छादि में इस का अभाव से ज्ञानाभाव दृष्ट होता है। दृष्टान्त यह है, जैसे अप्रतप्त लौह दहन कर नहीं सकता है, लौह अग्नि की शक्ति से दहन करता है, अतः दाहक अग्निहैं, ऐसें ब्रह्मगत ज्ञान क्रिया शक्ति से प्रवर्त्तित देहादि ब्रह्म की जानने में असमर्थ है, जीव भी नहीं ज्ञान सकता है, जाग्रद् आदि अवस्था में ईश्वर के उपदेश से जीव कार्य करता है, द्रष्टा ईश्वर है, जीव नहीं। श्रुति कहतीहै, नान्यो यतोऽस्ति द्रष्टा, किम्वा जीव का द्रष्टृत्व को भी ईश्वर ही जानते हैं जीव नहीं ॥

शब्द ब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ता व्यक्तात्मनः परः
ब्रह्मावभाति विततो नाना शक्त्युपवृंहितः ।३।१२।४७
'नारायण परा वेदाः' २।५।१५
स वाच्य वाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्
नामरूप क्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ।२।१०।३६
शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ।६।१६।५१

आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि ।२।१।२८

सम्प्रति कृत्स्न प्रसक्ति आदि दोनों दोष ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में है, किम्वा नही हैं, ऐसा संशय होताहै, समस्त कार्य में यदि कृत्स्न स्वरूप की ही प्रसक्ति होती है तो तृण–उत्तोलनादि कार्य में कृत्स्न स्वरूपको प्रसक्ति क्यों नहीं होती हैं ? वहाँ अंश मात्र से ही उस कार्य की सिद्धि ही सकती है, अंश प्रवृत्ति में निष्कल निष्क्रिय इत्यादि श्रुति व्याकोप होती है, अत ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में ही उक्त उभय दोष होता है, इस प्रकार पूर्व पक्षीय संगति के तत्तर में कहतेहैं-

ब्रह्म कर्त्तत्व पक्ष में लोक दृष्ट दोष की संगति नहीं होती है। कारण यह है कि ब्रह्म का कर्त्तृत्व श्रुति प्रमाण सिद्ध होताहै। शंका निरास के लिए 'तु' शब्द आया है, उपसंहार सूत्र से न कार का अनुवर्त्तन है, ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में लोक दृष्ट दोष समूह नहीं है। क्योंकि इस का ब्रह्म निरूपण श्रुति से ही सुस्पष्ट होता हैं। ब्रह्म अलौकिक, अचिन्त्य ज्ञानात्मक होने पर भी मूर्त्ति विशिष्ट और ज्ञान सम्पन्न, एक होकर भी वहुरूप से विराजमान, निरंश होने पर भी अंश युक्त परिमित होकर भी अपरिमितः सर्वकर्त्ता होने पर भी विकार रहित है,, यह सर्व श्रुति प्रमाणित है।

प्रत्यक्ष और अनुमान के अगम्य ग्रह चेष्टादिस्थल में शब्द ही साधकतम रूप से परिदृष्ट होता है, श्रुति में कहा गयाहै, अवेदविद् व्यक्ति बृहद् ब्रह्म को नहीं जान सकता है, वेद स्वत सिद्ध होनें के कारण निर्दोष है।

परमेश्वर शब्दतनु होने के कारण शब्द प्रमाण से ही अचिन्त्य शक्ति युक्त श्रीपरमेश्वर प्रकाशित होते हैं। व्यक्ता वैखरी अव्यक्तः प्रणव तदात्मा ब्रह्म शब्द प्रमाण से प्रमाणित होतेहैं, ब्रह्म परिपूर्ण तत्त्व हैं, अव्यक्तात्मा ब्रह्म आकाश की भाँति सर्वत्र उपलब्ध होते हैं, व्यक्तात्मा भी नाना शक्ति युक्त इन्द्रादि रूप में उपलब्ध होते हैं। शब्द ब्रह्म एवं परं ब्रह्म मेरा नित्य तनु है, वाच्य अर्थः वाचक शब्द दोनों ही ब्रह्म है, वेद रूप में निरन्तर अवस्थित होते हैं।।

यस्मिन् विरुद्ध गतयो ह्यनिशंपतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्या ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्त आद्य
मानन्द मात्रमविकार महंप्रपद्ये ॥४।६।१६

स्वपक्षे दोषाच्च ।२।१।२६

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद यो यथा कुरुते कार्यते च
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद् ब्रह्म तद्धेतु रनन्यदेकम् ।६।४।३०

जैसे ईश्वर की विभूति भूत कल्प वृक्ष और चिन्तामणि आदिसे हस्ति, अश्वादि विचित्र सृष्टि-समूह अचिन्त्य शक्तिमात्र से होते हैं, और इसे शब्द प्रमाण अवगत होकर विश्वास करना होता है, वैसे आत्म स्वरूप सर्वेश्वर विष्णु से देव तिर्यग् प्रभृति की सृष्टि होती है, इसे श्रुति के अनुसार विश्वास करना होगा। अचिन्त्य वस्तु का स्वभाव श्रुति मात्र गम्य है, पूर्वोक्त स्थल में जैसा कि कृत्स्न स्वरूप में सृष्टि, अथवा स्वरूपांश में सृष्टि, किंवा कहाँपर स्वरूपांश में और कहाँपर कृत्स्न स्वरूप में सृष्टि इत्यादि युक्ति का अवसर नहीं है, ठीक ऐसा ही यहाँपर समझना होगा अतएव श्रुति के द्वारा जो भी ज्ञात होगा, वह स्वीकार्य है, आत्मन शब्द के उत्तर में सप्तमी विभक्ति, कार्य के आधारत्व विवक्षा से जाननी होगी। परवर्त्ती शब्द दार्ष्टान्तिक में कैमुत्य द्योतकके लिए है, हि शब्द से पुराणादि की प्रसिद्धि सूचित होती हैं, अतएव ब्रह्म कर्त्तृत्वपक्ष श्रेय है।

तुम ही ब्रह्म हो, यह मैंने जानाहै। तुम्हें नमस्कार हो, जिस में समस्त शक्ति अकस्मात् आविर्भूत होती हैं। विश्व के उत्पत्ति अदि कार्य जिनके होते हैं, उन एक अखण्ड आदि अनादि आनन्द मात्र अविकार स्वरूप को मैंने नमस्कार करता हूँ।

जो लोक जीव का कर्त्तृत्व स्वीकार करते हैं, उनके पक्ष में कृत्स्न प्रसक्ति प्रभृति दोषापत्ति के कारण, एवं ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में उक्त दोषों का निराकरण होने से ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष ही उपादेय है।

अनिरुक्त आत्मशक्ति युक्त ब्रह्म ही जगत् कारण है, सर्व वाच्य होने के कारण ब्रह्म ही विश्वरूप हैं। जिस में, जिस उपादानसे, जिस करण से जिसके सम्वन्ध से, जिन के लिए, ईप्सिततम कर्त्ता, स्वतन्त्र कर्त्ता प्रयोज्य, कर्त्ता,

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।२।१।३०

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुण प्रवाहेण विभक्त वीर्य्यः ॥
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि
रात्मश्वरोऽतर्क्य सहस्र शक्तिः ।३।३३।३
स्वाराज्य लक्ष्म्याप्त समस्त कामः ।३।२।२१
निरस्त साम्यातिशयेन राधसा
स्व धामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।२।४।१०

प्रयोजक कर्त्ता भी जो हैं, वह ब्रह्म यहाँपर यत् शब्द के द्वारा सप्तविभक्ति का ग्रहण हुआ है„ च शब्द से भाव कर्म विहित प्रत्ययों का भी ग्रहण हुआ है, समस्त वस्तुयों के पहले प्रसिद्ध होने के कारण ही ब्रह्म ही कर्त्ता है, पर एवं अपर समस्त वस्तुयों का ब्रह्म कर्त्ता है, उनका सहकारि कारणकी उपेक्षा नहीं है, वहनिरपेक्ष कारण हैं, विजातीय शून्य एक सजातीय शून्य जो ब्रह्म उनको नमस्कार ॥

अधुना प्रकारान्तर से दोष प्रदर्शन करते हैं, संशय यह है कि—ब्रह्म वैषम्य दोष का आश्रयहै, अतः तादृश ब्रह्म का कर्त्तृत्व युक्तहै, अथवा अयुक्त है ? 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति में शक्ति का अवर्णन होने के कारण वह युक्त नहीं है । इस के उत्तर में कहते हैं, आत्मा सर्वशक्ति समन्वित है, यह श्रुति में वर्णित है, 'च' शब्द का अवधारण अर्थ है, यह आत्मा समस्त शक्ति का उपेता है, उपेता शब्द का प्राप्त है ,उपपूर्वक इन धातु के उत्तर तृच् प्रत्यय से उपेता शब्द निष्पन्न होता है, परमात्मा सकल शक्ति विशिष्ट है, अचिन्त्य शक्ति योगके कारण ब्रह्म का कर्त्तृत्व युक्त होता है„सत्यं ज्ञानं श्रुति में स्वरूप का देवात्मशक्ति श्रुति में शक्ति का उल्लेख है, सुतरां ब्रह्म स्वरूप शक्तिविशिष्ट है ।

आप कैसे सर्गादि कार्य करतेहैं ? शक्ति के द्वारा ही सर्गादि कार्यकरते हैं, साक्षात् नहीं । आप अनीह–निष्क्रिय हैं, कैसे शक्ति के द्वारा सृष्ट्यादि कार्य होते हैं ? आप सत्य सङ्कल्प हैं, किस के लिए यह सब करते हैं ? जीवों के भोग के लिए । विचित्र भोग समूह कैसे एकेला निर्माण कैसे करते हैं, ? अतर्क्य अपरिमित शक्ति समूह आप में हैं, ।

परमानन्द स्वरूप सम्पत्ति के द्वारा समस्त भोग पूर्ण है, जिसके अपेक्षा से अन्य में साम्य अतिशयता भी नही है, इस प्रकार ऐश्वर्य युक्त स्व स्वरूप

विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् ।२।१।३१

त्वमकरणस्वराडखिलकारकशक्तिधर
स्तवबलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजया निमिषाः
वर्षभुजो क्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ।१०।८७।२८

ब्रह्म में निरन्तर विराजित हैं ।

पुनरपि शंका कररहे हैं कि-ब्रह्म इन्द्रिय रहित होने के कारण उस का कर्त्तृत्व असम्भव है, देवतागण शक्ति सम्पन्न होने पर भी इन्द्रिय विशिष्ट हैं, वे सब इन्द्रिय विशिष्ठ होनेके कारण कार्यों में सूक्ष्म होते हैं, इन्द्रिय रहित ब्रह्म कैसे विश्व कार्य में समर्थ हो सकता हैं ? श्रुति में ब्रह्म का इन्द्रिय शून्यत्व कहा गया है, श्वेताश्वतर में ब्रह्म के हात पाँव कुछ नहीं है—ऐसा वचन हैं, इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।

उक्त शंका का समाधान श्रुति ने कियाहै । ब्रह्म स्वभावत पराशक्ति समन्वित है वह श्रुति में कहा गया हैं । ब्रह्म की इन्द्रिय हीनता में भी कर्त्तृत्व अयुक्त नहीं है, श्रुति कहती है, ब्रह्म ईश्वरों का भी ईश्वर है उस का कार्य करण कुछ भी नहींहैं । उस की स्वाभाविकी शक्तिका श्रवण देखने में आता है । ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और इच्छाशक्ति उसकी स्वाभाविकी पराशक्ति हैं । ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्ष में उस के पूर्वत्व होने के कारण कोई कार्य असाध्यनहीं है, यहाँ साधनीय कार्य का निषेध किया गया है, उस लिए करण विधान का भी निषेध हो रहा है ।।

यदि अखिल सत्त्व निकेत होने से भगवान सेव्य है, ऐसा कहा जाय तो उस में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की प्रसक्ति होगी, वस्तुत ऐसा नहीं है, नहीं तो जीव के साथ समता हो जायेगी ।। अतः विशेषता क्याहै, जिस से सेव्य सेवक भाव ही सकता है ? उत्तर में कहते है, अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्य चक्षुः सशृणोत्यकर्णः सवेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराण मित्याद्याः श्रुतिगण उन कोस्तव करतीं हैं । करण सम्वन्ध रहित होकर भी ब्रह्म अखिल प्राणियों की इन्द्रिय समूह को शक्ति प्रदान करते है । कारण ब्रह्म स्वराट् है; जिनकी स्वतः सिद्ध ज्ञान शक्ति है, उन की किसी भी शक्ति की अपेक्षा नहीं है, इस लिए समस्त व्यक्ति उनकी पूजा विधान करतेहैं । अविद्या वृत समस्त व्यक्ति और ब्रह्मादि देवगण भी जैसे सम्राट्को प्रजागण व मण्डल पति गण सेवा करते हैं, वैसे ही समस्त अधिकारी देवगत ब्रह्म को उपहार प्रदान करते हैं, और उनके ही निर्देश से अधिकार पर रहकर कर्त्तव्य पालन

न प्रयोजनवत्वात् ।२।१।३२

न तस्य कश्चित् दयितः प्रतीपो न ज्ञातिबन्धुर्न न च स्वः ।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य सुखे न रागः कुत एव रोषः ।६।१७।२२

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।२।१।३३

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः
क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीड़िषान्यतः
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ।३।७।२-३

करते हैं, आप की आज्ञा पालन ही उपहार प्रदान है, श्रुति कहती है, भीषास्माद्वातः पवते भीषीदेति सूर्यः भीषास्माद् अग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

पूर्ववर्त्ती सूत्र से न कार का अनुवर्त्तन हुआ है । निषेधार्थक न शब्द के साथ समास होने के कारण न कार का लोप नहींहै । ब्रह्म की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्यों कि जो पूर्व वस्तु है, उसका फिर प्रयोजन ही कहा है ? लोक में स्वार्थ में अथवा पदार्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है, ब्रह्म पूर्व काम है, अतएव उसकी स्वार्थ में प्रवृत्ति का होना असम्भव है, परार्था प्रवृत्ति भी नहीं है, सामर्थ्यवान ही परके अनुग्रह प्रकाश में प्रवृत्त होता है । यहाँ सृष्ट्यादि में प्रवृत्ति जन्म-मरणादि विचित्र यातना प्रदान के लिए है, निग्रह प्रवृत्ति ब्रह्म में कभी भी नहीं हो सकती है, प्रयोजन के विना सृष्ट्यादि की प्रवृत्ति स्वीकार करने से श्रीहरि में उन्मत्तता दोष की आपत्ति हो सकती है, जिस से सर्वज्ञ त्वादि वोधक श्रुति वाक्य समूह की व्यर्थता होती है, अतः ब्रह्म की सृष्टचादि प्रवृत्ति अयुक्त है, इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं —

ब्रह्म के कोई दयित नहीं है, नतो अप्रिय ही हैं । ज्ञाति बन्धु भी नहीं है । क्योंकि आप सर्वत्र सम है, कारण है कि आप निरञ्जन निःसङ्गहैं, अत एव सङ्ग, जनित सुख में राग ही नहीं है, और रागानुबन्ध दोष की भी संभा वना ही कहाँ है, ?

तु शब्द शंका निरास के लिए है, परिपूर्ण की विचित्र सृष्टि में प्रवृत्ति केवल लीला ही है, वह लीला स्वयं फल भागी होनेके लिए नहीं, है, षष्ठ्यन्त के उत्तर में वति प्रत्यय हुआ है, दृष्टान्त है कि—सुखोन्मत्त लोक को सुखोद्रेक से ही होती है, किन्तु फलाभिलाषी होकर नहीं हैं, वैसे परमेश्वर भी लीला

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोती र्भवतस्त्रिलोक्याम् ॥
क्वचा कथं वा कति का कदेति
विस्तारयन् क्रीड़सि योग मायाम् १०।१४।२१

वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति।२।१।३४

कर्मणा जायते जन्तु कर्मनैव विलीयते
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ।१०।२४।१३
देहानुच्चावचान् जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा
शत्रुर्मित्रोदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ।१०।२४।१७

के लिए हो सृष्ट्यादि में प्रवृत होते हैं, अतएव यह लीला स्वरूपानन्दात्मिका ही है । माण्डुक श्रुति में उक्तहै, परमेश्वर की यह सव लीला स्वाभाविकी है, आत्माराम आप्तकाम की स्पृहा कहाँ है ? इस दृष्टान्त से असार्वज्ञ दोष नहीं आता है।

भगवान् की लीला योगमाया से होती है, किन्तु मैत्रेय जीने कहा कि- भगवान् मायागुण से सृष्ट्यादि करते हैं, संशय होने पर विदुरजीने पुछा, हे ब्रह्मण् ! चिन्मात्र अविकारी भगवान् लीला से भी क्यों माया से युक्त होते हैं, निर्गुण की गुण क्रिया कैसे सम्भव हो ? वालक की भाँति भी लीला की सम्भावना नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में वैषम्य है, वालक की क्रीड़ा के प्रति प्रवृत्तिहेतु इच्छा है, अपर वस्तु के लिए अथवा अपर वालक को प्रवृत्त कराने के लिए हो वालक की इच्छा होती है, और इस से क्रीड़ा की इच्छा भी होती है, ईश्वर स्वतः तृप्तहै, अतएव इच्छा की सम्भावना हीहै, अन्य वस्तु से सदा निवृत्त एवं असङ्ग होने के कारण द्वितीय रहित व्यक्ति के लिए अपर के लिए क्रीड़ा की इच्छा की भी सम्भावना कैसे हो सकती है ?

ईश्वर की समस्त लीला ही दुर्ज्ञेय है, ईश्वर भूमा है, ब्रह्म है, व्यापक है, अपरिच्छिन्न है । अतएव आपकी लीला के कारणको कोन जान सकता है, तीन लोकों में इस का ज्ञाता नहीं है, कौन जानता कहाँ क्यों कव और कितनी लीला होती है, कौन जानता है क्योंकि आप की योगमाया वैभव अचिन्त्य तर्कागोचर है।

जगत् कर्त्ता ब्रह्म में वैषम्यादि दोष नहीं है, कारण है कि जीव अपने कर्म सेही सुख दुःख का भोक्ता होता है । श्रुति कहती है—जो सत् कर्म

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।२।१।३५

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः ।
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ।२।५।१७
सत्वं रज स्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थितिसर्ग निरोधेषु गृहीता मायया विभोः ।२।५।१८
स एष भगवांल्लिङ्गैः स्त्रिभिरेतैरधोक्षजः
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां ममचेश्वरः ।२।५।२०
कालं कर्म स्वभावञ्च मायेशोमायया स्वया
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विवुभूषुरुपाददे ।२।५।२१

करता है ईश्वर उस को उत्तम गति देते हैं, और जो असत् कर्म करता है, परमात्मा उस को असत् गति देते हैं, कर्म के अनुसार ही ईश्वर जीव को उच्चावच गति प्रदान करते हैं ।

स्वकृत कर्म के द्वारा ही जीव जन्म ग्रहण करता है, और मृत्यु को भी कर्मसे ही प्राप्त करताहै, सुख दुःख भय मङ्गल सब ही कर्मसे प्राप्त करताहै ॥

जीव स्वभाव कर्म संस्कार के अधीन है, उच्चावच देहको जीव अपने कर्म से ही प्राप्त करता है, शत्रु मित्र उदासीन भाव को भी जीव कर्म से ही प्राप्त करता है, अतएव कर्म ही गुरु है, और प्रेरक भी हैं ईश्वर कर्म के अनुरूप ही फल प्रदान करते हैं । उन में विषमता नहीं है ।

कर्म के द्वारा विषमता परिहार की चेष्टा की गयी है, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्म का विभाग नहीं है । सृष्टि प्रपञ्च अनादि है, इस प्रकारभी नहीं कह सकते हो, सदेव सौम्येद मित्यादि श्रुति से सृष्टि के पहले ब्रह्म के द्वारा कर्म विभाग की सम्भावना आपाततः प्रतीत होने पर भी क्षेत्रज्ञ जीव अनादि होने से उसका परिहार हो जाता है ।

पूर्व पूर्व कर्मके अनुसार ही जीवों को पुण्य पाप में प्रवर्त्तन कराते है, कर्म अनादि है, इस लिए कोई विरोध नहींहै । कर्म अनादि होने से अनवस्था दोष भी नहीं हो सकता है, कारण वह वीजाङ्कुर की भाँति प्रामाणिक है । कर्म सापेक्ष के कारण ईश्वर की स्वतन्त्रता की हानि भी नहीं होती है, क्योंकि स्मृति में द्रव्य—कर्म–कालों की सत्ता को ईश्वराधीन कहागया है । पूर्व दोष रह ही गयाहै, ऐसा भी नहीं कह सकते हो, क्योंकि अनादि जीवों के स्वभाव के अनुसार परमेश्वर उन्हे कर्म करातेहैं, वे स्वभाव को अन्य प्रकार करने में

उपपद्यते चाभ्युपलभ्यते च।२।१।३६

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज !
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।९।४।६३
नाहमात्मान माशासे मद्भक्तैः साधुर्भिविना
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहंपरा ।९।४।६४

समर्थ होने पर भी किसी के स्वभाव को अन्य प्रकार का नहीं करते हैं। इस लिए ही ब्रह्म को अविषम कहा गया है।

ब्रह्मा जी कहते हैं, अखिलात्मा कूटस्थ द्रष्टा परमात्मा को सृष्ट वस्तु को ही में सृजन करताहूँ। उनके कटाक्ष प्रेरित होकर ही सव कुछ करता हूँ। आप ही ईश्वर हैं। विभु सत्त्व रज स्तम को स्थिति सृष्टि, लयके के लिए अपनी माया शक्ति से ग्रहण किए हैं। वह भगवान् अधोक्षज जीवावरक उपाधि से सर्वथा अलक्षित गतिकाहै क्यों कि आपसव के और मेरा भी ईश्वर है। मायेश भगवान् अनेक होने की इच्छा से निज माया से कलि जीवादृष्ट कर्म और स्वभाव को यदृच्छा से ही ग्रहण करते हैं।

ब्रह्म में वैषम्यादि दोष का परिहार हुआ है। सम्प्रति उन का भक्त पक्षपात दोष दृष्ट होताहै। भक्त संरक्षण और उनकी आपदका निवारण रूप वैषम्य ब्रह्म में है अथवा नहीं है ? ऐसा संशय होने पर भक्त रक्षणादि कर्म सापेक्ष है, ब्रह्म अपेक्षा रहित है, अतः उक्त वैषम्य ब्रह्म में नहीं हैं।। पूर्व पक्ष में इस प्रकार सिद्धान्त होने पर समाधान के लिए कहते हैं।।

भक्त वत्सल प्रभुमें भक्त पक्ष पात दोष उपपन्न होता हैं, प्रभु का भक्त पक्षपात कर्म उन की स्वरूप शक्ति रूपा भक्ति शक्ति की अपेक्षा से होता है। इसलिए निर्दोष वाचक श्रुति वाक्य का विरोध नहीं होता है। यह भगवान् में गुण स्वरूप है। उन में वैषम्य गुण न रहने से उपर कोई गुण भक्तों को रुचिकर नहीं होता हैं। और अन्य गुणों का प्रवर्त्तन भी नहीं ही सकता है। श्रुति कहती है, श्रीप्रभु भक्ति से प्रसन्न होकर जिस को अपनाते है वह व्यक्ति उन को प्राप्त करता है। तथा श्रीहरि उस को श्रीविग्रह का दर्शन देते हैं। श्री गीता में उक्त है, मैं सव भूतों में समदर्शी हूँ, मेरा शत्रु भी नहीं मित्र भी नहीं है, जो मुझे भक्ति भाव से अनन्य रूप से भजन करता है, वह मुझ में और मैं भी उन भक्त में अवस्थान करता हूँ।

अस्वतन्त्र व्यक्ति के समान ही मैं भक्त पराधीन हूँ। मैं भक्त जनप्रिय हूँ। और साधुओं से मेरा हृदय भी ग्रस्त हुआ है, साधुओं को छोड़ मैं अपनी

मयि निर्बद्ध हृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशे कुर्वान्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ९।४।६६
साधवो हृदयं मह्यं साधुनां हृदयन्त्वहं
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि ॥९।४।६८

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।२।१।३७

विश्वाय विश्वभवन स्थिति संयमाय
स्वैरं गृहीत पुरुशक्ति गुणाय भूम्ने ।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहित पूर्णवोध
व्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ।८।१७।९॥
न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्विषेऽस्मिं
स्तवावतारः खलनिग्रहाय ॥
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे
र्धत्से दमं फल मेवामुशंसन् ।१०।१६।३३

आत्मा को भी नहीं चाहता, जिस की एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ ऐसी लक्ष्मी को भी में नहीं चाहता हूँ। समदर्शी साधुगण मुझ में बद्ध हृदय होकर सत् स्त्री सत्पति को जैसे वशमें करलेती है, वैसे मुझको वशीभूत करतेहैं। साधु गण मेरा हृदय हैं और मैं साधुओं के हृदय हूँ। मुझ को छोड़कर वे अपरकुछ भी नहीं जानते मैं उन सबों को छोड़ कर कुछ भी नहीं जानता हूँ।

विशेषतः अचिन्त्य स्वरूप सर्वेश्वर में विरुद्ध अविरुद्ध निखिल धर्म उपपन्न होते हैं। भक्तपक्षपात भी गुण रूपसे ज्ञानियोंका आदरणीय हैं। भगवान् जैसे ज्ञान स्वरूप होकर भी ज्ञानवान् हैं, तथा श्याम सुन्दर विग्रह हैं, ठीक उसी प्रकार अविषम होकर भी भक्त पक्ष पाती हैं, उन में उक्त परस्परविरुद्ध धर्म की तरह क्षमा और सारल्यादि अविरुद्धधर्म समूह का भी समावेश है। स्मृति कहती है, ऐश्वर्य्य योग से भगवान् विरुद्ध धर्म समन्वित रूप से ख्यात होतेहैं। किन्तु उन में किसीभी प्रकार दोषारोप करना कर्त्तव्य नहींहै, उनका परस्पर विरुद्ध गुण समूह का समाधान करना होता है, इस प्रकार श्रीहरि अविषम होने पर भी भक्त सुहृद् सिद्ध हुए हैं॥

परम भूमा आप को प्रणाम, कारण है कि—आपमें ही विश्व स्थिति संयमन तथा भवन आदिकी पूर्ण शक्तिहै, तथापि आप अप्रच्युत स्वरूपहैं, क्यों

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।१०।१६।३४

—※—

※ द्वितीयोऽध्यायस्य द्वितीयपादः ※

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।२।२।१

कल्पान्ते कालसृष्टेन यान्धेन तमसातवृतम्
अभिव्यनग् जगदिदं स्वयं ज्योति स्वरोचिषा ।७।३।२६

कि आप निरन्तर नित्योर्जित पूर्ण बोध के द्वारा नित्य ही माया लक्षण तमः को पराभूत करके विराजित हैं ॥

आप में निग्रह एवं अनुग्रह लक्षण वैषम्य है, किन्तु शोभन ही है। आप न्याय कर्त्ताहै, दोषी के प्रति आपका दण्ड प्रदान उचित हीहै, आप का अवतार खल निग्रह के लिए तो ही है। आप अन्यायी नहीं है, दण्ड विधान भी आप यथायत् आलोचन करके ही करते हैं, अतएव शत्रु एवं निजपुत्र के प्रति उक्त नियम का अतिक्रम नहीं है।

आपका निग्रह भी अनुग्रह ही है, निग्रह के द्वारा पापज असद् बुद्धि विदूरित होती है, और रह असत् कर्मकारी सद् गति को प्राप्त करता है।

इति ब्रह्मसूत्रस्य श्रीमद् कृष्णद्वैपायनकृतश्रीमद्भागवतभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

——※——

द्वितीय अध्यायका प्रथम पादमें ब्रह्म कारणता वाद में अपर जन उद्भावित दोषोंका निरास किया गयाहै, द्वितीय पादमें परपक्ष में दोषों का प्रदर्शन किया जाता है, इस प्रकार न करने से लोक वैदिक मत को परित्याग करके असत् पथमें प्रवृत्त हो सकते हैं, जिस से उनका अनर्थ हो सकता है। पहले सांख्य मत का निरसन कररहे हैं, सांख्याचार्य के मत में गुणत्रय की साम्यावस्था प्रकृतिहै। प्रकृति से महत् महत् से अहंकार अहकारसे पञ्चतन्मात्र, उस से ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय तथा स्थूल पञ्च महाभूत एवं पुरुष यह पञ्चविंशति तत्त्व है ॥

मूल में मूलाभाव के कारण, कारणान्तर रहित मूल प्रधान है। यह सव का उपादान है, एवं अपरिछिन्न है। सर्वत्र कार्य दर्शनात् विभू भी है, स्वय अचेतन होने पर भी अनेक जीवों के भोग एवं अपवर्गका कारण हैं। पुरुष

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति
रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ।७।३।२७

प्रवृत्तेश्च ।२।२।२

त्वमेकमेवास्य स्वतः प्रसूति-
स्तं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृत चेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ।१०।२।२८

निष्क्रिय, निर्गुण, विभु चित् स्वरूप प्रति शरीरमें भिन्नहै, विकार और क्रिया के अभाव के कारण कर्त्तृत्व धर्म शून्य पुरुषहै। परस्पर के सामीप्य से ही परस्पर में धर्म का अध्यास होता है, अविवेक से भोग होता है, और आप का विवेक से अपवर्ग होता है। परिमाणात्, समन्वयात् शक्तितः आदि सूत्रों के द्वारा अनुमान से प्रधान का जगत् कारणत्व स्थापन किया गया है उस को निरास करणे के लिए कहते हैं।

चेतन के अधिष्ठानके विना इस प्रधान को विचित्र रचनामय परिदृश्य मान जगत् का उपादान व निमित्त कारण मानकर उस का अनुमान नहींकिया जा सकता है, प्रधान अचेतन है, सुतरां प्रधान से जगत् की सृष्टि होती हैं, इस प्रकार अनुमान असंगतहै, इस जगत् में अचेतन इष्टकादि स्वयं प्रासादनिर्माण करने में समर्थ नहीं है, सूत्रोक्त च शब्द अनन्वय का संग्राहक है। घटादि वाह्य पदार्थ सुख रूप से अन्वित नहीं है। सुखादि विषय आन्तर धर्म है। वाह्य वस्तु सुखादि का हेतुहैं सुखादि स्वरूप में उनकी प्रतीति नहीं होती है॥

कल्पान्त में काल सृष्ट प्रकृति गुणरूप तम के द्वारा अनावृत जगत् को जिन्होंने स्वयंज्योति के द्वारा अभिव्यक्त किया है, एवं त्रिगुण रूप से इसजगत् को सृजन, रक्षण, संहार करते हैं, उन रज सत्त्व तमः के आश्रय अपरिच्छिन्न परमेश्वर को प्रणाम है।

जड़ चेतनाधिष्ठित होकर ही सक्रिय होता है। रथ एवं सारथि का दृष्टान्त ही उक्त विषय में पर्याप्त है। इस दृष्टान्त से " वृक्ष फल प्रसव करता है", प्रधान कारण वादि का कथन भी निरस्त हुआ है, यहाँपर भी चेतना धिष्ठितत्व स्वीकार किया गया है। अन्तर्यामी ब्राह्मण इस विषय का उल्लेख है। सूत्रोक्त च शब्द अवधारण अर्थ में है, 'मैं कर रहा हूँ," इस दृष्टान्त से चेतन का ही कर्त्तृत्व वोध होता है। प्रष्टव्य है कि प्रकृति-पुरुष की परस्पर सन्निधि से परस्पर धर्माध्यास स्वीकार किया जाता है, वह सन्निधि प्रकृति

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ।२।२।३

एक स्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत्त्व—
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुण व्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तै रवसितस्तदनुप्रविष्टः ।७।६।३०

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।४

निर्गुणोऽपि ह्यजोव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः ।
स्व माया गुणमाविश्य बाध्य बाधकतांगतः ।७।१।६

पुरुष दोनों का सद्भाव अथवा प्रकृति पुरुषगति कोई विकार है ?

उभय का सद्भाव स्वीकृत नहीं हो सकता, क्योंकि उसके स्वीकार करने से मुक्त पुरुषों के भी अध्यास का प्रसङ्ग होगा। शेष पक्ष का स्वीकार भी असंगत है। अध्यास कार्यरूप से अभिमत प्रकृतिगत विकार के अध्यास हेतुत्त्व की असंभावना होने के कारण इस विकार को प्रकृतिगत नहीं कह सकते इस विकार को पुरुष गत भी नहीं कह सकते। क्योंकि पुरुष गत विकार का स्वीकारना नहीं है। अतः प्रधान की जगत् कारणता असिद्ध हुआ है।

इस प्रकार संसार वृक्ष का तुम ही एकमात्र प्रसूति, प्रकृष्ट रूप से जन्य से जन्म होता है वह कारण तुम ही हो, तुम ही सन्निधान, लय स्थान भी हो, तुम ही अनुग्रह पालक भी हो अविद्वान् जनगण अनेक कारण कहते हैं, जो विद्वान् है वह उस प्रकार नहीं देखते हैं।

दुग्ध एवं जलादि अचेतन वस्तु समूह चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य में प्रवृत्त होते हैं, स्वयं उन की प्रवृत्ति नहीं है, तथापि दृष्टान्त से यह सब अनुमान किए जाते हैं, अन्तर्यामी ब्राह्मण से उनका चेतनाधि ष्ठितत्त्व सिद्ध होता है ॥

यह जगत एकमात्र तुम ही हो कारण इस के आदि अन्त एवं मध्य में सन्मात्र रूप से कारण रूप से एवं अवधि रूप से तुम ही अवस्थित होते हो, भेदकी प्रतीति गुणात्मिका निज मायाश[illegible] जगत् सृष्ट होनेके कारण होतीहै।

यहाँपर 'च' कार 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सृष्टि के पहले प्रधान के व्यतिरिक्त हेत्वन्तर की अनवस्थिति उपेक्षित होने के कारण केवल प्रधान का ही निज परिणाम कर्त्तृत्व निरस्त होताहै, प्रधान के व्यतिरिक्त कोईकारण सृष्टि के पहले नहीं है। इस प्रकार स्वीकृत मत की उपेक्षा होती है। क्योंकि

अन्यत्राभावाच्च नतृणादिवत् ।२।२।५

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति
रजः सत्त्व तमोधाम्ने पराय महतेनमः ।।७।३।२७

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् २।२।६

त्वमीशिषे जगतस्तस्थूषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।।
चित्तस्य चित्तै र्मन इन्द्रियाणां
पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः ।७।३।२८

उस समय चैतन्य सन्निधि के देत्वन्तर का अंगीकार होता है।

अतएव केवल जड़ कर्त्तृत्व वाद निरस्त हुआ है। प्रलय काल में अदृष्ट उद्बोधक के अभाव के कारण कार्य का अभाव है,—ऐसा नहीं कह सकते हो। कारण यह है कि उस समय अदृष्ट का उद्बोधक भी घट सकता है।

भगवान् प्रकृति से अतीत है, अतएव प्रकृति गुण शून्य है, निर्गुण होने होने के कारण ही अज है ।। जन्मादि रहित होने के कारण ही आप अव्यक्त हैं। ऐसा होने पर भी निज मायाशक्ति के गुणोंमें आविष्ट होकर समस्त कार्य करते हैं ।।

हेतु के विनाहि लतातृण पल्लवादि स्वभाव से ही दुग्ध रूप में परिणत होते हैं, वैसे प्रधान भी स्वभाव से ही महदादि रूप में परिणत होते हैं, ऐसे पूर्व पक्ष के उत्तर में कहतेहैं, अन्यत्र क्षीराकारमें परिणतिके अभावके कारण तृणादि स्वभाव से सी परिणाम को प्राप्त करते हैं, ऐसा नहीं कर सकते हो। यहाँपर निश्चयार्थ में 'च' शब्द है, इस प्रकार का पूर्व पक्ष असङ्गत है। वृष भी तृण भक्षण करता है, उस में तृण दुग्ध रूपमें परिणत नहीं होता है। यदि तृण स्वभाव से ही दग्ध रूप में परिणत होता, तव चत्वर में पड़े हुए तृण भी दुग्ध रूप में परिणत होता, यह नहीं होता है, अतः केवल स्वभाव को ही परिणाम का हेतु नहीं कहा जाताहै। व्यक्ति विशेष के सम्वन्ध से सर्वेश्वर प्रभु का संकल्प ही उसका कारण है।

जो त्रिगुण स्वरूप से इस जगत का सृजन, पालक एवं संहार करता हैं, उन रजः सत्त्व, तम का एक मात्र आश्रय अपरिच्छिन्न परमेश्वर को नमस्कार ।।

जड़ स्वरूप प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति नहीं है, यह पहले स्थिर हुआ है।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।२।२।७

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यदास्यवीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोधवीर्यः ।।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्ड कोशं
हैमं ससर्ज वहि रावरणैरुपेतम् ।।११।६।१६
यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ ।७।५।१४

अव तुम्हारी प्रसन्नता के लिए प्रधान कारण वाद को स्वीकार करने पर भी तुम्हारी अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती है। समझाने के लिए कहते हैं। प्रधान की स्वाभाविकी प्रवृति स्वीकार करने में कोई फल नहीं हो सकता है। पूर्व सूत्र से चारों सूत्रों में 'न' कार का अनुवर्त्तन है। पुरुष मुझ को भोग करके दोषका अनुभव करेगा, तदनन्तर मेरे प्रति उदासीन होने से मुक्त होगा" इस प्रकार पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए ही प्रधान की प्रवृत्ति अनुमित होती है। पूर्व पक्षी की इस प्रकार प्रवृत्तिका स्वीकार करना संगत नहीं है। क्योंकि स्वीकार से कोई फल नहीं है। निर्विशेष निर्विकार अकर्त्ता चिन्मात्र पुरुष के लिए भोग एवं भोक्ष भी असम्भव है। मोग के पहले अपवर्ग स्थिर होने के कारण उस की प्रव्रृत्ति की व्यर्थता होती है। सन्निधि मात्र से ही भोग का सिद्धान्त भी समुचित नहीं है, कारण सन्निधि नित्य होने के कारण मुक्तों को भी भोक्तापत्ति आसकती है ।।

ईश्वर स्वयं एवं त्रिगुणात्मिका शक्ति के द्वारा ही कारण है,यह दर्शित हुआ है, सम्प्रति महत्व एवं ईश्वरत्व प्रतिपादन करते हुए करते हैं। तुम ही स्थावर एवं जङ्गम का नियन्ता हो, सूत्रात्मा रूप से समस्त पदार्थ को नियमन करते हैं, अतएव तुम समस्त प्रजाओंके पति ही उन सबके चित्त का भी पति हो, चेतना का एवं मन का, तथा मन के द्वारा नियम्य इन्द्रियों के भी पति हो अतएव तुमही महान् भूत समूह आकाश प्रभृति उन सब के गुणों का शब्दादि विषयों का एवं वासना आदियों का भी तुम ईश हो, अर्थात् तुम ही स्रष्टा हो ।।

जिस प्रकार गमन शक्ति रहित और दर्शन शक्ति से युक्त पंगु पुरुष के सन्निधान से गमन शक्तिमान् दर्शन शक्ति रहित अन्धा भी अपने कार्य में प्रवृत्त होता है, जैसा कि चुम्बक पाषाण के सन्निधान से जड़ लौह भी चलता है, ठीक उसी प्रकार चिन्मात्र पुरुष के सन्निधान से अचेतन प्रकृति उस की छाया के द्वारा चेतन की तरह पुरुष के भोगार्थ सृष्टयादि कार्य में प्रवृत्त होती है।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।२।२।८

तत्—तस्थूषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थ गुणविक्रियोपनीतान् ।
अर्थान् जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि विभ्यति स्म ।११।६।१७

इस पूर्व पक्ष का समाधान के लिए कहते हैं —

ऐसा होने पर भी जड़ वस्तु की स्वतः प्रवृत्ति नहीं सिद्ध होती है, पङ्गु की गमन शक्ति नहीं रहने पर भी मार्ग दर्शन, तथा उस विषय में उपदेशादि शक्ति और अन्धे की दर्शन शक्ति नहीं रहने पर भी पंगु के उपदेश ग्रहणादि की विशेष शक्ति सम्भव होती है, अयस्कान्तमणिका लोह सामीप्यादि सम्भव होताहै, किन्तुनित्य निक्रिय, निर्धमंक पुरुष का कोई भी विकार नहीं है। सन्निधि मात्र से विकार को स्वीकार करने पर सन्निधि के नित्यत्व होने के कारण सृष्टि का नित्यत्व और मोक्ष का अभाव भी आ पड़ता है। सुतरां पङ्गु और अन्ध दोनों चेतन तथा अयस्कान्तमणि तथा लौह यो दोनों जड़ होने के कारण दृष्टान्त की विषमता स्पष्ट ही देखी जाती है ।।

श्रीहरि ही प्रकृत्यादि द्वारा जगत् सृष्ट्यादि का कारण हैं वह किस प्रकार से है उसका वर्णन करते हैं। तुम से ही पुरुष शक्ति की प्राप्तकर माया से मिलित होकर सृजन करता है, उस में दृष्टान्त है—जैसे गर्भ का सृजन होता है। सृष्ट महान् भी तुम्हारी माया के अनुगत होकर श्रष्ट कोश को सृजन करताहै। यह माया भी तुम्हारी शक्तिहै, हे ब्राह्मण जैसे लौह स्वयं आकर्षक अयस्कान्तमणि के समीप में भ्रमन् करताहै, वैसे ही यदृच्छाक्रमसे चक्रपाणि के सान्निध्य से सब अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष के वश अंग-अङ्गि भाव के कारण विश्व सृष्टि होती है, इस प्रकार के मत वादियों का पक्षको निरास करने के लिए कहते हैं—गुण के अङ्गित्व अनुपपन्न है। अतः यह पक्ष असङ्गत होता है, सत्त्वादि गुणों की समान रूप से अवस्थिति ही प्रधानावस्था है, इस अवस्था में गुण समूह निरपेक्ष स्वरूप में रहने के कारण कोई भी गुण किसी भी गुण का अङ्गी नहीं वन सकता है। क्योंकि एक को अङ्गीरूप से स्वीकार करने पर उस से अपर दोनों गुणों की उस के साथ समता रूपमें स्थिति होने के गुणिभाव असङ्गत हो जाता है ।। अतः गुणों का परस्पर अङ्गाङ्गि भाव सिद्ध नहीं होता है। ईश्वर अथवा काल को अङ्गाङ्गि भाव के हेतु नहीं कह सकते

अन्यथानुमितौ च न शक्तिवियोगात्।२।२।९

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ।१।१।१

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् २।२।१०

हो, क्योंकि ऐसा किसीने स्वीकार नहीं किया है ।

कपिल ने कहा है—"मुक्त और बद्ध का अन्यतर के अभाव होने के कारण ईश्वर की असिद्धि घटती है" दिग् और काल भी आकाश आदि से उत्पन्न होते हैं, पुरुष उनका कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वे कर्त्तृत्व के विषय में सम्पूर्ण उदासीन हैं।" अतः गुण वैषम्य की सृष्टि का कारण नहीं कहा जा सकता है। और भी है कि इस प्रकार हेतु का अभाव प्रयुक्त गुण समूह प्रति सृष्टि में वैषम्य धारण करने पर भी आदि सृष्टि में वैषम्य को प्राप्त नहीं कर सकता है।

आप ही ईश्वर हो, क्योंकि आप ही स्थावर और जङ्गमके अधीश हैं, क्योंकि आप की माया से उज्जृम्भित गुण विक्रिय रूपा इन्द्रिय वृत्ति, उस से उपनीत विषय समूह को यथावत् सेवन कहते हुए भी हे हृषीकपते ! आप लिप्त नहीं होते हैं, और जीव गण एवं योगिगण स्वतः परिहृत, अविद्यमान्, त्यक्त विषयों को भी प्रीति पूर्वक सेवन करके भयरूप संसार को प्राप्त करलेते हैं, वासनामात्र से ही वे सब बद्ध होते हैं ।

यदि कहो कि कार्य के अनुरोध से सकल गुण विचित्र स्वभाव को धारण करते हैं, तो इस प्रकार अनुमानकरने पर पूर्वोक्त दोष का अवकाश नहीं रहता है ! इस के उत्तर में कहते हैं—

विचित्र शक्ति के हेतु गुणों का इस प्रकार अनुमान करने पर भी दोष का निस्तार नहीं हो सकता है। क्योंकि गुणों की ज्ञातृत्व शक्ति नहीं है।, यह में इस प्रकार सृष्टि करता हूँ इस प्रकार विचार की सम्भावना नहीं है। ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ से कभी सृष्टि नहीं हो सकती है। इष्टक काष्ठादि अचेतन सकल वस्तु जिस प्रकार चेतन अधिष्ठान की विना कोई कार्य नहीं कर सकता हैं, ठीक उसी प्रकार अचेतन गुण समूह चेतन परमेश्वर के अधिष्ठान के विना कोई कार्य नहीं कर सकता है।

तव क्या प्रधान है, जगत् कारण और ध्येय भी है ? नहीं। प्रधान कार्य में अभिज्ञ नहीं है, और नतो स्वतः सिद्ध ज्ञान ही उसका है। श्रीहरि ही अभिज्ञ है, से ऐक्षत लोकानुत्सृजा इति, स इमान् लोकानसृजतेत्यादि श्रुतेः, ईक्षते र्नाशब्द मिति न्यायाच्च, स्वराट् स्वेनैव राजते स्वतः सिद्ध ज्ञान स्वरूप है, अतएव पुरुष भी कारण नहीं है ॥

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनः प्रभृतयः सह देवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा
मेवं विमृष्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ।।७।६।४६

श्रीभगवानुवाच–
बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणश्च माया मूलत्वात् न मे मोक्षो न बन्धनम् ।११।११।१

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।२।२।११

सम्प्रति निजमत का उपसंहार करते हैं—पूर्वापर विरोध के कारण यह कपिल दर्शन असमञ्जस होता है। इस लिए मुक्ति प्रार्थी व्यक्तियों की हेयता के कारण वर्जनीय है, उक्त दर्शन में शरीरादि व्यतिरिक्त पुमान्" इत्यादि सूत्रों में प्रकृति के परार्थत्व और दृश्यत्व से प्रयुक्त उस का भोगकर्त्ता, दर्शनकर्त्ता अथवा अधिष्ठाता शरीरादि से व्यत्तिरिक्त है„ इस प्रकार स्वीकार किया गया है, फिर उस पुरुष को निर्विकार निर्धर्म्मिक चैतन्य रूपत्व-ज्ञातृत्व और कैवल्य स्वरूप से अभिहित किया गया है। पुनः जड़ प्रकाशायोगात् प्रकाशः निर्गुणत्वात् न चिद्धर्मा" इत्यादि सूत्र के द्वारा गुण का अविवेक तथा विवेक से पुरुष का बन्धमोक्ष होता है, इस प्रकार स्वीकार कर फिरबन्ध मोक्ष दोनों गुणों के होते हैं पुरुष का नहीं है, ऐसा कहा गया है। यह और भी कहागया है कि अविवेक वे विना पुरुष का एकान्त बन्ध व मोक्ष भी नहीं है। प्रकृति संसर्ग के कारण पुरुष पशु की तरह बन्धन को प्राप्त होता है।। इस प्रकार अनेक विरोध सांख्यस्मृति में देखने में आते हैं।।

अभक्तगण अपने में अनुगत होकर भी श्रीहरि को नहीं जानते हैं। गुणाभिमानी देवगण जड़ोपाधियुक्त होनोके कारण आद्यन्तवन्त है, आप अनाद्यन्त निरुपाधि है, यह सव कथन करने में असमर्थ है। सुधी विद्वान् गण इस प्रकार विचार करके शब्दाध्ययनादि व्यापार से विरत होकर एकाग्र मन से आप की उपासना करते हैं,।।

नित्य वद्ध नित्य मुक्त एक एवेति मे भ्रम, इस उक्ति में भ्रम वस्तुत है ? अथवा प्रतीति से ? कहते हैं—वस्तुत नहीं हैं, मेरे अधीन सत्त्वादि गुणोंपाधि से ही आत्मा वद्ध और मुक्त होता है। गुण सव माया मूलक होने के कारण वास्तव नहीं है। अतएव मोक्ष भी नहीं है,। गुणों केनियन्ता मुझ में बन्ध मोक्ष व्यवहार नहीं होता है।।

चरम सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ॥
परमाणु सविज्ञेयो नृणामैकचभ्रमो यतः ।३।११।१
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् ॥
कैवल्यं परमं महानविशेषो निरन्तरः ।३।११।२
दशोत्तराधिकै र्यत्र प्रविष्ट परमाणुवत् ॥
लक्ष्यतेऽन्तर्गत श्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ३।११।४१
तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारण कारणम् ॥
विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्यमहात्मनः ।३।११।४२
येषां समूहेन कृतोंविशेषः ५।१२।६

परमाणु के द्वारा जगत् की सृष्टि होती, यह कथन युक्त हैं, अथवा नहीं सम्प्रति उसका विचार हो रहा है । यहाँपर चार्थ में वाशब्द प्रयुक्त है„ यह कथन अयुक्त है, असमंजस है, यह असमञ्जस शब्द पूर्व सूत्र से प्राप्तहैं । ह्रस्व परिमण्डल के द्वारा द्वचणुक परमाणु से महद्दीर्घ त्र्यणुक के समान सृजन होता है, इस प्रकार परमाणु कारणता वादि का मत समूह असामञ्जस्य पूर्ण है, परि मण्डल से द्वचणुक, द्वचणुक से त्र्यणुक, उससे चतुरणुकादि क्रमसे पृथिवी आदि को उत्पत्ति की तरह और भी समस्त प्रक्रिया विरुद्ध होती है ॥

अवयव रहित परमाणु से सावयवद्वचणुक की उत्पत्ति होती है, यह कथन युक्ति पूर्ण नहीं है, सावयव तन्तु संयोग से ही अवयवी पर की उत्पत्ति दृष्ट है। इसलिए सावयव परमाणु को स्वीकार किया गया है। अन्य प्रकार कथन से भी सहस्र परमाणुके संयोग से भी पारिमाण्डल्य के अनधिक परिमाण से प्रयुक्त उत्पत्ति का पृथुत्व नहीं घट सकता है, अतः अणुत्व, ह्रस्वत्व, महत्वा. दिक की असिद्धि होती है। कारण का वहुत्व ही कार्य महत्व का उत्पादक है, ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि वह मनः कल्पित है। प्रेदेश भेद के स्वीकार करने पर भी वे सव स्वांश के द्वारा, फिर भी स्वांश के द्वारा, इस प्रकार अन वस्था हो जाती है। अनन्त अंश के साम्य से मेरु तथा सर्षप की तुल्यता प्रसंग होताहै, अतएव महद् दीर्घ द्वचणुक, ह्रस्व द्वचणुकसे उत्पन्न, तथा ह्रस्व द्वयणुक परिमण्डल से उत्पन्न है, इस प्रकार कथन, अकिञ्चित् कर भी हैं। अन्यथा यह सूत्र निज पक्ष में दोषों के निराकरणार्थ व्याख्या हो सकता है, क्योंकि यहपाद पर पक्ष का आक्षेप परक है।

जो चरम अंश रूप है, जिस का अंश नहीं है, अनेक कार्यावस्था से वियुक्त है, समुदाय अवस्था से रहितहै, अतएव सदा कार्य समुदाय अवस्था के

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ।२।२।१२

परमाणु–परम महतो–स्त्वमाद्यन्तान्तरवर्त्ती त्रय विधुरः ॥
आदावन्ते सत्त्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ।६।१६।२६

समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः ।२।२।१३

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त–

अपगम होने पर भी स्थिति शील हो वह परमाणु है, जिस से मनुष्यों की ऐक्य भ्रम रूप अवयवि बुद्धि होतीहै, पञ्चम स्कन्ध में ५।१२।० में अवयवि निराकरण के प्रसङ्ग में कहा है कि जिन सव के समूह के द्वारा ही विशेष निष्पन्न हुआ हैं। अर्थात् कार्य की अन्यथा नहीं इस आशंका से ही उस प्रकार कल्पना की जाती है।

सूक्ष्म को कहने वाद स्थूल का वर्णन करते हैं। जिस का चरम अंश परमाणु है„ उस का कार्य मात्र स्वरूप में अवस्थित का जो कैवल्य रूप ऐक्य है, वह ही परम महान् है। पुरुष परमाणु का प्रतियोगी है, जव परस्पर में भेद की विवक्षानहीं होती है, तव वह विभिन्नरूपमें विलसित प्रपञ्च भी परम महान् नाम से ख्यात होताहै। इस प्रकार परम महान् अण्ड कोष समूह जिस में परमाणु प्रविष्ट होते हैं उनकी ही अक्षर, ब्रह्म, सर्व कारण, महात्म पुरुष रूपी साक्षात् श्रीविष्णु का एक मात्र स्वरूप कहा गया है॥

परमाणु क्रियाजन्म परमाणु संयोग से उत्पन्न द्वचणुकादिक्रमसे ही तार्किक गण जगत् का उद्भव वर्णन करतेहैं। अधुना प्रश्न है कि-उक्त परमाणु गत क्रिया परमाणु गत अदृष्ट से है, अथवा आत्मगत अदृष्ट से उत्पन्न है? आत्मगत धर्माधर्म के कारण अदृष्ट की परमाणुगतता के कारण ही प्रथम पक्ष असङ्गत है, आत्मगत अदृष्ट द्वारा परमाणुगत क्रिया का उद्भव भी सम्भव नहीं हैं। सुतरां शेष पक्ष भी सङ्गत नहीं है, अतएव उभयथाही आद्य क्रिया जनक में अदृष्ट असङ्गत है।

श्रीहरि ही एकमात्र सृष्ट्यादि कर्त्ताहैं, इस का उपपादन करने के लिए कहते हैं। तुम ही परमाणु सूक्ष्मरूप मूलकारण हो, परम महत् अन्तिम कार्य, एवं आद्य, अन्तर्वत्ती समस्त कारण भी हो, क्योंकि आदि अन्त मध्य में अवस्थित होने का स्वभाव विशिष्ट तुम हो, अतएव तुम आदि अन्त मध्य शून्य ध्रुब पदार्थ ही, ध्रुव पदार्थ सृष्ट नहीं होता, अपर समस्त पदार्थ तुम से ही सृष्ट है, अतएव कार्य समूह के आदि अन्त मध्य में जो ध्रुव अनपायि है, अन्तराल में भी वह ध्रुव होता है, जैसे सुवर्णादि होते हैं।

मत्सन्निधानात् परमाणवो ये
अविद्यया मनसा कल्पिता स्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ।५।१२।६

नित्यमेव च भावात् ।२।२।१४

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद् यद्

समवाय के स्वीकार में भी वह मत असमञ्जस होताहै, साम्य ही उस असामञ्जस्य का हेतु है, परमाणु समूह का द्वचणुक समूह के साथ समवाय रूप सन्वन्ध तार्किकोंने स्वीकार किया है। यह समवाय सम्वन्ध निश्चय नहीं घटता है, सम्वन्धत्व में उसका साम्य देखा जाता है, समवाय में भी समवाया पेक्षा की अनवस्था रूप आपत्ति आती है, समवाय गुण क्रिया जाति विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न कर वस्तु समूह का गुण क्रियादि के साथ सम्बन्ध स्थापन करदेताहै, नहींतो उसका अति व्याप्ति दोष आ जाताहै, । और समवायान्तर स्वीकार के अनवस्था दोष भी होता है, उस को स्वरूप सम्वन्ध मानलेने से संयोग का निर्वाह भी उस से ही हो जायगा, फिर समवाय को पृथक् सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही क्याहै ? उस को स्वरूप सम्वन्ध मानना भी उचित नहीं है। सर्वत्र सर्वधर्म की उत्पति रूप दोष की आपत्ति भी होगी। और भी वायुमें गंध, पृथिवी में शब्द, आत्मा में रूप, तेज में बुद्धि इत्यादि दोष भी आ जाता है। समवाय की एकता से उक्त दोष होता है। तत्तत् निरूपित सम वाय उस उस वस्तु में नहीं है, ऐसी नहीं कह सकते हो, क्योंकि तत्तत् निरूपि तत्त्व भी स्वरूप मात्र ही है। सुतरां उस प्रकार निरूपितत्त्व के अस्तित्व का परिहार नहीं किया जा सकता है। अतिरिक्त पदार्थ भी नियत पदार्थ वाद में असम्भव हैं। इसलिए तर्क समवाय विरुद्ध होता है ॥

तब क्या क्षिति भी नित्य है ? नहीं, क्षिति शब्द भी अर्थानुसन्धान के विना ही प्रयुक्त हुआ है। अथवा क्षिति शब्द की स्थिति भी मित्थ्या रूप से ही है। क्यों कि असत् परमाणु रूप कारण में ही वह लय होती। अतः परमाणु की छोड़कर क्षिति पृथक् नहीं है ॥ तब परमाणु की नित्यता प्रसक्ति होती है, नहीं। वादिगण मन के द्वारा ही कार्यान्यन्था अनुपपत्ति के कारण परमाणु को कल्पना करते हैं। कारण यह है कि, जिस के समूह से ही विशेष होता है, जिस के समूह ही पृथ्वी बुद्धि से आलम्वन है, अवयवि निरस्त होने के कारण ही यहाँपर समूह पद दियागया है। तथापि यह सत्यहैं ? नहीं, श्रीभगवन्माया से ही यह प्रपञ्च विलसित है, अज्ञान कल्पित है, ॥

समवाय के नित्यत्व स्वीकार करने के हेतु तत् सम्बन्धि जगत् का

असच्चसज्जीवमजीवमन्यत्
द्रव्य स्वभावाशय काल कर्म
नाम्नाजया वेहि कृतं द्वितीयम् ॥५।१२।१०

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।२।२।१५

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवञ्च नित्यम् ॥
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहार मूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम् ॥५।१२।८

उभयथाच दोषात् ।२।२।१६

एवं निरुक्तं क्षिति शब्द वृत्त
मसन्निधानात् परमाणवो ये ॥

नित्यत्व प्रसङ्ग देख कर उसमत का असामञ्जस्य कहा जाता है ॥

इस प्रकार रूक्ष्म, स्थूल, अणु, महद् आदि द्वैत पदार्थ समूह श्रीभगवत् माया कृत ही है ॥

विशेष करके पार्थिव-जलीय-तैजस और वायवीय परमाणु समूहका रूप-रस-गन्ध-स्पर्श विशिष्ट अंगीकार करने के कारण उनका नित्यत्व निरव यवता आदि का विपर्यय, अर्थात् अनित्यत्व--सावयवत्व आदि प्राप्त होता है, रूपादि विशिष्ट घटादि द्रव्य में अनित्यत्वादिक देखने में आता है, इस प्रकार स्वीकार करना और उस के परित्याग के कारण उस मत का असामञ्जस्य स्थिर हुआ ॥

यदि कहो कि उत्तरोत्तर अवयव का भाव पूर्व पूर्व अवयव का ही है ? ऐसी उक्ति भी समीचीन नहीं है, उन सवों का निरूपण ही नहीं है, निष्ठा का अर्थ नाश है और प्रभव का अर्थ उत्पत्ति है, यह सव जानते हैं, क्षिति को छोड़कर अन्य विकार पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है, वैसव नाम मात्र से ही भिन्न भिन्न है, यह ही व्यवहार का मूल कारण है । अर्थ क्रिया के द्वारा सद् का ही अनुमान होता है । श्रुति भी कहती है, "वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति ।

परमाणु समूह में रूपादि को अंगीकार न करने पर भी स्थूल पृथिवी आदि में भी रूपादि का अभाव धटता है । सुतरां उसके परिहार के लिए

अविद्यया मनसा कल्पिता स्ते

येषां समूहेन कृतो विशेषः ।५।१२।६

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।२।२।१७

विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया

ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्त मूर्त्तिना ।३।१०।१२

यथेदानीं तथाचाग्रे पश्चादप्येतदीदृशम् ।।३।१०।१३

समुदाय उभय हेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१८

एवं निरुक्तं क्षितिशब्द वृत्त–

पृथिव्यादिमें रूपादि अङ्गीकार करने पर भी पूर्वोक्त दोष आ पड़ता है। इस प्रकार उभय स्थल में अपरिहार दोष के कारण उक्तमत असामञ्जस्य पूर्ण होता है ।।

तव क्षिति की सत्यता हो ? नहीं, इस प्रकार क्षिति शब्द की स्थिति, अर्थानुसन्धान के अभाव से ही सम्भव है। कारण सत् परमाणु में वह लीन होती है। क्यों कि, वह उसका कारण हो तव परमाणु की सत्यता होनी चाहिये ? इस लिए कहते हैं, वादिगण परमाणु को कार्यान्यथानुपपत्ति से के कारण अपने मनसे ही कल्पना की है। कारणहै कि—जिनके समूह से विशेष होता हैं, और जिनके समूह ही पृथिवी नामक पदार्थ होता है ।।

अवयव का अस्वीकार के कारण ही समूह पद दिया गया है। तथापि वे सव सत्य क्यों नहीं होगा ? उत्तर में कहते हैं—अविद्या से ही यह सव कल्पित है अर्थात् यह प्रपञ्च श्रीभगवन्माया विलसित है और उस में कल्पित पदार्थ भी अज्ञान से कल्पित है ।।

कपिल प्रभृति के मतों के कोई कोई अंश शिष्ट मनुआदि ऋषियों ने ग्रहण कियाहैं, इसलिए उनमतों की कुछ अपेक्षाभी हो, किन्तु परमाणु कारण वाद वेद विरुद्ध होने के कारण शिष्टने किसी भी अंश का ग्रहण नहीं किया हैं अतः मङ्गलाकाङ्क्षी व्यक्ति के लिए यह भी ग्रहण योग्य नहीं हैं।

ईश्वर को छोड़ कर स्रष्टा और सृष्ट कुछ भी नहीं है, स्वयं ही कालको निमित्त करके सृष्टि कार्य करते हैं। विश्व विष्णु माया से संघटित होकर ब्रह्म तन्मात्र रूपप्राप्त होता है, कर्त्ता ईश्वर ने काल को निमित्त करके इसे परिच्छिन्न रूप से प्रकाश किया है, स्वयं अव्यक्त मूर्त्ति है, निरन्तर निर्विकार रूप में स्थित होते हैं। वर्त्तमान में इस का जैसा रूप है वैसा ही पूर्व रहा, भविष्य में भी वैसा ही रहेगा ।।

मसन्निधानात् परमाणवो ये, ।
अविद्यया मनसा कल्पिता स्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥५।१२।६

अधुना वृद्धमत का निराकरण करते हैं। वुद्ध जीके वैभाषिक सौत्रान्तिक–योगाचार–माध्यमिक–नामक चार शिष्य थे, उन में से वैभाषिक कामत यह है कि वाह्य समस्त वस्तु मात्र ही प्रत्यक्ष है। सौत्रान्तिक के मत में वुद्धि के वैचित्र्य के कारण, वस्तु मात्र अनुमेय है। योगाचार के मत में अर्थ शून्य विज्ञान ही परमार्थ सत् है, वाह्यार्थ स्वप्न के समानहैं, माध्यमिक मत में वस्तु मात्र ही शून्य है। भाव पदार्थ सर्वत्र क्षणिक है, भूत भौतिक चित्र चैत्य रूप समुदाय द्वयको स्वीकार करके है, रूप विज्ञान वेदना संज्ञा एवं संस्कार नामक पंच स्कन्ध होते हैं। खर स्नेह, उष्ण चलन स्वभाव पार्थिवादि चतुर्विध परमाणु पृथिवी आदि भूत चतुष्टय रूप में परिणत होते हैं, भूत चतुष्टय भी देह इन्द्रिय, विषय रूप में प्रकाश होते हैं। भूत भौतिक आत्मा रूप स्कन्ध वाह्य समुदायहै, अहं प्रत्यय समारूढ़ ज्ञान धारा ही विज्ञान स्कन्धहैं, वह ही कर्त्ता भोक्ता, आत्मा है। सुख वेदना, दुःख वेदना, वेदना स्कन्ध है, ॥ देवदत्तादि नाम संज्ञा स्कन्धहै, राग द्वेष मोहादि चित्त धर्म को संस्कार स्कन्ध कहाजाता है। ये सव चार स्कन्धोंका नाम ही चित्त चैत्तिकहै। समस्त व्यवहार आन्तर होने के कारण ये सव आन्तर शब्द वाच्य होते हैं, अतएव ये सव आन्तर समुदाय चतुस्कन्धी रूप है, ये सव समुदाय द्वयही जगत् है। इस से अतिरिक्त आकाशादि अवस्तु है, यहाँपर संशय है कि समुदाय द्वय कल्पना उचित है या नहीं? इस से ही जगत् व्यवहार निष्पन्न होता है, इसलिए वे सव उचित हैं, इस प्रकार पूर्वपक्ष के खण्डन के लिए कहते हैं—

जो वह उभय संघात हेतुक उभयविध समुदाय का निरूपण हुआ है, उस के स्वीकार करने पर भी उस की अप्राप्ति होती है, अर्थात् जगदात्मक समुदाय की असिद्धि होती हैं, समुदायी समूह अचेतन होने के कारण इस से स्थिर चेतन पदार्थ होना असम्भव है, उक्त मत में भाव पदार्थ भी क्षणिकमाना गया है। स्वतः प्रवृत्ति स्वीकार करने पर उस को सातत्य हाती होगी, इस लिए यह कल्पना अयुक्त है॥

वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं " इस नियम से मौलिक वस्तु की नित्यता होती है, इस से क्षिति की सत्यता होनी चाहिये, इस लिए कहते हैं, क्षिति शब्द भी अर्थानुसन्धान के विनाही कहा गया है, क्योंकि वह मिथ्या रूप में उक्तहै। कारण यह है कि असत् सूक्ष्म परमाणु रूप

स्व मायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः
प्रविष्ट ईयते तत्तत्सरूपोऽग्निरिवैधसि ।११।७।४७

इतरेतरप्रत्ययत्वादितिचेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।२।२।१९

अहमात्मान्तरो वाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्
यथा भूतानि भूतेषु वहिरन्तः स्वयं तथा ।११।१५।३६

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।२।२।२०

आपने कारण में लय होने के कारण यह मिथ्या है ।। अतएव परमानु को छोड़ कर क्षिति भी नहीं है, परमाणु भी नित्य नहीं है यह भी मन से ही कल्पित है, कल्पित होने का कारण भी यह है कि--समूह के द्वारा ही पृथिवी आदि संज्ञा हुई है। अवयवि का ग्रहण न होने पर ही समूह का ग्रहण हुआ है। तथापि सत्य होने की सम्भावना नहीं है, कारण श्रीभगवन् माया के द्वारा ही प्रपञ्च विलसित है। सर्वशक्ति सम्पन्न विभुने अपनी शक्ति से सद् असन् लक्षण, विश्व का निर्माण किया है, एवं उस में प्रविष्ट होकर परिचालन भी करते है जैसे अनल काष्ठ में प्रविष्ठ होकर प्रकाशित होती है ।

बौद्धमत में अविद्यादि पदार्थ परस्पर कार्य कारण भाव प्राप्त होते हैं, वे सव ही पदार्थ अप्रत्याख्येय है । ये सव पदार्थ घटी यन्त्रवत् परस्पर हेतुक फल भाव से आवर्त्तित होकर संघात रूप में आक्षिप्त होते हैं। संघात के विना अविद्यादि का अस्तित्व नहीं है । वह अविद्या--अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम रूप, षड़ायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, अपादान, भव, जाति, ज्वरा, मरण, शोक परिवेदना, दुःख और दुर्मनस्त रूप है संघात रूप हैं। उत्तर में कहते हैं— सूत्रस्थ प्रत्यय शब्द हेतूवाची है, अविद्यादि के परस्पर हेतु होने के कारण संघात उत्पन्न होता है, इस प्रकार सिद्धान्त टीक नहीं हैं। क्योंकि--उत्पत्ति के लिए पूर्व पूर्व उत्तरोत्तर को लिए कारण होते हैं। किन्तु संघात के लिए कारण नहीं हैं, और भी, भोग के लिए संघात है ? क्षणिक आत्मा में भोग की सम्भावना ही नहींहैं। कारण धर्म--अधर्म की स्थिति ही नहींहै। आत्मा के स्थायित्व स्वीकार करने पर क्षणिक वाद भङ्ग होगा, क्षणिक मानने पर पूर्वोक्त दोष अपरिहार्य रहेगा। अतएव सौगति मत असंगत है ।

मैं ही समस्त जीवों की आत्मा हूँ। कारण मैं ही अन्तर्यामी हूँ। एषत आत्मान्तर्याम्यमृत इति श्रुतेः। आप परिच्छिन्न नहीं है, व्यापक हैं, कारण- अनावृत हैं, सदृष्टान्त इस विषय को कहते हैं-चतुर्विध भूत मैं महाभूत समूह जैसे वाहर और अन्तर भी रहते हैं, वैसे मैं भी समस्त पदार्थ में रहता हूँ।।

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।
सर्वेषामपि भावानां त्राण स्थित्यप्ययोद्भवः ।११।१६।१

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।२।२।२१

जनिमसतः सतो मृत्तिमुतात्मनि येच भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरूपितैः ।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवोधरसे ।।१०।८७।२८

सम्प्रति अविद्यादि की परस्पर हेतुता निरास करते हैं, पूर्व सूत्र से 'न' कार का अनुवर्त्तन हुआ है । क्षणभङ्गवादिगणे मानते है कि—उत्तर क्षणकी उत्पत्ति के कारण पूर्वक्षण निरुद्ध होता है, उत्तरक्षण वर्त्ति कार्य उत्पन्न होने पर पूर्व क्षण वर्त्ति कारण भी नष्ट होता हैं, इस प्रकार अविद्यादि के परस्पर कार्य कारण भाव संस्थापन भी नहीं हो सकता है । पूर्वक्षणवर्त्ती निरुद्ध कारण के किरूपाख्य के हेतु उत्तर क्षण वर्त्ती हेतुता की उत्पत्ति नहीं होती है । कारण ही कार्य में अनुस्यूत होता है ।

तुम ही एकमात्र अनावृत परमब्रह्म हो, समस्त पदार्थों के स्थिति लय उत्पत्ति के एकमात्र कारण भी हो ।।

उपादान की असत्ता से भी यदि उत्पत्ति स्वीकृत हो, तव स्कन्ध रूप हेतु से समुदाय का उद्भव होता है, इस प्रकार प्रतिज्ञा की हानि होगी, अधिकन्तु ऐसा होनेपर सर्वदा ही सर्वत्र सर्व द्रव्य उत्पन्न होने में सक्षम होता, अतएव असत् से सत् की उत्पत्ति अस्वीकार्य है ।

उपदेश कांटियों के भ्रमवाहुल्य के कारण उन सव के उपदेश से सत्य ज्ञान होना असम्भव है । वैशेषिक गण जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, पातञ्जल असत् से ही सत् को उत्त्पत्ति मानते है, नैयायिक गण एक विंशति प्रकार दुःखध्वंस को ही मोक्ष कहते है, सांख्यवादीगण आत्मा मेंभेद को मुक्ति मानते हैं मीसांसक गण कर्मफलव्यव हार को ही सत्य मानते हैं, ये सब आरोपित भ्रम के द्वारा हो उपदिष्ट हुए है, तत्त्व दृष्टि से नहीं सदेव सौम्येदमग्र आसीत् ब्रह्मैव सम् ब्रह्माप्येति, अनीशया शोचति मुह्यमानः । अविद्याया मन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः, जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढ़ा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः । एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म, एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदित्यादि, श्रुतियों के साथ उक्त मत का विरोध है । पुरुष त्रिगुण मय होने पर वे सव सम्भव हैं, किन्तु

प्रतिसंख्याऽ प्रतिसंख्यानिरोधा
प्राप्तिरविच्छेदात् ।२।२।२२

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतै रधोक्षजः
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषांममचेश्वरः ॥
कालं कर्म स्वभावश्च मायेशो माययास्वया
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ।२।५।२०।२१

उभयथा च दोषात् ।२।२।२३

तत्तोऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद् वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ।१०।१४।८

वस्तुत ऐसा नहीं है । यह सब अज्ञान विजृम्भित हैं, तब क्या अज्ञान ही है ? नहीं । वस्तुत ईश्वर में अज्ञान की सम्भावना नहीं हैं, ज्ञान घन स्वरूप परतत्त्व में अज्ञान की स्थिति नहीं है ॥

दीप के समान घटादि का निरन्वय–विनाश माननेवाले का मत को खण्डन करने के लिए कहते हैं—भाव समूह का बुद्धि पूर्वक ध्वंस को प्रति संख्यानिरोध, एवं तद्वैपरीत्यको प्रति संख्या निरोध कहा जाता है । आवरणा भाव का नाम ही आकाशहै, ये तीन पदार्थ ही शून्य है, यह छोड़कर औरसब क्षणिक है, सद् वस्तु के निरन्वय नाशका अभाव होने के कारण, उक्त निरन्वय द्वय का असम्भव होता है, अवस्थान्तरापत्ति ही सद्वस्तु का उद्भव है, ध्वंस भी अवस्थाश्रय है, एक वस्तु ही स्थायी है, सद्वस्तु विभाश शून्य होनेपर क्षणान्तर में विश्व शून्य रूप से दृष्ट होता, वैसा जब नहीं होता है, तब जिन के मत में दीप के समान घटादि का निरन्वय विनाश स्वीकृत है, उनके मत भी अस्वीकार्य है, ॥

अशेष शक्ति सम्पन्न श्रीभगवान् गुणत्रय के द्वारा समस्त सृजन करने भी अधोक्षजतत्त्व निरन्तर अलक्षित गतिके होतेहैं । भक्तगण उनको अवलोकन करने में समर्थ है । उनकी सृष्टि प्रकार भी इस प्रकार है, आप विविध होने को इच्छा से कर्म जीवा दृष्ट, स्वभाव प्रभृति को अपनी माया के द्वारा ही यदृच्छा से निर्माण किए है ।

आकाशे चाविशेषात् ।२।२।२४

क्षित्यादीनामिहार्थो छाया न कतमापि हि
न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा ।७।१५।५६
तामसाच्च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्य चोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत् तस्मान्नभः श्रोत्रन्तु शब्दगम् ।३।२६।३२
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वः तमः परम् ।११।१६।३६
अहमेतत् प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः ११।१६।३७
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ।११।१६।३८

अनन्तर उन की अभिमत मुक्ति पक्ष में दोष प्रदर्शन कर करते है। मण्डुकप्लुत न्यायके अनुसरणसे पूर्व सूत्रस्थ 'न' तिनों सूत्रोंमें अनुवर्त्तित होगा।।

वौद्धगण संसार कारण अविद्यादि का निरोध को ही मोक्ष कहते हैं। वह तत्त्व ज्ञान जन्य नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर अप्रतिसंख्या–निरोध का स्वीकार भी निष्फल होता है, द्वितीय पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि स्वयं मोक्ष होता है कहने पर साधनोपदेश भी मिथ्या होगी, सुतरां वौद्धाभिमत मोक्ष भी असिद्ध हैं ॥

भक्ति ही एक मात्र पुरुषार्थहै, मुक्ति भी तभी हो सकती है, जव साधक श्रीप्रभु की कृपा कव होगी, इस प्रकार आशा को ही एकमात्र महत्त्व के साथ पोषण करते हुए स्वार्जित कर्म फल का भोग अनासक्त रूप से कर जो जीवित रहता है,, वह ही मुक्ति का उत्तराधिकारी होगा। भक्त जीवित न रहने से दाय प्राप्ति के समान मुक्ति का उत्तराधिकारी नहीं होगी।

आकाश में जो शून्यता अभिमत है, अविशेष निवन्धन वह भी असंगत गत है, क्षिति आदि संघात रूप भी नहीं है, अतएव उक्त सिद्धान्त मिथ्या है, आवरण का अभाव को यदि आकाश कहा जाय, तव भी आकाश भाव रूप ही हो जाता है। क्योंकि आकाश भी एक वस्तु है। अतएव आकाश अभाव स्वरूप न होकर पृथिवी पदार्थ के समान एक भाव पदार्थ है, अवस्तु नहीं हैं, तन्मात्रोत्पत्ति पूर्वक आकाशादि महाभूतोत्पत्ति और उस का लक्षण कहते हैं— तामसादिति पञ्चदशके द्वारा भगवच्छक्ति से प्रेरित होकर आकाशकी उत्पत्ति हुई जिसका विशेष गुण शब्द है, पृथिवी वायु आकाश आदि में ही हूँ। मेरे

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२५

एक स्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ॥
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद् गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद् विभासि ४।६।७

नासतोऽदृष्टत्वात् ।२।२।२६

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं ।१।१।२

उदासीनानामपि चैवंसिद्धिः ।२।२।२७

एकस्त्वमेव सदसद्द्वयमद्वयश्च ।

विना कोई भी भाव पदार्थ नहीं हैं।

पूर्वानुभूत द्रव्य विषयिणी वुद्धि की अनुस्मृति कही जाती है, अनुस्मृति शब्द से प्रत्यभिज्ञा का वोध होता है, इस प्रकार जगत् के समस्त द्रव्य ही अनु स्मृति अनुसन्धित होते हैं। सुतरां भावपदार्थ क्षणिक के नहीं हो सकता।

हे भगवान्! तुम अकेला ही अपनी शक्ति से महदादि अशेष वस्तु को सृजन करते हो। सृजन करने के वाद उस में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार से प्रतिभात भी होते हो, जैसे वह्नि काष्ठ में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार से दिखाई पड़ती हैं।

वस्तु समूह स्वीय पीतादि आकार को ज्ञाममें समर्पण करके विनष्ट हो जाने पर वे सव ज्ञानगत पीतादि आकाश द्वारा अनुमित होते हैं। विषय वैचित्र्य से ज्ञान वैचित्र्य है। इस प्रकार सौत्रान्तिक का निरास करने के लिए कहते हैं—असत् विनष्ट पीतादि अथवा पीतादि आकार ज्ञान में सम्भव नहीं है, क्योकि अदृष्टत्वात्। धर्म्मी विनष्ट होने पर धर्म का सम्वन्ध अन्यत्र देखा नहीं जाता है। घट अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं हैं, इस प्रकार कह नहीं सकते। प्रत्यक्ष से जानता हूँ, इस प्रकार वाक्य से ही उक्त सन्देह निरस्त हुआ है, यह ही सौत्रान्तिकका असाधारण दोषहै, अत प्रत्यक्ष घटादिहै, ज्ञानके द्वारा वह अनुमित नहीं होता है।

ज्ञान काण्ड से भी श्रीमद् भागवत का महत्व है, परमार्थ भूत वस्तु ही वेद्य है, नतु वैशेषिकों की भाति द्रव्यगुणदि रूप है। अथवा वास्तव शब्द से, वस्तु का अंश जीव है। वस्तुकी शक्ति माया, है, वस्तु का कार्य जगत् है, यह सवही वस्तु ही है। उस से पृथक् नहीं है वह ही शिवद है।

स्वणकृताकृतमिवेह न वस्तु भेदः ॥
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो ।
यस्माद् गुणव्यतिकरो निरुपाधिकस्य ।८-१२-८

नाभाव उपलब्धेः ।२।२।२८

त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेक
एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ॥
अन्ये ऽवयन्ति नवशक्ति युतं परं त्वां
केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ।८।१२।९।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।२।२।२९

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ॥
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ।११।१३।२४

उभय साधारण दोष कहते हैं—भावपदार्थ को क्षणिक कहने से असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार्य होगी ऐसा होनेपर उपाय हीन उदासीन को भी उपेयसिद्धि होगी। यह मानना होगा। इस प्रकार उनका सिद्धान्त तुच्छ है। अन्यत्व अनन्यत्व एक ही वस्तु के लिए कैसे सम्भव हो सकता हैं, इस लिए कहते हैं, सद् असत् कार्य-कारणद्वय आकृति परम तुमही एकमात्र हो, उदाहरण–जैसे सुवर्ण। अज्ञानसे ही भेद प्रतीति होती है। अतः क्षणिक वाद अति तुच्छ है।

यदि कहो सकल पदार्थ को ज्ञानात्मक कहना उचित है, या नहीं? इस का उत्तर यहहै; कि—वस्तु समुदयके प्रति नियत ही जव उपलब्ध होते हैं,तव वाह्य वस्तु है ही नहीं ऐसा कहना उचित ही नहीं है।

अतएव तुम्हें पण्डितगण वहुधा वर्णन करते हैं, किन्तु कोई भी नहीं जानते हैं, वेदान्तिगण ब्रह्म कहते हैं, मीमांसक गण धर्म, सांख्य प्रकृति पुरुष विमलोत्कर्षिणी ज्ञान क्रिया योग प्रह्वी सत्या ईशाना अनुग्रहा इस प्रकार नव शक्ति युक्त पाञ्चरात्र को मानने वाले कहते हैं। पातञ्चल महा पुरुष रूप से वर्णन करते हैं।

यदि कहो—वाह्य अर्थ को छोड़कर वासना हेतुक ज्ञान वैचित्र्य द्वारा स्वप्न में जैसा व्यवहार होता है। वैसा ही व्यवहार जाग्रत अवस्था में होने की वाधा ही क्याहै? इस का उत्तर यहहै कि—परस्पर वैधर्म्य हेतु स्वाप्निक

न भावोऽनुपलब्धे ।२।२।३०

अर्थेह्यविद्यमानेऽपि संसृति र्न निवर्त्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमोयथा ।३।२७।४

क्षणिकत्वाच्च ।२।२।३१

अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् ॥
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युपत्त्यप्ययया यतः ४।२९।७९

सर्वथानुपपत्तेश्च ।२।२।३२

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ॥
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ।१।२।११

एवं जाग्रत व्यवहार को एक रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता है । क्योंकि स्वप्न का धर्म जगत् के धर्म्म की अपेक्षा सम्पूर्ण स्वतन्त्र है ।

मनसे वाणी से आद्य दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से जो कुछ भी पदार्थ गृहीत होता है, वह सब ही में ही हूँ ॥ मुझ से पृथक् कुछ भी नहीं है, यह वात सरल रूप से ही जानना होगा ॥

वादीने कहा कि अर्थ के विना भी वासना की विविधता से ज्ञान वैचित्र्य होता है, इस के उत्तर के लिए कहते हैं ।

वासनाका भाव (सत्ता) को स्वीकार किया नहीं जा सकताहै, क्योंकि अनुपलब्धि निबन्धन वासनाकी सत्ता ही अस्वीकार्य है । उनके मत में वाह्यार्थ की सत्ता नहीं है, वासना अर्थ मूला है, अर्थ के साथ वासना की नित्य व्याप्ति है । अर्थ स्वीकार न करने पर वसनाका अस्तित्व असम्भवहै । अहंकारास्पद स्थूल देह का विच्छेद न होने से वस्तु भूत अर्थका अभाव होने पर भी संसृति की निवृत्ति नहीं होती है, जैसे स्वप्न में पूर्व वस्तु का संस्कार अनर्थ उत्पन्न करता है ॥

पूर्व पक्षीय मत में समस्त वस्तु ही क्षणिकहै, ऐसा होनेपर वासना का आश्रयरूप स्थिर वस्तु की विद्यमानता नहीं रहती है ।

असत् वुद्धि अपनोदन के लिए सर्वत्मना हरि का ही भजन करो, क्यों श्रीहरि से ही विश्व के स्थिति सृष्टि लय आदि होते रहते हैं, एवं तदात्मकही विश्व को देखना आवश्यक भी है ॥

माध्यमिक मत में शून्य ही एकमात्र तत्त्वहै । यदि कहो वह युक्त है ?

नैकस्मिन्नसम्भवात् ।२।२।३३

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो
रेकस्थयो भिन्न विरुद्ध धर्मणोः
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकुलं बृहत् तत् ।६।४।३२

एवं चात्माकात्स्न्र्यम् ।२।२।३४

क्षेत्रज्ञएता मनसो विभूती–
र्जीवस्य माया रचितस्य नित्याः ॥
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धोविचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः ।५।११।१२

एक पदार्थ में सत्ता असत्त्वादि विरूद्ध धर्मका योग जैसे दोषावह है, अथवा अयुक्त ? इस का उत्तर यह है कि अनुपपत्ति होने के कारण वह अयुक्त है। वह शून्यभाव अभाव एवं भावाभाव है वह तिन कल्प के वीच में किसी में नहीं आता है ॥

धर्म जिज्ञासा को तत्त्व जिज्ञासा कहना उचित नहीं है, तत्त्वविदगण उनको ही तत्त्व मानते हैं, जो अद्वय ज्ञान स्वरूप है„ इस से क्षणिक ज्ञान का निरास हुआ है। यदि कहो कि तत्त्व विदगण भी तत्त्व वर्णन में एकमत नहीं हैं ? ऐसा नहीं है केवल नामान्तर द्वारा ही एक तत्त्व को आप सवने प्रकाश किया है, उपनिषद् में ब्रह्म, हिरण्यगर्भ मेंपरमात्मा, सात्वतगण भगवान् शब्द से कहते हैं ॥

यदि कहो कि—आर्हतोक्त जीवादि पदार्थ युक्त अथवा अयुक्त ? उत्तरहै यह है कि—असम्भावना हेतु एक पदार्थ में युगपत् विरुद्ध धर्म का समावेश एकान्त असम्भव है ॥

उपासना शास्त्र कहते हैं उपासना के लिए वस्तु निश्चित है, ज्ञानशास्त्र कहते है नहीं है इस प्रकार उन तत्त्व वस्तु के विषय में कहा गया कहा है, वह सत्यहै। क्योंकि वृहत् ब्रह्मको अवलम्वन करके ही विवाद है, वस्तु एकहै सत्य है, अद्वय ज्ञान रूप है, और अधिष्ठान रूप भी है अतः उन तत्त्व में ही विरुद्ध शक्ति योग से विरुद्धार्थ सम्भव है अन्यत्र नहीं।

एक पदार्थ में सत्ता असत्त्वादि विरुद्ध धर्म का योग जैसे दोषावह है। वैसे ही आत्मा का अकात्स्न्र्य धर्म भी दोषावह है। "जीव देह परिमाणके हैं'

न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।२।२।३५

नात्मा जजान न मरिष्यति नेधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि ॥
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ।११।३।३८

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषात् ।२।२।३६

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः
पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्त्तृषु ।६।१६।६
एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्
आत्मामायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ।६।१६।६

इस प्रकार कहने पर वालदेहस्थित जीव और युवा देह स्थित जीव में कोई सामञ्जस्य नहीं होता है ।

शरीर में अन्य एक तत्त्व है, जिसका नाम जीव है, वह अविशुद्ध मन को जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति में जानता है, अवस्थात्रय साक्षी क्षेत्रज्ञ आत्मा तत्त्व है, एवं अव्यापी है ॥

जीवका अनन्त अवयव स्वीकार पूर्वक वालक–युवादि देह किंवा हस्ति अश्वादि देह की प्राप्ति में उस के अवयव के उपगम और उपगम रूप वैपरीत्य से तत्तद् देह परिमितत्व का सामञ्जस्य ज्ञान करना भी अयुक्तहै, क्योंकि उस से जीव के विकारादि अपरिहार्य्य ही होगा, ऐसा कहने पर जीव के विकार अनित्यता कृत हानि एवं अकृताभ्युपगम का निवारण भी नहीं हो सकता ॥ जीव विकारी नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मुक्ति कालीन परिमाण जन्यत्व, अजन्यत्व-सत्त्व असत्वादि विकल्पके कारण अनित्यहोताहै॥

आत्मा नित्य है, अव्यापी है, जन्म मरणादि अवस्था हीन है, एवं नित्य सर्व अवस्था का द्रष्टा है, उपलब्धि ज्ञान स्वरूप होकर भी ज्ञाता है । इन्द्रिय द्वारा एक सत् ज्ञान विविध रूप से प्रतिभात होता है ।

मोक्षावस्था एवं देह त्यागके समय वैलक्षण्य न रहनेके कारण आत्मा की नित्यता में कोई हानि नहीं है । आत्मा नित्य एवं अविकारी है, सर्वदा एक रूप भी है, समस्त देहमें चेतना सञ्चार करनेपर भी देह की भाँति परिमाण युक्त नहीं है, सुतरां आर्हतमत असङ्गत है ॥

जैसे सुवर्ण ब्यवहार काल में हात हात में चलकर भी अविकृत रहता है, वैसे जीव समस्त शरीर में भ्रमण करके भी, अविकृत रहता है, आत्मा

पत्युरसामञ्जस्यात् ।२।२।३७

वासुदेवपरावेदाः वासुदेवपरा मखाः
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥१।२।२८–२६

सम्वन्धानुपपत्तेश्च ।२।२।३८

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ।१।२।३०

नित्य अव्यय सूक्ष्म सर्वाश्रय स्वदृक् हैं, आतममाया गुणसे सब सृजन करते हैं।

कणाद कपिल एवं आर्हत मतके समान पाशुपत मत का भी सामञ्जस्य का अभाव के कारण सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। शैव, सौर, गाणपत्य येसव पाशुपत सम्प्रदाय कहलाते हैं, इन के मत में कारण, कार्य, योग, विधि एवं दुःखान्त यह पाँच पदार्थ है। अधुना जिज्ञास्यहै कि–पाशुपतादि सिद्धान्त युक्त है, अथवा नहीं ? इस का उत्तर है कि–असामञ्जस्य हेतु सिद्धान्त युक्ति युक्त नहींहै। पशुपति प्रभृति देवता की सृष्टि कर्त्तृत्वादि वोधक वाक्य समूह वेदादि शास्त्राविरोध से नारायण पर रूप में ही सङ्गमनीय होते हैं।

मोक्ष प्रदर्शन के कारण वासुदेव ही भजनीय है, सर्वशास्त्र गोचर भी बासुदेव ही हैं। समस्त वेदों का वर्णन् तात्पर्य वासुदेव ही है, परः शब्द का अर्थ तात्पर्य गोचर है, मुख्यपर वेद वचन समूह भी उन का आराधनार्थ है। उन की प्राप्ति का उपायस्वरूप होने के कारण योग शास्त्र वासुदेव पर है,– ज्ञान शास्त्र भी वासुदेव को वर्णन करताहै। तप भी ज्ञान पर है। दान व्रतादि धर्म शास्त्र भी वासुदेव पर है, गम्यते इति गति। स्वर्गादि फल भी आनन्दांश का प्रकाश होने के कारण पूर्णानन्द वासुदेव पर ही है,।

सम्वन्धानुपपत्तिहेतु पशुपति का जगत् कर्त्तृत्व सम्वन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि आप देह रहित हैं। कर्त्ता कुलालादि शरीर विशिष्ट हैं। कुलालादि के साथ मृत्तिका आप का सम्वन्धहै। उक्तकुलाल द्वारा ही घटादि निर्म्माण सम्भव है।

जगत् की सृष्टि—प्रवेश नियमन लक्षणाक्रान्त व्यक्ति को ही शास्त्र वर्णन करते हैं, परमोदार लीलामय वासुदेव निज सद् असद् शक्ति से जगत् सृजन करते हैं। स्वयं प्राकृत गुण रहित होने पर भी निज शक्ति से समूह कार्य का निर्वाह करते हैं।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।२।२।३९

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ॥

गृहीतमायोरुगुणः स्वर्गादावगुणः स्वतः ।२।६।३१

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।४०

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः

विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ।२।६।३२

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।२।२।४१

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।

नान्यद् भगवतः किञ्चिद् भाव्य सदसदात्मकम् ॥२।६।३३

कुलाल, उपादान कारण मृत्तिका द्वारा घट निर्माण करता है, पशुपति का शरीर न रहने के कारण कुलाल की भाँति अधिष्ठान नहीं हो सकता हैं। इस प्रकार अधिष्ठान कल्पना न होने के कारण पाशुपत मत निरस्त हुआ।

यद् अधिष्ठान इस प्रश्न का उत्तर में कहते हैं। भगवान नारायण में ही यह विश्व अधिष्ठित हैं, क्योंकि आप भगवानहै, स्वतः प्राकृत गुण रहित हैं किन्तु सर्गादि के लिए कृपा पूर्वक अनेक गुणों को आविष्कार करते हैं॥

प्रलय में प्रधान है, जीव जैसे अशरीरी होकर इन्द्रियों का अधिष्ठान होता है वैसे पशुपति भी अशरीरी होकर विश्वका अधिष्ठान क्यों नहीं होगा? उत्तर—इस प्रकार कहने पर पशुपति में भोगादि का प्रसङ्ग होगा। करण स्थानीय प्रधान को स्वीकार करने पर जन्म मृत्यु आदि में श्रीपशुपतिकी कर्माधीन मानना होगा, उक्त तन्त्र में वैसा स्वीकार नहीं हैं॥

भगवान् विश्व स्रष्टा विष्णु मेरा और सबका ईश्वर है। पालन स्वयं करते हैं, मैं ब्रह्मा उनके आदेश से सृजन कार्य करता हूँ। और शिव जी उन के निर्देशसे विनाश कार्य करता हैं॥

यदि कहो कि अदृष्ट के अनुरोध से पशुपति में देहादि कल्पना करने से हानि क्या है? इस जगत् में वैसे ही देखा जाताहै पुण्यवान् राजा शरीरधारी होता है और निज निज राज्य का अधीश्वर भी होता है। तद् विपरीत धर्मा कदाच राजा नहीं होता। उत्तर में कहतेहैं कि—वैसा कहने पर जीब की भाँति श्रीपशुपतिमें शरीरादि सम्बन्धत्व अन्तवत्त्व, एवं असर्वज्ञता की प्राप्ति होगी जो व्यक्ति कर्माधीन है, वह कदाच सर्वज्ञ नही हो सकता है॥

सदसदात्मक कार्य कारणात्मक सृज्य वस्तु भगवानसे अन्य पृथक् नहीं

उत्पत्यसम्भवात् ।२।२।४२

स एष आद्यः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ।
आत्मात्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ।२।६।३६

नच कर्त्तुः करणम् ।२।२।४३

त्वमकरणः स्वराड़खिलकारकशक्तिधरः १०।८७।२८

विज्ञानादि भावे वा तदप्रतिषेधः ।२।२।४४

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य
कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ॥
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि
विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ।२।६।४२

हैं, वासुदेव ही स्वराट हैं और स्वयं ही समस्त लीला करते हैं ॥

अनन्तर शक्ति वाद का निरास करने के लिए कहते हैं—

शाक्तगण मानते हैं कि-सार्वज्ञ-सत्य संकल्पादि गुणवती शक्ति ही विश्व हेतु हैं-यह कथन सम्भवहै, या नहीं ! विचार करने पर सम्भव है, यह प्रतिपन्न होता है, उसका निरसन के लिए कहते हैं—उत्पत्ति का असम्भव के हेतु उक्त सिद्धान्त युक्ति युक्त नहीं हैं। पूर्व सूत्र से निषेधार्थक 'न' कार का अनुवर्त्तन इस सूत्र में होगा। इस मत में वेद विरुद्ध अनुमान के द्वारा शक्ति कारणता की कल्पना की गई हैं, अतएव लौकिक युक्ति का प्रदर्शन करना एकान्त आवश्यक है, केवल शक्ति विश्व जनयित्री नहीं हो सकती है, पुरुष-संसर्ग के विना केवल स्त्री पुत्र उत्पादन नहीं कर सकती है। अतएव शक्ति का अनुग्रह करने वाला पुरुष को सृष्टि के लिए मानना अनिवार्य होगा।

भगवान् पुरुष अवतार लेकर सृष्ट्यादि करते हैं, कल्प कल्प में सदाही करते हैं, स्वयं ही अपेक्षा रहित होकर सृजन पालन संहार भी करते हैं।

यदि शक्त्यनुग्राहक पुरुष की कल्पना की जाय तो उस का भी तो विश्वोत्पत्ति के योग्य देहादि नहीं है, यदि हो तो प्रागुक्त दोष इन में भी आवेगा ॥

तुम ही एकमात्र करण रहित स्वराट् हो एवं अखिल कारक शक्ति से भी परि पूर्ण हो।

पुरुष को नित्य ज्ञानादि गुण विशिष्ट कहने पर, यह मत निर्गुण ब्रह्म वाद में अन्तर्भुक्त ही होगा, उस प्रकार पुरुष को स्वीकार कर ही ब्रह्म वाद

विप्रतिषेधाच्च ।२।२।४५

योऽस्योत्प्रेक्षकआदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः
यं सम्पद्य जहात्यजा मनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् १०।८७।५०

※ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादः समाप्तः ※

—:※:—

※ अथ द्वितीय अध्यायस्य तृतीयपादः ※

न वियदश्रुतेः २।३।१

एभि र्भूतानि भूतात्मा महाभूतै र्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ।११।३।३

का निर्वाह हुआ है ।

भूमा पर पुरुष ही प्रकृति प्रवर्त्तकहै, लीलावतारों का कारण हैं, अतः आद्यः काल स्वभाव कार्य कारण मन द्रव्य„ विकारी पदार्थ, गुण इन्द्रिय, विराट् समष्टि शरीर स्वराट् वैराज--स्थास्नु--स्थावर--चरिष्णु जङ्गम व्यष्टि शरीर प्रभृति के कर्त्ता भी श्रीनारायण है ।

सर्व श्रुति स्मृति युक्ति विरुद्ध होने के कारण शक्ति वाद तुच्छ है, च शब्द द्वारा शक्ति कर्त्तृत्व मान लेने पर विश्व की उत्पत्ति की असम्भावना होगी, अतएव सांख्यादि मार्ग दोष कण्टक युक्त होने के कारण श्रेयस्कामी व्यक्ति निष्कण्टक वेदान्त मार्ग को ही अवलम्बन करें ।

परम करुण श्रीहरि जीव के प्रति अनुकम्पा करनेके लिए विश्वसृजन करतेहैं, आदि मध्य निधनमें स्वयं ही कर्त्ताहै । अनुप्रविष्ट होकर सब को परिचालन करते हैं, जिन को प्रणाम करने पर माया विदूरित हो जाती है, अनवरत उन श्रीहरि का ही ध्यान करें ।

※ इति श्री ब्रह्म सूत्रस्य भागवत भाष्ये ※
※ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ※

—:※:—

अथ तृतीय पादः

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है, यह विश्व पहले सत्था उन्होंने ईक्षण

अस्ति तु ।२।३।२

तामसादपि भूतादे विकुर्वाणादभून्नभः
अस्यमात्रा गुणशब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृ दृश्ययोः ।२।५।२५

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च ।२।३।३

एभि र्भूतानि भूतात्मामहाभूतैर्महाभुज
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्म प्रसिद्धये ।।११।३।३

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।२।३।४

हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।११।३।१४

की, जल की सृष्टि की, अन्न की सृष्टि की इत्यादि। सम्प्रति सन्देह है कि--आकाश की उत्पत्ति है या नहीं ? आकाश की उत्पत्ति नहीं है, यह ही युक्ति सङ्गत सिद्धान्त है। इस प्रकार की आशङ्का कर पूर्व पक्ष करते हैं, श्रुति प्रकरण की अविद्यमानता के कारण आकाश ही उत्पत्ति कार्य है। आकाश नित्य उत्पत्ति रहितहैं,, आकाश की उत्पत्ति के पक्ष में श्रुति प्रमाण नहीं है।

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि आकाश की उत्पत्ति है, छान्दोग्योप निषद् में उत्पत्ति का कथन नहींहै, किन्तु तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद् वायुः, वायो रग्नि रग्ने रापो, अद्भ्यो महती पृथिवीति तैत्तिरीयक उपनिषद् में लिखित है।

तामस अहंकार से प्रथम शब्द की उत्पत्ति होती है, वह आकाश की सूक्ष्म मात्रा सूक्ष रूप है, और असाधारण गुण भी है, शब्द द्वारा ही आकाश की उत्पत्ति जाती जानी है।

कण भक्ष अक्ष चरण की स्थिति में आकाश की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती है, श्रुति में उत्पत्ति के विषय में उल्लेख है, वह भी आकाश को करो, आकाश हुआ, इस प्रकार लौकिक उक्ति की भाँति गोण हैं, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, आकाश निराकार एवं विभू है। आकाश कार्य होनेपर उसका कारण कोन होगा। जिसका कारण निर्णीत नहीं है, वह कार्य नहीं हो सकता। वृहदारण्यक श्रुति में भी आकाश को नित्य रूप में कहा गया हैं।।

यदि कहो कि--तैत्तिरीय श्रुति में एक ही सम्भूत शब्द हैं, उससे अग्नि

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ।२।३।५

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया ।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ।१।२।३०
तया विलसतेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेनविजृम्भितः ।१।२।३१

यावद् विकारन्तु विभागोलोकवत् ।२।३।६

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च ॥
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ।६।४।३०

आदि में मुख्यार्थ ही ग्रहण होता है, आकाश के लिए वह शब्द गौणार्थ का प्रकाश कैसे होगा, अत्तर में कहते है, एक ही ब्रह्म शब्द वत् मुख्य और गौण भाव सम्भूत शब्द का सम्भव है।

उक्त पूर्व पक्ष निरसनार्थं कहा जाता है कि—ब्रह्म के अव्यतिरेक में प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता है। विशेषत वह श्रुति प्रतिपाद्य भी है।

स्वयं निर्गुण होकर भी निज माया रूपा शक्ति द्वारा इस विश्व को मगवान्ने सृजन किथा है, कारण आप ही विभु हैं, उद्भूत समस्त पदार्थ आकाश आदि मैं अन्त :प्रविष्ट होकर सव को परिपालन करते हैं, एवं स्वयं लिर्लिप्त रहते हैं कारण आप स्वरूप शक्ति में ही अवस्थितहैं।

वाचक शब्द न रहने के कारण आकाश की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती है। इस प्रकार कहने पर उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लौकिक भाँति श्रुति में भी विकार पर्यन्त विभाग की वात कही गई है।

ब्रह्म ही एकमात्र बिश्व के हेतु है। ब्रह्म अनिरुक्तात्मशक्ति है, स्वीय शक्ति से विश्वरूप कार्य निर्वाह भी कहतेहैं, जिस अधिकरण में जिस से 'अपा दान' जिन के द्वारा 'करण' जिस के सम्वन्ध जिन के लिए इसी तम कर्त्ता स्वतन्त्र रूप से सव कार्य करतेहैं, अन्य को द्वारा करवाते भी हैं। इस प्रकार समस्त कारण व्यापार भी उन ब्रह्म में ही है। क्योंकि ब्रह्म समस्त वस्तुयों के पहले स्थित प्रसिद्ध हैं, कदाचिद् ब्रह्मादि को कारण कहा गया है, वह सव सापेक्षिक कारण हैं, ब्रह्म पर अपर सव के लिए एक स्वतन्त्र कारण है। सजातीय विजातीय शून्य एक स्वरूप है, उन को नमस्कार करता हूँ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।२।३।७

नभसः शब्दतन्मात्रात् कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत् ततो वायु स्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ।३।२६।३५

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।८

अहमेवास मेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं वहिः ॥
संज्ञान मात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः ।६।४।४७

तेजोऽतस्तथा ह्याह ।२।३।९

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्ति-
स्त्वया रजसत्त्व तमो विभिद्यते ।

सजातीय विजातीय शून्य एक स्वरूप है, उन को नमस्कार करता हूँ ।

आकाश की उत्पत्ति की व्याख्या करने से ही इस से वायु की उत्पत्ति भी सुसिद्ध हो गई है। क्योंकि—आकाश का कार्यत्व वर्णन करने पर तदाश्रित वायु का भी कार्य्यत्व सिद्ध ही गया है।

काल गति से शब्दतन्मात्र आकाश विकृति होनेपर स्पर्श तन्मात्र उत्पन्न हुआ उस से वायु की उत्पत्ति हुई एवं त्वक् इन्द्रिय भी स्पर्श के लिए निरूपित हुई है ॥

तु शब्द शङ्का निवारणके लिए है। एवं निश्चय के लिए है। सत् ब्रह्म की सम्भव उत्पत्ति नहीं है, क्योंकि—अनुपपत्ति है। कारण रहित के लिए कारण निश्चय भी असम्भव है, इस लिए श्रुति कहती है-वे कारण के कारण हैं, और सव की पति है। मूल कारण ही स्वीकृत है, उसका अभाव होने पर अनवस्था होगी। मूल कारण का मूल कारण का अनुसन्धान नहीं ही सकता है। मूले मूला भावान् अमूलंमेव मूलं। यहाँपर ब्रह्म की उत्पत्ति निरास होने पर ज्ञान हुआ कि ब्रह्म परम कारण है और स्वयं उत्पत्ति रहित है। अव्यक्तादि समस्त तत्वों की उत्पत्ति निश्चित है। आकाशदि का जन्म निरूपण केवल उदाहरण के लिए है।

मैं ही समस्त पदार्थों के पहले रहता हूँ। अपर कोई भी वस्तु उस समय नहीं रहती है, केवल चैतन्य मात्र ही अवस्थित है, अतएव सर्वत्र विश्व प्रसुप्त की भाँति रहता है ॥

वायु से तेज की उत्पत्ति श्रुति कथित है, यहाँपर यह जानना होगा।

महानहं खं मरुदग्निवार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥४।२५।६३

आपः ।२।३।१०

रूप मात्राद् विकुर्वाणात् तेजसो दैवचोदितात्
रस मात्रमभूत तस्मादम्भो जिह्वारसग्रहः ।३।२६।४१

महानहं खं मरुदग्निवार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥४।२५।६३

पृथिव्यधिकार रूप शब्दान्तरेभ्यः ।२।३।११

रसमात्राद् विकुर्वाणादम्भसो दैव चोदितात्
गन्धमात्रमभूत् तस्मात् पृथ्वी घ्राणन्तु शब्दगः ।३।२६।४४

सम्भूत शब्द के साथ योग होनेके कारण वायु में जो पञ्चमी विभक्ति है, उस का अपादान अर्थ करना आवश्यक हैं आनन्तर्य्यार्थ गौण है, मुख्यार्थ ही ग्राह्य है, अतएव वक्ष्यमाण युक्ति से तेज का ब्रह्मजत्व विरुद्ध नहीं होता है।

क्रीड़ा के लिए चेतना चेतनात्मक भेद तुमने ही किया है, आद्य तुम एक ही हो तुम्हारी सुप्ता माया शक्ति है, उस शक्ति से तुम ही क्रमशः रजः तमः महानहंकार मरुद् अग्नि वारि धरा, सुर ऋषिगण भूतगण आदि को निर्माण करते हो इस प्रकार जगत् तुम से है, और विभिन्न प्रकार से प्रतिभात होता है।

अनल से जल की उत्पत्ति हुई है, श्रुति में इस प्रकार उल्लेख हैं। " उन्होंने जल की सृष्टि की " अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई " इस प्रकार श्रुति वचन है, वाचनिक अर्थ में न्याय की अवतारणा नहीं होती, छान्दोग्य उपनिषद् में उक्तार्थ का प्रति पादक वचन देखा जाताहै, " तस्मात् यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते इति " इसलिए पुरुषने शोचा तव उसका स्वेदकण पतित हुआ—"

दैव की प्रेरणा से जव तेज तन्मात्र में क्रिया हुई तो उस से रस तन्मात्र की उत्पत्ति हुई, और जल रूप से प्रकट हुई जिसको ग्रहण कारी इन्द्रिय जिह्वा है॥

जिन परम पुरुष से महत् अहं आकाश मरुद् अग्नि वारि पृथिवी आदि की सृष्टि हुई है॥

श्रुति में उक्त है, कि ता आप ऐक्षन्त वह्व्य स्याम प्रजायेमहीति ता

महानहं खं मरुदग्नि वार्द्धराः
सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ।।४।२५।६२

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ।२।३।१२

अनादिशत्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः
प्रत्यक् धामा स्वयं ज्योति विश्वं येन समन्वितम् ।३।२६।३
स एव प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।३।२६।४

विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ।२।३।१३

युवां प्रधान पुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ
भवद्भ्यां न विना किञ्चित् परमस्ति न चापरम् ।१०।४८।१८

अन्नमसृजन्त" यहाँपर अन्नशब्द का प्रयोग होने के कारण संशय होता है कि अन्न यवादि की प्रथम परमेश्वरे भक्तिः ततोऽन्यत्र विरक्तिः तत एकाग्रता अनन्तर क्षेत्रज्ञ का चिन्तन करे ३।२६।७२।भा)

उत्पत्ति हुई अथवा पृथिवी की ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, अन्न शब्द से पृथिवी अर्थ समझना होगा । यवादि नहीं । अधिकार रूप शब्दान्तर के प्रयोग से ही वैसा अर्थ आत्मा है, श्रुति में महाभूतों की उत्पत्ति का प्रकरण ही दृष्ट होता है, ऐसा होनेपर " यत्र क्वचन" आदि वाक्य समूह का समाधान हेतु और फल की ऐक्य विवक्षा से हो सकेगा ।।

दैव की प्रेरणा से रस तन्मात्र में क्रिया हुई, और उस से गन्ध तन्मात्र की उत्पत्ति हुई, जिससे पृथिवी हुई, इस की ग्रहण करने की इन्द्रिय घ्राण है । महत्तत्त्व अहंतत्त्व मरुद् अग्नि वारि और पृथिवी आदि जिन से उत्पन्न होते है, उनको नमस्कार है ।

ब्रह्म के संकल्प से ही जव प्रधानादि तत्त्व समूह की उत्पत्ति होती है, तव विश्व का एकमात्र आदि कारण ब्रह्म ही है ।

अनादि आत्मा निर्गुण प्रकृति से अतीत 'असङ्ग' प्रत्यक् धामा स्वयं ज्योतिः पुरुष ही एक मात्र जगत् कारण है, जिन से समस्त विश्व प्रकाशित होता है । वह पुरुष दैवी गुणमयी सूक्ष्मा प्रकृति रूपी शक्ति कोसृजन लीला के लिए यदृच्छाक्रम से अङ्गीकार किया ।

तु शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । सृष्टि क्रम वर्णन में युत्क्रम

आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।
ईयते वहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥१०।४८।१६

अन्तरा विज्ञान मनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।२।३।१४

तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं
स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ॥
यद्विद्यमानात्मतयावभासते
तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥१०।७०।३८

देखा जाता है, उस से भी ब्रह्म कारणता । उपपन्न होती है, मुण्डक श्रुति में वर्णित है—इन से प्राण, मन, इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज जल तथा पृथिवी की उत्पत्ति है, सुवाल उपनिषद् में इस से विपरीत क्रम है। इन दोनों को मिलाकर देखा जाता है, सर्व शक्तिमय सर्वेश्वर ही जगत् कारण है, और उन से समस्त वस्तु की उत्पत्ति होती है, यह शब्दार्थ ठीक रखने के लिए ही मानागया है। क्योंकि सर्वेश्वर का समस्त उपादानत्व, सकल स्रष्टृत्व और उन के विज्ञान से सर्व विज्ञान आदि का वर्णन असङ्गत नही, च शब्दके द्वारा जड़ प्रधानादि द्वारा वह वह परिणाम भी असम्भव होताहै । अतएव सर्वेश्वर ही सकल विश्व का साक्षात् कारण है ।

आप दोनों ही जगन्मय हैं, कारण जगद् हेतु वह भी कैसे ? प्रधान पुरुषौ तदात्मकौ । अतएव आप दोनों को छोड़कर परं कारण एवं अपर कार्य भी नहीं है ॥

प्रत्यक्षादि सिद्ध वस्तु को नास्ती शब्द से कैसे कहते हो ? उत्तर में कहते हैं—यह सब आत्म सृष्ट है, हे ब्रह्मन् ? परमेश्वर ! अपनी शक्तिसे स्वयं द्वारा सृष्ट विश्व में कारण रूप में अवस्थित होकर भी सृष्ट वस्तु में प्रविष्ट होकर श्रुति प्रत्यक्ष गोचर के समान अनेक प्रकार प्रतिभात होते हैं ।

पूनर्वार आशङ्का को उठाकर निराकरण करते हैं ।

सह पाठ लिङ्ग से अन्तरालमें विज्ञान एवं मन का जो क्रम है, उस से सवतत्त्वों का साक्षात् ईश्वर से उद्भव होना निश्चय नहीं किया जा सकता हैं । इस प्रकार कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि उस के विषय में श्रुतिसमूह का कुछ भी विशेष नहीं है ॥

तुह्मारी इच्छा को उत्तम रूप से कौन जान सकता है ? अपनी शक्ति

चराचर व्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशोऽभाक्त स्तद्भावभावितत्वात् ।२।३।१५

चराचर मिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥१०।८६।५६
चराचरात्मा सनिमिलितेक्षणः ।१०।६।८
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥१०।१६।४३

नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।२।३।१६

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ।६।१६।९

इस विश्व का सृजन नियमन आदि करते रहतेहैं । एवं सर्वत्र विद्यमान आत्म रूप से अवभात भी होते रहते हैं, किन्तु आप केवल प्रणाम के ही योग्य हैं । अतएव आपको नमन करता हूँ । आप अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न हो ।

तु शब्द शङ्का निरास के लिए है, इस प्रकार श्रीहरि यदि सर्वात्मक हैं, तव चराचर वाची समस्त शब्दों की ही तद्वाचकतापत्ति होगी, किन्तु वे सर्व शब्द की श्रीहरि वाचकता देखने में नहीं आती है । वे सव ही मुख्य रूप से चराचरका वाचक है, ऐसा मानने पर उनसव शब्द की सर्वेश्वर में गौणी प्रवृत्ति होगी । इस प्रकार आशङ्का के उत्तर में कहते हैं, तद्भाव भावित्व निवन्धन चराचर व्यपाश्रय तद् व्यपदेश गौण न होकर सर्वेश्वर में मुख्य ही होगा ।

विप्रगण मुझे जान कर चराचर विश्व के समस्त पदार्थ, एवं उस के समूह कारणों को मेरा ही एकमात्र रूप हैं, ऐसा मानते हैं ॥

चराचरात्मा श्रीकृष्ण नेत्र मुद्रित कर थे । अनेक प्रकार विचारों में आप ही एक मात्र निर्णीत वस्तु है, वाच्य वाचक शक्ति रूप अभिधान एवं अभिधेय दोनों ही आप हैं ।

यदि कहो आत्मा की उत्पत्ति है, अथवा नहीं ? उत्तर यह है कि श्रुति एवं स्मृतिसे आत्माकी नित्यता श्रवण निवन्धन उसकी उत्पत्ति अस्वीकार्य हैं ॥

जीव नित्य है, इसका स्थापन करते हैं । आत्मानित्य है । उस में कारण है कि–अव्यय अपक्षय शून्य है, सूक्ष्म स्वरूप होने के कारण जन्मादि शून्य है, वह भी कैसे सम्भव है–? उत्तर है–जन्मादिमत् देहादि रूप का आश्रय है, किन्तु देहादि रूप नहीं है, कारण आत्मा स्वदृक्–स्वप्रकाश है ।

ज्ञोऽतएव ।२।३।१७

एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्त्तॄणां गुणदोषयोः ।६।१६।१०

उत्क्रान्तिगत्यागतीनां ।२।३।१८

एष नित्योव्ययः सूक्ष्मः ।६।१६।९

यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः

पर्य्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्त्तृषु ।६।१६।६

एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः ।६।१६।८

स्वात्मना चोत्तरयोः ।२।३।१९

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ॥

लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मातदनुवर्त्तते ।११।२२।३७

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२०

यदि कहो जीव ज्ञान मात्र स्वरूप है अथवा ज्ञातृ स्वरूप है। इस का उत्तर यह है। कि श्रुति प्रमाण निवन्धन जीव ज्ञान स्वरूप होकर भी ज्ञातृ स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप एवं ज्ञातृ स्वरूप है, श्रुति स्मृति में इस का सुस्पष्ट प्रमाण है।

अनन्तर जीव का परिमाण का विचार किया जाता है। यदि कहो— जीव विभु है, अथवा अणु ? उत्तर उत्क्रान्ति, गतिएवं आगति दर्शन हेतु जीव का अणुत्व ही स्वीकार करना होगा।

यह जीव नित्य है, अव्यय है, एवं सूक्ष्म स्वरूप है। जीव स्व कर्म वश होकर भ्रमण करता रहता है। जैसे क्रय विक्रय योग्य पण्य समूह व्यवहार कारियों में चलते रहते हैं, इस प्रकार जीव भी नाना योनि में भ्रमण करता रहता है, इस प्रकार जीव योनिगत होनेपर भी नित्य है, एवं सर्वत्र अहंकार शून्य है।

'च' अवधारण अर्थ में गति एवं अगति का सम्वन्ध आत्मा के साथही है। क्रिया के साथ कर्त्ता का सम्वन्ध होता है। गति और अगति के कारण है। उत्कान्ति होती है, लिङ्ग शरीर की अवलम्वन कर आत्मा का गमना गमन होता हैं। अपरापर इन्द्रियों को ग्रहण कराने के लिए पञ्चइन्द्रिय का उल्लेख हुआ है, आत्मा एक देह से देहान्तर में प्रवेश करता है, उन सवों से आत्मा भिन्न है, मन एवं अहंकार भी आत्मानुवर्त्तन करता है।

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ६।१६।६

स्व शब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।२१

गुणिनामप्यहं सूत्रं महताञ्च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवः ।।११।१६।११

अविरोधश्चन्दन वत् ।२।३।२२

अपरिमिताध्रुवा स्तनुभृतो यदि सर्वगता
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।।१०।८७।३०

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमात् हृदिहि ।२।२।३२

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।।११।११।६
हृदय मारुणयो दहरम् ।।१०।८७।२८
तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्म कल्पितानाम् ।१।८।४२

श्रुति में आत्मा महान्है, इस प्रकार उल्लेखहै, इसलिए जीव अणु नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकताहै, कारण महत् शब्द परमात्माधिकार में आता है, उपास्य उपासक और उपासना की दृष्टि से ही जीव अणु है, और ईश्बर महान् है ।

यह जीव नित्य है, अव्यय है, सूक्ष्म अणु स्वरूप है, सर्वाश्रय एवं स्वदृक् है ।।

स्व शब्द–अणुत्व वाची शब्द भी देखने आता है। एषोऽणुरात्मा परि माण भी परमाणु तुल्यहै, सूत्र प्रथम कार्य, महान् महत्तत्त्व, सूक्ष्य उपाधि के कारण एवं दुर्ज्ञेय के कारण जीव अणु है, वालाग्र से भी अणु है।

जीव अणु है, इस का प्रभाव हरिचन्दन विन्दु के समान जानना होगा एकदेश में रहकर सर्वाङ्ग में प्रभाव विस्तार करताहै । जैसे हरि चन्दन विन्दु एकदेश ललाट में रहकर सम्पूर्ण शरीर को शीतल तथा सुगन्धित करता है।

यदि जीव व्यापक होता हूँ, तो ईश्वर के साथ नियामक नियम्य भाव भी नहीं होता, इस लिए जीव अणु है, व्याप्य है, एवं देहव्यापी भी नहीं है, देह के एकदेश स्थित होकर समस्त देह को परिचालन करता है।

अवस्थिति वैषम्य निबन्धन दृष्टान्त वैषम्य है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जीव की स्थिति हृदय में ही स्वीकार्य है।

गुणाद्वा आलोकवत् ।२।३।२४

न तत्र आत्मा स्वयं ज्योति र्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥१२।५।८

व्यतिरेको गन्धवत् तथाहि दर्शयति ।२।३।२५

कान्तिस्तेजः प्रभासत्ताचन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् ।
यत् स्थैर्य्यं भूभृतां भूमे वृंतिर्गन्धोऽर्थतोभवान् ।१०।८५।७

पृथगुपदेशात् ।२।३।२६

यदेतद् विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः ॥
ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृते मृंतिः ६।१६।५७

सदृश सखा स्वरूप पक्षी द्वय यहच्छाक्रमसे देह रूपी वृक्षस्थ हृदय में घोसला वनाकर हरते हैं। आरुणि ऋषि हृदय में जीव का ध्यान करते हैं। स्वयं निर्मित शरीरधारि प्राणियों के प्रति हृदय में स्थित हैं, उन को मैंने जाना है।

आत्मा अणु स्वरूप होकर भी चेतयितृ लक्षण चिद् गुण से आलोक की भाँति समस्त देहव्यापी होता है। जैसे सूर्य एक देश में स्थित होकर प्रभा से विश्व को आलोकित करताहै, वैसे स्वयं ज्योति जीवात्मा भी हृदर में स्थित होकर समस्त देह में चेतना सञ्चार करता है आत्मा व्यक्त एवं अव्यक्त से स्थूल सूक्ष्म देह से भिन्न है, क्योंकि वह स्वयं ज्योति स्वरूप है। देहादि प्रपञ्च का आधार है, एवं निर्विकार है उनके सदृश अपर कोई नहीं है।

प्रथम कहा गया है कि—गुण समूह गुणी स्थान से पृथक् स्थान में अवस्थित होते है, अधुना उसका दृष्टान्त प्रदर्शित हो रहा है। गन्ध की भाँति व्यतिरेक भी स्वीकार करना होगा, श्रुति आदि में इस का प्रमाण है॥

चन्द्र की कान्ति, अग्नि का तेज, सूर्य्य की प्रभा ऋक्ष--विद्युत आदिका स्फुरण स्वभाव, एवं अपर पदार्थ की जो भी शक्ति है वह अपने में स्थित होकर वाहर भी प्रतीति होती यह सव ही ईश्वर शक्ति से शक्तिमत्हैं, ईश्वर स्वतन्त्र है यह सव पर तन्त्र शक्ति मय है।

धर्मभूत ज्ञान नित्य है, पृथक् उपदेश का कारण जीव का नित्य ज्ञान स्वीकार करना होगा, वह द्रष्टा है इत्यादि श्रुति वाक्य से सुस्पष्ट होता है कि जीव ज्ञान स्वरूप होकर भी ज्ञानवान है भगवद् वैमुख्य से ज्ञान आवृत हो जाता है, एवं भगवत् साम्मुख्य से ज्ञान स्वरूप की उपलब्धि होती है ॥

तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेश प्राज्ञवत् ।२।३।२७

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ ।।११।११।६

देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः ।।११।२३।५४

यावदात्माभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् २।३।२८

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।।११।११।४

पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।२।३।२९

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिद्ध्यति यः स्वतः खे ।।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।।११।२२।३१

यदि जीव मेरे स्वरूप को भूल जाता है, तव आत्मा से भिन्न हो जाता हैं, इस पुरुष का संसार होता है, वह संसार देह से देह को प्राप्त करना एक जन्म से अपर जन्म को प्राप्त करना है। जन्म के वाद जन्म, मरण के वाद मरण है।

जीव ज्ञाता होकर भी ज्ञान स्वरूप है; क्योंकि तद्गुणेति, ज्ञान जिनका गुण है, स्वरूपानुबन्धी ज्ञान युक्त है। प्राज्ञवत् जैसे यः सर्वज्ञः सर्ववित् रूप से विष्णु को कहा गया है अनन्तर उनको ही सत्यं ज्ञानं रूप से भी कहा गया है, अतएव ज्ञाता ज्ञान स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है।

नित्य ज्ञान स्वरूप एवं चित् रूप से जीव एवं परमात्म सदृश है, अत एव दोनों सखा की भाँति हैं। देह अचित् है,, एवं पुरुष-जीव सुवर्ण है अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूप है।

ज्ञान स्वरूप जीव ज्ञाता है, ऐसा कथन निर्दोष है, क्योंकि—यह प्रतीति आत्मसमान काल भाविनी है। आत्मा अनादि काल से ही सम्पन्न है, जैसे रवि प्रकाशक होकर भी प्रकाश रूप है, जवतक सूर्य है तव तक है वैसा कहा जावेगा, निर्भेद वस्तु में दो प्रकार प्रतिभात होना विशेष पदार्थ का फल है।

मेरा अंश स्वरूप ही जीव है ।।

ज्ञान आत्मा का गुण है, किन्तु सुषुप्ति में वह ज्ञान न रहने से अनित्य है, इस प्रकार आशङ्का के उत्तर में कहते हैं—तु शब्द शङ्काछेद के लिए हैं, 'न' का अनुवर्त्तन प्रथम सूत्र से हुआहै। इस का ज्ञान सुषुप्ति में भी था जागरणमें उस की अभिव्यक्ति हुई है ।। दृष्टान्त पुंस्त्वादि था, कैशोर में उस की

नित्योपलब्धि--अनुपलब्धि प्रसङ्गोऽन्यतर नियमो वान्यथा ।२।३।३०

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्
आत्ममाया गुणैर्विश्व मात्मानं सृजते प्रभुः ।६।११।६

जैसे अभिव्यक्ति होती है । सुषुप्ति के समय ज्ञान प्रसङ्ग का निवारण श्रुति ने ही कियाहै । विषयका अभाव ही उसका कारणहै अन्यथा सुषुप्ति में अवस्थित आत्माका अनुसन्धान ही नहीं होगी । इन्द्रिय संयोग रूपा कारण सामग्री उस की अभिव्यञ्जिकाहैं । असत् वस्तु की उत्पत्ति माननेपर क्लीव की भी पुंस्त्व की उत्पक्ति होगी । अतएव ज्ञान स्वरूप अणु जीव नित्य ज्ञान गुणवान् है ॥

आकाश में जैसे सूर्य स्वतः प्रकाश शील होकर रहते हैं, वैसे आत्मा भी शरीर में स्वप्रकाश रूप में रहते हैं, स्वतः सिद्ध प्रकाशता के कारण परस्पर प्रकाशक भी व प्रकाश्यक है, क्योंकि वह चित् स्वरूप स्व प्रकाश स्व रूप ज्ञाता, ज्ञान स्वरूप है ।

अनन्तर प्रति पक्ष सांख्य मत में दोष प्रदर्शन करने के लिए कहते हैं, उन के मत में ज्ञान मात्र विभु आत्माहै, इस प्रकार कथन युक्त है अथवा नहीं अणु कहने से सुख दुःख की उपलब्धि नहीं होगी । मध्यम परिमाण कहने पर अनित्यत्वापत्ति इस लिए विभु आत्मा, सिद्धान्त मानना ही ठीक है, उत्तर में कहतेहैं ॥ अन्यथा ज्ञान मात्र विभु आत्मा इस सिद्धान्त में नित्य उपलब्धि और नित्य अनुपलब्धि प्रसङ्ग होगा, अन्यतर का प्रतिबन्ध एवं नियम नित्य होगा । इसका अर्थ इस प्रकार है, लोक सिद्ध पदार्थ की नित्य उपलब्धि एवं अनुपलब्धि है । विभु आत्मा यदि उन दोनों के प्रति कारण हो तो नित्य एवं युगपत् ही लोक उन दोनों की उपलब्धि करेंगे । इस प्रकार विभु आत्मा मानने पर सर्वत्र सर्वदा शरीर में भोग की प्राप्ति भी होना चाहिए । अदृष्ट के द्वारा भोग प्राप्ति की तरतमता है, यह भी नहीं कहीं जा सकती है । मतान्तर में भी दूषण समान है, हमारे मत में आत्मा के अणुत्व से प्रति शरीर में भेद प्राप्त होने के कारण कोई शंकानहीं है, अणु का भी सर्वत्र कार्य क्रम से सञ्चार है, युगपत् नहीं है, अतएव अदोष है ॥

यह आत्मा नित्य अव्यय, सूक्ष्म, सर्वाश्रय, स्वदृक्है, एवं आत्ममाया गुण से स्वतन्त्र होकर भोगायतन की कल्पना करता है ।

जीव कर्त्ताहै, गुण नहीं, क्योंकि शास्त्रार्थ वत्त्वात् स्वर्ग कामो यजते " इत्यादि शास्त्र वाक्य से चेतन कर्त्ता की उपलब्धि होतीहै, गुण कर्तृत्व में उस

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ।२।३।३१

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वःपरोऽपि वा
एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्त्तॄणां गुणदोषयोः ॥६।१६।१०

विहारोपदेशात् ।२।३।३२

नादत्तआत्माहि गुणं न दोषं न क्रिया फलम् ॥
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥६।१६।११

उपादानात् ।२।३।३३

जो जागरे वहिरनुक्षणधर्मिनोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्त करणै हृदितत् सदृक्षान् ॥
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात् त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥११।१३।३२

की निरर्थकता होगी। शास्त्र फल हेतुता वुद्धि को उत्पन्न कर कर्म समूह में सउ के फल भोक्ता पुरुष को प्रवत्तित करता है। जड़ गुरा समूह में तादृश ज्ञान उत्पादन नहीं किया जाता है।

जीव का कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहींहै, वह स्वयं ही समस्त वुद्धियों का द्रष्टा है॥

जीव का कर्त्तृत्व यथार्थ हैं। विहार के उपदेश के कारण जीव का कर्त्तृत्व अवश्य स्वींकार्य हैं। स तत्र पर्येति जक्षन् क्रोड़न् रममाण, वह वहाँ जाता है, भोजन करता है, क्रीड़ा एवं रमण करता हैं, इत्यादि वाक्य से मुक्त का भी क्रीड़ा अभिधान होने पर जीव का कर्त्तृत्व सत्य है, अतएव कर्त्तृत्व मात्र ही दोषा वह हैं, ऐसा नहीं किन्तु गुण सम्वन्धसे दुःख की उत्पत्ति होती है॥ जिस से गुण सम्वन्ध ही स्वरूप की ग्लानि का उपादान करता हैं॥

जीव कर्त्ता है सुख दुःख क्रियाफल को वह ग्रहण नहीं करता है, वह कार्य कारण का साक्षी है, कारण वह समर्थ है, देहादि पारतन्त्र्य शून्य है।

उपादान से जीव का कर्त्तृत्व सिद्ध होता है, स यथा महाराज" इस प्रकार उपक्रम करके एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा" इत्यादि श्रुति में जीव का प्राणादिक के साथ गमन कहा गया है, लोहाकर्षक मणि की भाँति चेतन जीव का ही कर्त्तृत्व है, अन्य के ग्रहण से प्राणादि की करणता है, किन्तु प्राणादि के ग्रहणमें अन्य की करणता नहींहै, अतएव जीव का ही कर्त्तृत्व है॥

व्यपदेशाच्चक्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।२।३।३४

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः
आत्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ॥२।३।३६

उपलब्धि वदनियमः ।२।३।३५

न घटत उद्भवः प्रकृति पूरुषयोरजयो
रुभय युज। भवन्त्यसुभृतो जलवुद् वुदवत् ।
त्वयि न इमे ततो विविधनाम गुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः १०।८७।३१

शक्ति विपर्य्ययात् ।२।३।३६

चेतन जीव ही कर्त्ता है, जो जाग्रत अवस्था में स्थूल देहादि को चक्षुरादि द्वाराभोग करतेहैं,वह अनुक्षण धर्मीहै, अर्थात् क्षणिक वाल्य तारुण्यादि धर्मवान् है। स्वप्न में जाग्रत अवस्था में दृष्ट पदार्थ के समान वासना मय समूह पदार्थ को भोग करता है। एवं सुषुप्ति उन सवों का उप संहार भी करता है।

वह अवस्थात्रय का द्रष्टा है, आत्मा कैसे द्रष्टा हो सकता है, वुद्धि सव दीखती है ? उत्तर देते है; वह इन्द्रियेश है„ वुद्धि इन्द्रियों का स्वामी नहीं है। स्मृति द्वारा सर्वावस्था में सम्पर्क स्थापन करता है, इस प्रकार वाल्य युवादि अवस्था में भी प्रति सन्धान द्वारा आत्मा की एकता सिद्धि होती है।

युक्त्यन्तर दिखाते हैं—

आत्मा कर्त्ता न होकर यदि वुद्धि कर्त्ता होती है तव निर्देश का विपरीत होता। तैतिरीयक में वर्णित है, विज्ञानं यज्ञंतनुते कर्माणि तनुते ऽपि च (५।१) इस से ज्ञात होता है, कि--यदि वुद्धि कर्त्ता होती तव विज्ञानं कर्त्ता अथात् कर्त्ता विज्ञान आत्मा इस प्रकार न होकर विज्ञान का ऐसा पाठ होता अर्थात् विज्ञान् शब्द में तृतीयाविभक्ति होती, किन्तु यहां वैसा नहीं है, अतः विज्ञान शब्द से आत्मा का वोधहोता है।

प्रकृति कर्त्तृत्व वाद में दोष दिखाते है—

जीव एवं प्रकृति उभय का कर्त्तृत्व है, अथवा दोनों में से एक किसी का है, ऐसा होनेपर अनुभूति का वैपरीत्य होगा। अतएव जीवात्मा का देह कर्त्तृत्व और विश्वात्माका विश्व कर्त्तृत्व मानना होगा, परमात्माका कर्त्तृत्व ही सम्भव है, परमात्मा की शक्ति से ही जीवका कर्त्तृत्व है।

प्रकृति कर्त्ता होने पर पुरुष निष्ठ भोक्तृत्व शक्ति का विपर्य्यय भी होगा

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तश्च गुणतो बुद्धिवृतयः
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥११।१३।२७

समाध्यभावाच्च ।२।३।३७

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः
सञ्छिद्य हार्द मनुमानसदुक्तितीक्ष्ण—
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥११।१३।३३

यथा च तक्षोभयथा ।२।३।३८

कार्य कारण कर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषंप्रकृतेःपरम् ॥३।२६।८

परात् तु तच्छ्रुतेः ।२।३।३६

गुणै विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञान गूहया ॥३।२६।५

एवं भोक्तृत्व भी प्रकृतिमें आवेगा, जो कि सिद्धान्त विरुद्ध है। पुरुषहै, भोक्ता होने के कारण यह सिद्धान्त है, प्रकृति वाद का। कर्त्ता से अतिरिक्त भोक्तृत्व के असम्भव होने के कारण पुरुष की शक्ति भी प्रकृति गत हो जाती है,

जागर स्वप्न सुषुप्ति ये तीनों बुद्धि की वृत्तिहै, जीव की नहीं है, सत्त्व से जागरण होता है,, रजः से स्वप्न, एवं तमसे प्रस्वाप होता है, चतुर्थ तत्त्व सर्वत्र साक्षी रूप में अनुस्यूत है, जीव उस से विलक्षण ही है। क्योंकि वह साक्षी है ॥

मोक्ष के साधन स्वरूप समाधि का अभाव होने के कारण प्रकृति कर्त्तृत्व वाद सदोष है। मैं प्रकृति से भिन्न हूँ इस प्रकार बुद्धि ही समाधि है, वह सम्भव ही नहीं होगा, प्रकृति अपने से अपने को भिन्न नहीं मान सकती है, क्योंकि वह प्रकृति जड़ है। अतएव जीव ही कर्त्ता है।

मन की अवस्थात्रय है, यह मेरी अविद्यासे ही है। इस प्रकार निश्चय कर आत्म स्वरूप में स्थित होकर समस्त संशय को विदूरित करें, और हृदय में स्थित परमेश्वर को ध्यान करें संशय समूह को किस से छेदन करना है, इस लिए कहते हैं अनुमान के द्वारा सज्जन गणों के उपदेश से, श्रुति वाक्यसे, एवं ज्ञान स्वरूप तीक्ष्न स्वड्गके द्वारा संशयों को छेदन करें ॥

एवं पराभिध्यानेन कर्त्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ॥
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥३।२६।६
तदस्या संसृति बंन्धः पारतन्त्र्यञ्च ततकृतम् ॥
भवत्यकर्त्तु रीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥३।२६।७

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित
प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।२।३।४०

अनन्तर जीव का कर्त्तृत्व दृष्टान्त के द्वारा देखाते हैं—जैसे सूत्र धर (बडोई) उभय रूप से कर्त्ता होता हैं। काष्ठ च्छेदन में वास्यादि के द्वारा कर्त्ता होता है, वैसे जीव भी विषय ग्रहण विषय में प्राणादि द्वारा शक्ति प्रयोग से कर्त्ता होता है। इह प्रकार प्राकृत देहादि द्वारा जो कर्त्तृत्व है, वहनिश्चय शुद्ध पुरुष से प्रवृत्त होने पर भी गुण वृत्ति प्रचुरता के द्वारा देहादि हेतु रूपसे उपचारित होता है, क्योंकि-जीव के जन्मादि में प्रकृति गुण सङ्ग ही कारण होता है ॥

कार्य्य-शरीर, कारण-इन्द्रिय, कर्त्ता-देवता वर्ग, पुरुषकी तद्भावा पत्ति में प्रकृति ही कारण है, कूटस्थ का विकार सम्भव नहीं है। प्रकृति परिणाम भूत देहाद्यहङ्कारकृत ही कर्त्तृत्वादि है। भोक्तृत्व में पुरुष कारण है, इस का इस प्रकार अभिप्राय है, यद्यपि अहङ्कार गत ही कार्य्यत्वादि कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व भी है, तथापि विकार जड़ का ही है, भोग चैतन्य का होता है। अत एव जीव ज्ञान स्वरूप होने पर भी ज्ञातृत्व भी उन में है, वह द्रष्टा है, जीव का कर्त्तृत्व सूत्रधर दृष्टान्त से दिखाने का अर्थ यह है कि जीव में कर्त्तृत्व नित्य नहीं है ॥

जीव का कर्त्तृत्व स्वायत्व अथवा परायत्त है, ? इस प्रश्न में "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे, ब्राह्मण सुरापान न करे" इस प्रकार विधि निषेध वाक्यसे जीव का कर्त्तृत्व का स्वायत्त बोध होता है। इस के उत्तर में कहते हैं अन्त, प्रविष्टः शास्ता जनानां य आत्मनि तिष्ठन् आत्मान मन्तरो यमयति, एष एव साधु कर्म कारयति इव सब श्रुतियोंमें परायत्तका ही बोध होता है।

श्रीविष्णु निज शक्ति द्वारा विचित्र सृजन करते हैं, जीव उन विचित्र सृजन कारिणी को देखकर मुग्ध हो जाता है अपना स्वरूप भी विस्मृत हो जाता है, ईश्वर जीव को नियमन करते है। प्रकृति का अध्यास से उस के गुण कर्म को अपना मानकर कर्त्तृत्व का आरोप अपने में कर लेता है। इस प्रकार दैवी माया में आसक्त होने के कारण साक्षी होकर भी कर्म वन्ध होता

दे अस्य वीजे शतमूल स्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पंञ्चरसप्रसूतिः
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड़—स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ।
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एक मरण्य वासाः
हंसा य एकं वहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ।११।१२।२२-२३

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापि
दास कितवादित्वमधीयत एके ।२।३।४१

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते
बन्धोऽस्याविद्ययानादि विद्ययाच तथेतरः ।११।११।४

है, परतन्त्रता को प्राप्त करलेता है, सुखात्मक होकर भी जन्म मृत्यु प्रवाह को प्राप्त करता है ।

परेशायत्त कर्त्तृत्व होनेसे विधि निषेध शास्त्रव्यर्थ होगा इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं—जीवकृत धर्माधर्म स्वरूप प्रयत्न को अपेक्षा न करके ही परमेश्वर उन्हें कर्म में प्रवृत्त करते हैं। अतएव उक्त दोष की आशङ्का नहीं है। तु शब्द शङ्का निरसन के लिए है। कर्त्ता भी परप्रेरित होकर कार्य करता है, कर्त्तृत्व भी उस में रहता है । विहित प्रतिषिद्ध शास्त्र व्यर्थ नहीं है । आदि शब्द से निग्रह--अनुग्रह--वैषम्यादि परिहार की उपपत्ति का ग्रहण है । जीव प्रयोज्य कर्त्ता है, और ईश्वर प्रयोजक कर्त्ता हैं, परमेश्वर के अनुमोदन को छोड़कर जीव का कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है, इस प्रकार समस्त सिद्धान्त निर्दोष होता है ।

ईश्वर माया से सृष्ट यह जगत् है, एवं ईश्वराश्रित है । जीव ईश्वर के आदेश से पाप पुण्य फल भोग के लिए विश्व में स्थान प्राप्त करता है। यह विश्व एक वृक्षरूप है, उस को कहते हैं, पुण्य एवं पाप इसका दो वीजहै । शत मूल-अपरिमित वासना इस का मूल है। तिन गुण ही इसका प्रकाण्ड है, पञ्च भूत स्कन्ध है, पञ्चरस इस से उत्पन्न होता है । एकादश इन्द्रिय शाखा हैं । जीव एवं परमात्मा का ही यह नीड़ है, वातपित्त का इस का वल्कल है । सुख दुःख फल है । सूर्य मण्डल पर्यन्तयह व्याप्त है, इस के वाद संसार नहीं है ॥ कामी गृहस्थगण इस का फल भोगते हैं, विवेकीगण सुख प्राप्त करते हैं, एक परमात्मा को जो गुरुकरण के द्वारा जानता है वह ही वेद शास्त्रार्थ वेत्ता है ॥

इसके पहले जीव को ब्रह्मांश कहा गया है, द्वा सुपर्णा श्रुति में जीव और ईश्वर का वोध होता है, संशय यह है कि ब्रह्म माया से परिच्छिन्न होकर जीव होते हैं ? किंवा रवि किरण की भाँति ब्रह्म से भिन्न अथच तत् सम्बन्धा

मन्त्रवर्णात् ।२।३।४२

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु ।।२।६।१९

अपिस्मर्य्यते ।२।३।४३

ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ।।१२।४।३२
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ।।११।११।४

पेक्षी तदंश ही जीवहै ? आथर्वण श्रुतिमें जीव को आकाशोपम कहा गया है। ठीक जीव को भी उसी प्रकार जानना होगा। इस से तत्त्व मस्यादि वाक्य सार्थक होता है, इस पूर्वपक्षका उत्तर देते हुए कहतेहैं—नाना सम्बन्ध के व्यप देश से जीव को ब्रह्मांश ही कहा जाता है। अथार्वणिक श्रुति भी जीव को ब्रह्मांश सिद्ध करती है, "जीव ब्रह्म का दास कितव है" इस से अंशांशि भाव प्रकट होता है। जीव परेश का अंश है। सूर्य किरण जैसे सूर्य का अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव है। जीव ब्रह्म से भिन्न होने पर भी तत् सम्बन्धा पेक्षी है। ब्रह्म शक्तिमत् एक वस्तु है, जीव ब्रह्म शक्ति रूप ब्रह्म क देश होनेके कारण ब्रह्मांश है, अतएव ईश जीव का भेद सुस्पष्ट है, बह भेद नियन्ता नियम्य, विभुत्व अणुत्वादि धर्म के द्वारा प्रतीत होता ही है।

हे महामते ! जीव मेरा ही अंश है, मैं एक सत् अद्वितीय हूँ जीव का वन्ध ईश्वर विमुखता के कारण अनादि अविद्या से होता है, एवं विद्याद्वारा ईश्वरोन्मुख होने पर मुक्त होता है।

"पादोऽस्य सर्वाभूतानि" इस मन्त्र में भी जीव को ब्रह्मांश कहा गया है। अंश एवं पाद शब्द एकार्थ वाचक है। यहाँ सर्वा भूतानि वहुवचन है, श्रौत सूत्र में जात्याभिप्राय से अंश शब्द का वचनान्तत्व का कथन है, अन्यत्र भी इस प्रकार जानना होगा। भू आदि समस्त लोक जिस में रहते हैं, वे सब पुरुष के स्थिति पद कहलाते है। पाद की भाँति पाद अंश हैं, जिस का वह स्थिति पाद हैं, उन स्थिति पद के पादमें अर्थ अंश रूप में लोक में समस्त जीवों को जानना होगा। त्रिपाद विभूति अमृत स्वरूप है, वह त्रिलोक में नहीं है ।।

गीता में जीव को ब्रह्मांश कहा गया है, उस वाक्य में जीवको सनातन कहा गया है, इस लिए उपाधि को जीव कहना ठीक नहीं है, ब्रह्म सम्वन्धा पेक्षी ब्रह्मांश ही जीव है, उस का कर्त्तृत्वादि ब्रह्मायत्त है, जीव को सूक्ष ज्ञान स्वरूप, ज्ञाता अणु, स्व प्रकारा कहा गया है, यह सब ही ईश्वराधीन होने के

प्रकाशादिवन्नैवं परः ।२।३।४४

भक्ति योगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम् ॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतञ्चाभिपद्यते ॥१।७।४–५

स्मरन्ति च ।२।३।४५

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ॥१।३।२८

कारण जीव ब्रह्मांश है ।

ब्रह्मांश जीव की ईश विमुखता के कारण अनादि अविद्या से बन्ध होता है । एक सत् अद्वितीय परमानन्द स्वरूप मैं हूँ, मेरा ही सनातन अंश जीव है ॥

अंश शब्द से जीव को उल्लेख करने पर भी "पर" मत्स्यादि अवतार के समान जीव अंश नहीं है, उदाहरण इस प्रकार है, जैसे तेजोऽशं रवि जिस प्रकार तेज शब्द से कथित होने पर भी, तेजः शब्द से कथित खद्योत 'जुगुनु' पूर्वोक्त तेजः शब्दितका समकक्ष नहीं हो सकताहीहै, वैसेहै, भगवद् अंशावतार एवं जीव में अन्तर सुस्पष्ट है ॥

भक्ति योग द्वारा मन सम्यक् अमल होनेपर व्यास जीने पूर्ण पुरुष को देखा था, एवं माया उन से विदूर वर्त्तिनी है, यह भी देखा था, जिस माया से जीव सम्मोहित होकर अपने को त्रिगुणात्मक मानता है, एवं उसके सङ्केत से चलने लगता है, ईश्वर स्वरूप स्वराट् माया वश्य नहीं है, नियन्ता है, और जीव माया वश्य है, ॥

स्मृति अंश का विवरण इस प्रकार है, स्वांश एवं विभिन्नांश, अंशो के सामर्थ्य के अनुरूप सामर्थ्य, स्वरूप, स्थिति आदि स्वांश में होते हैं, स्वांश के साथ स्वांशी का अनुमात्र भी भेद नहीं होते हैं, विभिन्नांश समूह अंशी से स्वरूप शक्ति आदि विशिष्ट है, स्वांश अवतार समूह समस्त गुणों से परिपूर्ण एवं निखिल दोषों से रहित है, इसका तात्पर्य है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है, और ये सब अवतार उनके अंश कलारूप है । श्रीकृष्ण स्वयं सर्वांशी हैं । मत्स्यादि अवतार समूह अंश होने पर भी जीव की भाँति श्रीकृष्ण से भिन्न नही हैं ॥

विभुति वर्णन के वाद कुछ विशेष कहते हैं । पुंसः परमेश्वर के कोई

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धात् ज्योतिरादिवत् ।२।३।४६

यदेतद्विस्मृतं पुंसो मद्भाव भिन्नमात्मनः ।

ततः संसार एतस्य देहाद्देहो मृते मृतिः ॥

लब्धेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।

आत्मानं यो न वुध्यते न क्वचित् क्षेममाप्नुयात् ।।६।१६।५७।५८

कोई अंश है, और कोई कला विभूति रूप है, मत्स्यादि भगवदवतार होनेपर भी एवं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्त्व होनेपर भी यथोपयोग ही ज्ञान क्रिया शक्ति का आविष्कार उन में है। कुमार नारद प्रभृतिमें अधिकार के अणुरूप यथोपयोग अंश कला का आवेश। है, कुमार आदि में ज्ञानावेश' पृथु आदिमें शक्त्यावेश है। कृष्ण साक्षात् भगवान्है, एवं समस्त शक्ति का आविष्कार उन में है, इन सव का प्रयोजन यह है—कि मर्य्यादा लङ्घनकारी मनुष्यों से व्याकुल मनुष्य लोक को रक्षा करने के लिए ही है।

युक्त्यन्तर के द्वारा कुछ विशेष कहते हैं ।

जीव ब्रह्मांश होने पर भी अपनी स्वतन्त्रता का दूरुपयोग के कारण आत्म स्वरूप को भूल जाताहै, एवं देह सम्वन्ध करलेताहै। मत्स्यादि अवतार कभी ऐसा नहीं करते। इस लिए ही जीव को उपदेश आदि के द्वारा नियमन परमात्मा लीला से करना पड़ता है। जीव स्वकर्म वश विभिन्न भोगायतन को पाता है, इस की विधि व्यवस्था परेश को ही करना होता है, मत्स्यादि अवतार इस प्रकार कर्मवश नहीं है, न तो उन सव को साधु असाधु कर्म के और प्रेरणा ही दी जाती है और तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति भी नहीं कहना पड़ता है, इस में दृष्टान्त इस प्रकार है। ज्योतिः पदार्थ नेत्र है, और वह सूर्य्यांश होने पर भी देह सम्वन्ध के कारण नाना प्रकार परेश अनुग्राह्य होता है, अर्थात् नेत्र की प्रवृत्ति निवृत्ति जैसे सुर्य्य की अपेक्षा से होती है, वैसे सूर्य्य के लिए नहीं है, वह स्वयं प्रकाश है, जीव और मत्स्यादि अवतारों का प्रभेद ठीक उसी प्रकार है।

यदि जीव मेरे स्वरूप को भूल कर मेरे से भिन्न हो जाता है, तव उस समय से ही उस को संसार हो जाता है, देह से देहान्तर प्राप्ति मृत्यु के वाद फिर से मृत्यु यह ही संसार का स्वरूपहै। यद्यपिभोग सम्पादनार्थ शरीरान्तर में ज्ञान होता है तथापि मनुष्य शरीर में विशेषता है, यह ज्ञान विज्ञान सम्भव है, अर्थात् ज्ञान शास्त्रोत्थ, एवं विज्ञान अपरोक्ष, इन दोनों मनुष्य शरीर में ही होते हैं ॥ यदि जीव मानुष देह में शास्त्र अध्ययन एवं अर्थ का अनुभव नहीं करता है, तव वह किसी भी अवस्था में कभी भी सुखी नहीं होगा ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ।२।३।४७

अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्
यया सम्मोहितोजीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतञ्चाभिपद्यते ॥
अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे ॥१।७।४–५–६

आभास एव च ।२।३।४८

विज्ञाप्य परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतः ॥६।१६।४६
एकं स्वयं ज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्य निरस्त कल्मषम्
ब्रह्माख्यमस्योद्भव नाशहेतुभिः
स्वशक्तिभि र्लक्षित भावनिर्वृतिम् ॥१०।७०।५

अदृष्टानियमात् ।२।३।४९

जीव अपूर्ण होने के कारण मत्स्यादि अवतार की समकक्षता कर नहीं सकते हैं। मत्स्यादि अवतार पूर्ण है एवं स्वरूप शक्तिमत् है।

ईश्वर एवं जीव स्वाभाविक ही भिन्नहै, ईश्वर पूर्ण है, उन पूर्ण पुरुष को देखा, जिन को आश्रय कर माया रहती है, जीव उसी माया से बद्ध हो जाता है। परेश की भक्ति से अज्ञान विदूरित होता है। मत्स्यादि अवतार स्वराट् है उन में मायावश्यता नहीं है, वे सब ही स्वामी है॥

पूर्वोक्त हेतु में दोष प्रदर्शन करते है—

अंशांशि होने के कारण मत्स्यादि अवतार के सह समता का स्थापक हेतु सद्हेतु नहीं है, आभास है, वह सत् प्रति पक्ष रूप हेत्वाभास है। वैषम्य बोधक हेतु की विद्यमानता सर्वत्र है। सूत्र में 'च' कार दृष्टान्त को सूचित करता है। द्रव्यत्वेन पृथिवी एवं आकाश का एक रूपेण साधन नहीं हो सकता है। नतो पदार्थत्वेन भाव एवं अभाव पदार्थ का एकरूप ही होगा, इस प्रकार मत्स्यादि अवतारों में असर्व शक्ति व्यञ्जकत्व है,, जीव में शक्ति का प्रकाश उपसर्ज्जन रूप है जीव शक्ति रूप अंश है।

परम गुरु के समक्ष कहना ही क्या है, खद्योत क्या सूर्य्य को प्रकाश कर सकता है॥

आप अद्वय स्वरूप है स्वयं ज्योति रूप हैं, नित्य निरस्त माया गुणक हैं, एवं इस विश्व की सृष्टि स्थिति पालन कर्त्ता हैं, एक आनन्द स्वरूप हैं ।

नूनं ह्यदृष्टं निष्ठोऽयमदृष्टपरमोजनः
अदृष्टमात्मन स्तत्त्वं यो वेत्ति स न मुह्यति ॥१०।६।३०

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ।२।३।५०

कर्म्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥१०।२४।१३

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।२।३।५१

क्षुद्राशा भूरि कर्माणो वालिशा वृद्धमानिनः ॥१०।२३।९

❋ तृतीयः पादः समाप्तः ❋

इस प्रकार प्रासङ्गिक प्रकरण समाप्त करने के वाद प्रकृत विषय का विचार करते हैं। काठकोपनिषद् में नित्योंका नित्य, चेतनों का चेतन, एक परमात्मा अनेकों को अभीप्सित फल प्रदान करते है। इस प्रकार वाक्य समूह हैं। वहाँपर नित्य चेतन रूप से प्रतीत अनेक जीव समान हैं अथवा असमान है? इस प्रकार के उत्तर में कहते हैं—वे सव समानहींहै, पूर्व सूत्र से न कार का अनुवर्त्तन हुआ है। कारण की जीव सवस्वरूपतः सम होने पर भी अदृष्ट के अनियम के हेतु जीव नाना प्रकार होते हैं, वह अदृष्ट अनादि है। जीव मात्र की स्थिति अदृष्ट में है, अदृष्ट स्वकृत कर्म को कहते हैं। सुख दुःख आदि भोग में अदृष्ट ही परम कारण है। इस प्रकार अदृष्ट को अव्यभिचारी कारण रूपसे जो जन जानताहै, वह वैषम्य जनित प्रतिकूलतासे उद्विग्न नहीं होता है।

द्वेषादिके द्वारा वैषम्य होता है, यह भी नहीं कहा जा सकताहै। क्योंकि अभिसन्धि आदि में भी अदृष्ट ही एकमात्र कारण है, इस लिए अदृष्ट को ही वैचित्र्य का कारण कहना ठीक है। द्वेषादि को कारण कहने पर भी मूलतः अदृष्ट ही कारण होगा च कार से प्रति क्षणं वैचित्र्य का भी समुच्चय होता॥

स्वर्ग भूमि आदि प्रदेष के विशेष से ही वैचित्र्य होना आवश्यक हैं? नहीं प्रदेश विशेषकी प्राप्ति भी अदृष्ट की अपेक्षा से होती है। स्वर्गादि लाभ भी अदृष्ट से ही होता है, तव अदृष्ट ही मूल कारण है। विशेष कर एक प्रदेश स्थित व्यक्ति में भी वैचित्र्य देखने में आता है॥ स्वर्गादि की कामना से गुरु तर कर्म करते हैं॥

इति श्रीमद् वेदव्यासकृतब्रह्मसूत्रभागवतभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

❋ तृतीयः पादः समाप्तः ❋

* अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः *

—:*:—

तथा प्राणाः ।२।४।१

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥२।१०।१५

गौरायसम्भवात् ।२।४।२

स वाच्य वाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्
नाम रूप क्रियाधत्ते स कर्म्माकर्म्मकः परः ।२।१०।३६

तृतीय पाद में भूत विषय श्रुति विरोध का परिहार हुआ है। सम्प्रति चतुर्थ प्राण विषय विरोध का परिहार करते हैं। प्राण गौण मुख्य दो प्रकार है, गौण- चक्षुरादि एकादश इन्द्रिय, मुख्य पञ्च प्राणहै, अब गौण की परीक्षा करते हैं, श्रुति कहती है, उनसे मनः प्राण सर्वेन्दिय की सृष्टि हुई है। यहाँपर संशयहै कि जीव की भांति इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है, अथवा आकाश आदि के समान ? सृष्टि के पहले असद् था वह प्राण रूप से था, इस प्रकाराश्रुति से सृष्टि के पहले प्राण शब्दित इन्द्रियों की स्थिति होने के कारण उन सव की उत्पत्ति जीव की भाँति माननी होगी। इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर उत्तर करते हैं, जैसे आकाशादि परमेश्वरसे उत्पन्न होतेहैं वैसे ही प्राण एवं इन्द्रियों की उत्पत्ति उन से ही है, सृष्टि के पहले एकत्व का ही अवधारण है। विशेष कर श्रुतियों में मनः सर्वेन्द्रिय की उत्पत्ति परेश से है, ऐसा उल्लेख है॥ जीव की भाँति इस सव की उत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं है। कारण जीव चेतन तथा षड् भाव विकार रहित हैं। कहींपर जीव की उत्पत्ति की जो वात है, वह गौणी है। इन्द्रिय प्राकृत होने के कारण मुख्य उत्पत्ति है। एवं ऋषि प्राण शब्दद्वारा ब्रह्मका ही वोध होताहै, क्योंकि वे दोनों शब्द सार्वज्ञ का वाचक है॥

पुरुष के अन्तःशरीर में जो आकाश है, उस से क्रियाशक्ति द्वारा चेष्टा होने पर परेश से ओजः इन्द्रियशक्ति, सह„ मनशक्ति, की सृष्टि हुई, अनन्तर क्रियाशक्त्यात्मक सूक्ष्म रूपसे प्राण की सृष्टि हुई वह सूत्राख्य महान् है, मुख्य असु, सव के लिए प्राण कहलाते हैं॥

वहुत्व श्रुति गौणीहै, कारण–स्वरूप नानात्व के अभाव से अनेक अर्थ होना सम्भव नहीं हैं। प्रकाश अभिप्राय से ही ब्रह्म में वहुत्व सम्भव है„ एक ही ब्रह्म वैदूर्य्यवद् अभिनेता नट की भाँति अनेक रूप से प्रतिभात होते हैं॥

तत् प्राक् श्रुतेश्च ।२।४।३

ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत् सृष्टमिदमात्मनः
सन्नियच्छति तत् काले घनानीक मिवानिलः
इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः ।२।१०।४३-४४

तत् पूर्वकत्वाद्वाचः ।२।४।४

असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः
स्वनिर्म्मितेषु निर्द्दिष्टो भुङ्क्ते भुतेषु तद्गुणान् ॥१।२।३३

सप्तगते र्विशेषितत्वाच्च ।२।४।५

स वै विश्वसृजां गर्भो देव कर्मात्मशक्तिमान्
बिवभाजात्मनात्मानमेकधा दशधात्रिधा ॥

'एकं सन्तं वहुधादृश्यमानं' "एक अनेक रूपाय" इति प्रकार श्रुति स्मृति का संवाद भी है।

वह भगवान् ब्रह्मरूप धारण कर वाच्य वाचक रूप से वाचक नाम समूह वाच्य रूप क्रिया समूह का सृजन करतेहैं। माया रूपा शक्ति से सकर्मक होते हैं, व्यापारवान् होते हैं, वस्तुतः अकर्मक हैं।

सृष्टि के प्राक्काल में कुछ वस्तु अविलीन अवस्था में रहते हैं। एवं उस से ही सृष्टि वहुत्व की उत्पत्ति है, इस प्रकार आशङ्का भी असङ्गत है। कारण--उस समय भी एकत्वावधारण ही श्रुत होता है, सुतरां उक्त श्रुति गौणी है॥

परमेश्वर स्वयं अपने से जो कुछ सृजन करते हैं, उस का संहार भी स्वयं ही करतेहैं, पवन जैसे मेघ को फैलाकर समेट भी लेताहै, वैसे परमेश्वर रुद्र रूप से आत्म सृष्ट का संहार करते है इस प्रकार सृजन की प्रक्रिया की कहीं गई हैं। श्रुति कहती हैं, सर्वशक्तिमत, स्वराट् परेश से आकाश उत्पन्न हुआ है, उन्होंने एक होकर भी वहु होने की इच्छा की है।

प्राण शब्द ब्रह्म पर ही है, इस में युक्ति दिखाते हैं। वाचः--वाणी सूक्ष्म शक्ति युक्त ब्रह्म से अन्य विषय का नाम अर्थात् प्रधान महदादि सृष्टि पूर्वक होने के कारण सृष्टि के पहले उन सव की पृथक् नाम रूप से स्थिति नहीं थी, अतएव प्राण शब्द से ब्रह्म को ही जानना होगा तद्धेदं तर्हीति श्रुति सृष्टि के पूर्व नाम रूप के अभाव को ही कहतीहै, अतएव इन्द्रिय समूह आकाश आदि

साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥३।६।७–६

हस्तादयस्तु स्थितेऽतोनैवम् ।२।४।६

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसन नासिकाः
वाक् करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥
मनो वुद्धिरहङ्कार श्चित्तमित्यन्तरात्मकम्
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्यालक्षण रूपया ॥३।२६।१२।१३

के समान उत्पन्न होते हैं ।

असौ हरि भूत सूक्ष्म इन्द्रिय समूह आत्मा मनः आदि को स्वयं ही निर्म्माण किए हैं, एवं तत्तद् अनुरूप विषय को भी आप कर्मानुरूप जीव को भोग कराते हैं ।

उक्त प्रकार इन्द्रिय विषयक श्रुति विरोध परिहार करके तद्गत संख्या का निरास करते हैं, मुण्डक में "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति" वृहदारण्यक में "दश में पुरुषे प्राण आत्मैकादश" उल्लेख है, सन्देह है, प्राण सप्त है, अथवा एकादश है ? उत्तर। प्राण सात ही है, क्योंकि जीव के साथ सञ्चार गति है, काठक में उक्त है, जव पञ्च प्राण ज्ञान एवं वुद्धि मन के साथ चेष्टा नहीं करते हैं, तव उस अवस्था को परमगति कही जाती है, श्रोत्रादि पञ्च इन्द्रियाँ एवं ,वुद्धि मन ये सात जीव की इन्द्रियाँ सूचित होती हैं। वाक् और पाणि आदि अपर पाँच का जीव के साथ गमन का अश्रवण के कारण ईषत् उपकार मात्र से ही उनकी इन्द्रियों के मध्य गिनती हुई है। किन्तु वह गौणी है।

वह प्रसिद्धदेव कर्मात्म शक्ति मान् हरि अपनी शक्ति कार्य रूप विराट् को सृजन किया। गर्भ कार्य रूप विराट्। देव शक्ति ज्ञान शक्ति इन से हृदयावच्छिन्न चैतन्य रूप को एक प्रकार निर्माण किया। कर्म शक्ति क्रिया शक्ति, इस सें दशधा दश प्रकार प्राण रूप से अपने को विभजन किया प्राणादि पञ्च नाग, कुर्म कुकर, देवदत्त, धनञ्जय ये पांच, इस प्रकार वृत्ति भेदसे दश प्रकार हुआ। आत्मशक्ति भोक्तृ शक्ति इस से अध्यात्मादि भेद से अपने को तिन प्रकार किया ।

साध्यात्म– अध्यात्म इन्द्रिय समूह उस के साथ विराट् को सृजन किया प्राण दशविध हृदय एकविध है ।

उक्त रूप पूर्व पक्ष के उत्तर में सिद्धान्त करते हैं, संशय निरसन के लिए

अणवश्च ।२।४।७

प्राणस्यहि क्रियाशक्तिः ॥३।२६।३१

प्राणेन्द्रियात्मधिष्णत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥३।२६।३४

मौनं सदासनजय स्थैर्य्यं प्राणजयः शनैः ॥३।२८।५

स्वधिष्णानामेक देशे मनसा प्राणधारणम् ।३।२८।३

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पुर कुम्भकरेचकैः ॥३।२८।६

श्रेष्ठश्च ।२।४।८

विशेष स्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।

तु शब्द है, हस्तादि सप्तातिरिक्त प्राण भी स्वीकरणोय है, जीव देह में उनसव का भोग साधन है, एवं पृथक् पृथक् कार्य भी है, अतएवप्राण सात ही है, इस प्रकार कहा नहीं जा सकता है। किन्तु पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय एक अन्तर इन्द्रिय इस प्रकार एकादश इन्द्रिय है। रूप रस स्पर्शशब्द गन्ध विषय भेद से पाँच ज्ञानेन्द्रिय है, पाँच कर्म के भेद से पाँच कर्मेन्द्रिय भी है, एवं सर्वार्थ विषय त्रिकालवर्त्ति अनेक वृत्तिशालि अन्तर इन्द्रिय एक प्रकार ही है, उस का नाम मन है„ यह मन संकल्प अध्यवसाय, अभिमान और चिन्तारूप कार्य भेद से कभी कभी भिन्न नाम से उक्त होता है, तव मन, वुद्धि अहंकार और चित्त नाम होता हैं, मन, संकल्पात्मक-वुद्धि अध्यवसायात्मक अहंकार अभिमानात्मक और चित्तचिन्तात्मक कार्यको करताहै, अतएव एकादश इन्द्रिय ही हं ।

श्रोत्र त्वग् दृक् रसना नासिका बाक् कर चरण--मेढ़पायु ये दश इन्द्रिय है। मन बुद्धि अहंकार चित्त अन्तर इन्द्रिय है, ज्ञान भेद से एक होकर भी चार प्रकार से उक्त होते हैं।

प्राणों का परिमाण निर्णय करते हैं, प्राण व्यापी है, अथवा अणु है ? दूरश्रवण अनुभव के कारण प्राण व्यापी है, इस के उत्तर में कहते हैं। प्राण अणु हैं। सूत्र में 'च' निश्चयार्थकहै। एकादश प्राण अणुहै, नियमन उत्क्रान्ति कार्य में प्राण नियुक्त होते हैं। गुण प्रकार के कारण दूर श्रवणादि है। जीव के समान सर्वाङ्ग में व्याप्ति है। इस से प्राणव्याप्ति वादि सांख्य मत निरस्त हुआ ॥

प्राण क्रिया शक्ति है, शनैः शनैं प्राण का निरोध करे। मूलाधारादि में प्राण का धारण करे। प्राणेन्द्रिय का आश्रय है आकाश। पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राण को शोधन करे ॥

यत्रेयं व्यज्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च यत् ॥२।१।२४
अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः
ओजः सहोवल जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥२।१०।१५

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।६

अन्त शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः
उजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥
अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्व जन्तुषु
अपानन्तमपानन्ति नरदेव मिवानुगाः ।
प्राणेनाक्षिपता क्षुत्तृड्न्तरा जायते विभोः
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥२।१०।१५-१७

अथैतस्मात् जायते प्राणः इस वचन से प्राणों की परीक्षा की जाती है, श्रेष्ठ प्राण आकाशादिवत् उत्पन्न होता है। इस विषय में प्रति पक्ष श्रुति है, 'नैष प्राण उदेति नास्तमेति' प्राण का उदय एवं अस्त नहीं होता है।

जिस की प्राप्ति ही उत्पत्ति है, एवं जिस का परित्याग ही मरण है, उस प्राण उस प्राणकी उत्पत्ति एवं मरण भी सम्भव नहीं है, अतएव प्राण जीव की भाँति नित्य है, ऐसा पूर्व पक्ष होने के वाद उत्तर में कहते हैं—मुख्य प्राण भी आकाशादि की भाँति उत्पन्न होता है, 'जायते प्राणः यह श्रुति वाक्य ही प्रमाण है, उन्होंने समस्त पदार्थ का सृजन कियाहै। अनुत्पत्ति भी आपेक्षि की है॥ देह स्थिति के कारण ही प्राण का श्रेष्ठत्व कहागया है।

श्रीहरि के विराट् देश सर्वादि है, जहाँपर भूत भव्य भवत् सत् विश्व सर्वदा प्रतिभात होता है परमात्मा की चेष्टा से क्रिया होती है, एवं उजः सह बल, प्राण प्रभृति की उत्पत्ति हुई हैं॥

अनन्तर प्राण स्वरूप का विश्लेषण करते हैं—वह प्राण क्या वायु है, अथवा क्रिया है, किम्वा देशान्तर गत वायु है, इस प्रकार विकल्प कर कहते हैं, वह योऽयं प्राणः स वायुः॥ रस वचन से वाह्य वायु रूपी ही है, अथवा वायु क्रिया भी ही सकती है। क्योंकि वायु मात्र में ही उस की प्रसिद्धि है। इस पूर्व पक्ष का उत्तर में कहते हैं—पृथक् उपदेश के कारण श्रेष्ठ प्राण वायु अथवा उसकी क्रिया रूप नहीं हैं, प्राण की वायु से पृथक् उत्पत्ति कही गई है, एक रूप होने से ऐसा नहीं होता। स्पन्दन रूप होने पर भी वैसी उक्ति नहीं होती।

चक्षुरादिवत्तु तत् सह शिष्ट्यादिभ्यः।२।४।१०

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणोहि जीव मुपधावति तत्र तत्र ॥
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमिच प्रसुप्ते
कूटस्थ आश्रयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥११।३।३६

कहीं कहीं पर "योऽयं प्राणः स वायुः" इस प्रकार लेख है, इस प्राण वायु के समान है, किन्तु वायु से कुछ ही विशेष है, किन्तु ज्योति आदि के समान तत्त्वान्तर नहीं है, इस प्रकार वोधके लिए ही युक्त कथन है। ',प्राणादिक पञ्च वायु सामान्य करण वृत्ति रूप हैं, और प्राण सकल इन्द्रियों का व्यापार है," इस प्रकार सांख्यमत युक्ति युक्त नहीं है। प्राण कभी विजातीय इन्द्रियों का व्यापार नरीं हो सकता है ।

पुरुष की चेष्टासे अन्तः शरीर रूपी आकाशमें क्रिया हुई, उससे ओजः सह वल की उत्पत्ति हुई, अनन्तर क्रिया शक्ति रूप सूक्ष्म तत्त्व से प्राणः सूत्राख्य महान् एवं समस्त जीवों का मुख्य असु प्राण का आविर्भाव हुआ– उस की महानता को कहते हैं, जिस की क्रिया के वाद ही इन्द्रियों में क्रिया होती है, एवं चेष्टा को छोड़ने पर सव ही चेष्टा छोड़ देते हैं। क्षुधा पिपासा आदि भी उस प्राण से होती है।

वाग् आदि इन्द्रिय सुप्त होने पर एक प्राण ही जागता रहता है, एक प्राण ही मृत्य से रहित है, माता जैसे पुत्र की रक्षा करती है, वैसे प्राण अपर प्राण की रक्षा करती है, ये सव वृहदारण्यक उपनिषत् का संवाद हैं। यहाँपर संशय है, मुख्य प्राण जीव ही देह में स्वतन्त्र रूपसे रहता है, अथवा जीव का करण प्राण वह विभूति प्राण को है इस से प्राण ही देश में स्वतन्त्र रूप से रहता है। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं, चक्षुरादि के समान प्राण भी जीव का अनुरूप शासन में रहता है, प्राण जीवका करण है, सूत्र में 'तु' शब्द शङ्काच्छेद के लिए दिया गया है। चक्षुरादि जैसे करण है, प्राण भी वैसे करण है, क्योंकि समान धर्म वाले को ही एक साथ अनुशासन किया जाता है, जैसे वृहद्रथन्तरादि में देखा जाता है, आदि शब्द द्वारा प्राण शब्द से कथित याव तीय इन्द्रियों से प्राण को विशेष रूप से कथन हुआ हैं, संहत होकर स्वतन्त्र हो सकते हैं इन्द्रिय गण, इस प्रकार शंका भी इस से विदूरित हुई।

इन्द्रियादि लय होनेपर भी निर्विकार आत्मोपलब्धि होती है। अण्डज जरायुज उद्भिज्ज स्वेदज आदियों में एक मात्र जीव ही जागरित रहता है।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ।२।४।११

प्राणस्यहि क्रियाशक्ति र्बुद्धे विज्ञानशक्तिता ।३।२६।३१

पञ्चवृत्ति र्मनोवद् व्यपदिश्यते ।२।४।१२

स वै विश्वसृजां गर्भो देव कर्मात्मशक्तिमान्
विवभाजात्मनात्मानमेकधा दशधा त्रिधा ।
साध्यात्मः साधिदेवश्च साधिभूत इति त्रिधा
विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥३।६।७–९

वह स्वप्न में संस्कारवान् अहंकार प्रसुप्त होता है, इन्द्रियगण भी विषय ग्रहण में विरत हो जाते हैं, अहङ्कार लीन होने पर कूटस्थ निर्विकार आत्मा ही स्वतन्त्र रूपसेजाग्रत रहताहै। शून्यमे पर्यवसान नहीं होताहै, । क्योंकि सुषुप्ति साक्षी रहने के कारण ही अनुस्मृति होती है ॥

प्राण को भी चक्षु आदि की भाँति जीव का उपकरण माननेपर उन सब के समान प्राण को जीवोपकार क्रिया स्वीकार करना होगा, किन्तु उस प्रकार क्रिया देखी नहीं जाती, जिस से द्वादश प्राण चक्षुरादि के समान हो। इस प्रकार कथन का समाधान करते हैं अकरण के कारण दोष नहीं हैं। आक्षेप निरास के लिए 'च' शब्द दिया गया है, करण क्रिया है। जीवोप कारक क्रिया का अभाव होने पर जो दोष आता है, वह दोष सम्भव नहीं है, कारण--प्राण का शरीर इन्द्रियादि धारण लक्षण परम उपकारकत्व देखने में आता है, छान्दोग्य श्रुति में भी इस प्रकार कथन मिलता है, "अथ ह प्राणाः अहं श्रेयसे व्यूदिरे" इस लिए जोवोप करण ही मुख्य प्राण है। जीव का कर्त्तृत्व भोक्तृत्व भी है। चक्षु आदि इन्द्रियगण राजपुरुष का समान जीवका करण मात्र है, प्राण राज मन्त्री के समान सर्वार्थ साधक होकर मुख्य उपकरण होता है। अतएव प्राण जीवाधीन है ॥

प्राण क्रियाशक्ति है, और बुद्धि विज्ञान शक्ति है ॥

जो प्राण वायु रूप में प्रसिद्ध है, वह वायु पञ्चविध प्राण अपान व्यान उदान समान नाम से कहेजाते हैं। यह सब वायु मुख्य प्राण वायु से भिन्न है, अथवा उस की ही वृत्ति है, इस प्रकार जिज्ञासा होने पर कहतेहैं। प्राणादि पाँच वायु मुख्य प्राण की वृत्ति है, प्राण एक है, हृदयादि स्थान में वर्त्तमान होकर भिन्न भिन्न कार्य सम्पादन करने के कारण पञ्च वृत्ति होती है, कार्यभेद से ही नाम भेद है। स्वरूप भेद नहीं है, पञ्च में प्राण शब्द का प्रयोग होता है मन भी उसी प्रकार विभिन्नकार्य सम्पादन करता है, एवं अनेक प्रकार नाम

अणुश्च ।२।४।१३

यावद्देहेन्द्रिय प्राणै रात्मनः सन्निकर्षणम्
संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥११।२८।१२
अमूलमेतद्बहुरूप रूपितं मनः वचः प्राणशरीरकर्म
ज्ञानासिनोपासनया शितेन छित्त्वा
मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ११।२८।१७

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।२।४।१४

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणस्त्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥४।९।६

सेख्यात होता है।

विश्वस्रष्टा श्रीहरिने जगत् रूप में अपने को प्रकाश किया, एवं अपने को एक दश एवं तीन रूप से विभजन भी किया, कर्म शक्ति क्रिया शक्ति इस से दशधा दश प्रकार प्राण रूप में अपनेको प्रकट किया, पञ्च प्राण, नाग कूर्म, कृकर देवदत्त धनञ्जय वृत्ति भेद से एक प्राण ही दश प्रकार हुआ।

श्रेष्ठ प्राण विभुहै अथवा अणु ? इस जिज्ञासामें सम एभिस्त्रिभिर्लोकै,' इस श्रुति से प्राण का विभुत्व सिद्ध होने पर समाधान करते हैं-श्रेष्ठ प्राण अणु है, कारण उत्क्रान्ति श्रुति से यह सिद्ध होता है, व्याप्ति श्रुति समस्त प्राणियों की स्थिति प्राणाधीन है, इस उद्देश्य से कही गई है।

जब देहेन्द्रिय प्राण आदि के साथ आत्मा का सम्वन्ध स्थापित होता है, तब ही संसार का निर्म्माण होता है, यह अविवेक कृत है, कारण असङ्गी का भी अविवेक से ही सम्वन्ध होता हैं, स्वप्रकाश का भी अज्ञान कृत संसार कैसे सम्भव हो ? उत्तर मिथ्या होने पर भी केवल फल रूप से प्रतीति होती है, तत्त्व से यह स्थिर नहीं है।

ये सब वन्ध अहङ्कार कृत है, ज्ञान से नष्ट हो जाता है, इस प्रकार अज्ञान निवृत्ति होने पर ही मुक्ति होती है, यह अज्ञान अमूलक होनेपर भी मनुष्य देव आदि शरीर इस से सृष्ट होते हैं, मन वाणी प्राण आदि से शरीर में अहंङ्कार होता रहता है, गुरु उपासना रूप तीक्ष्ण खड़्ग से अहंङ्कार को छेदन कर मुक्ति को प्राप्त करें॥

एकस्त्वमेव भगवन्निद मात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥४।६।७

प्राणवता शब्दात् ।२।४।१५

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रामात्मानमन्यञ्च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञ मनन्त मीड़े ।६।४।२५

वाग् आदि इन्द्रिय सुप्त होने पर प्राण ही जाग्रत रहता है । इस विवरण से मुख्य प्राण की प्रवृत्ति सुनी जाती है, अपरापर इन्द्रियगण का प्रवर्त्तक भी प्राण ही है, प्रेरकता के विषय में संशय है कि देवगण जीव अथवा परमेश्वर प्राण का प्रेरक है ? अग्नि र्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् इस श्रुति से देवगण को ही इसका प्रेरक मानना होगा । जीवका भोग साधन होने के कारण जीव को भी प्रेरक कहना ठीक है । इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं ।।

ज्योतिर्म्मय ब्रह्म ही उन सव का आद्य अधिष्ठान एवं प्रवर्त्तक है, कारण अन्तर्य्यामी ब्राह्मण में ब्रह्मको ही प्रवर्त्तक रूप से कहा गया है । वृहदारण्यक में कथित है " यः प्राणेषु तिष्ठन् " इस देवगण एवं जीव भी प्राण का प्रेरक है, किन्तु इन सव की प्रेरकता ब्रह्माधीन है !

जो मेरी प्रसुप्त वाणी को एवं अपरापर प्राण एवं इन्द्रिय वर्ग को चिच्छक्ति के द्वारा संजीवित करतेहैं, एवं अखिल चक्षुरादि ज्ञान क्रिया शक्ति को भी धारण कर विलास करते हैं उन अन्तर्यामी को मैं प्रणाम करता हूँ ।

वागादि इन्द्रियों का प्रेषक वह्न्यादि प्रसिद्ध है ? नहीं पुरुष अन्तर्य्यामी तुम एक ही हो, अग्नि जैसै काष्ठ में अनेक प्रकार से प्रतिभात होती है , वैसे आप भी निज माया सृष्ट में अनुप्रवेश कर देवता आदि अनेक प्रेरक रूप से प्रतिभात होते हैं ।।

जीव भोग के उन सव को ग्रहण करता है । इसका विवरण देते हैं-- प्राण विशिष्ट जीव भोग के लिए प्राण एवं इन्द्रिय समूह को ग्रहण करता है, इस प्रकार कैसे सम्भव हो ? कहतेहैं, शब्दात् । सः यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथा कामं परिवर्त्तते, एवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथा कामं परिवर्त्तते " इस श्रुति से उक्त अर्थ प्राप्त होता है ।। यहाँपर जानने की वात इस प्रकार है। परमात्मा अधिष्ठित देवगण एवं जीव समूह इन्द्रियों का आधिपत्य करते हैं ।। देवतागण प्रवर्त्तक हैं, और जीव भोक्ता

तस्य च नित्यत्वात् ।२।४।१६

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिल शक्तिधरः स्वधाम्ना
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ।।४।९।६

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।२।४।१७

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्व जन्तुषु
अपानन्तमपानन्ति नरदेव मिवानुगः ।२।१०।१६

है, इस प्रकार विधान सत्य संकल्प परमात्माका होता है,

गुण समूह जड होने के कारण समस्त वस्तु को अवलोकन नहीं कर सकते, जीव भी स्वयं कुछ भी नहीं जानसकता, परमात्मा सवकुछ जानते हैं, देह प्राण इन्द्रिय अन्तः करण, भूत समूह तन्मात्र समूह स्वस्वरूप दृश्य अन्य इन्द्रिय वर्ग इस से अतिरिक्त देवता वर्ग को भी नहीं जानते हैं, पुमान् जीव„ यह तीनों को और इसके मूल भूत गुणोंको जानते हैं। ये सव के ज्ञाता होने पर भी सर्वज्ञ को नहीं जानता है, उन अनन्त की मैं श्रुति करता हूँ ।।

उक्त क्रम का कभी भी व्यभिचार नहीं होता हैं। इस को कहते हैं। सर्वकर्त्ता परमात्मा स्वीय स्वरूप शक्ति द्वारा निखिल कार्य सदा निर्वाह करते हैं, शक्ति नित्य है, एवं संकल्प भी नित्य है। परमात्माका ही अधिष्ठान मुख्य, है, यह अन्तर्यामी ब्राह्मण कहते हैं ।।

जो प्रसुप्त मेरी वाणी को एवं अन्य प्राण इन्द्रिय समूह को चिच्छक्ति द्वारा सञ्जीवित करते हैं, एवं अखिल चक्षु आदि ज्ञान क्रिया शक्ति को भी धारण करते है, उन अन्तर्यामी पुरुष को में प्रणाम करता हूँ ।।

अनन्त पूर्वोक्त विषय में विचारान्तर प्रदर्शन करते हैं। प्राण शब्द से कथित निखिल इन्द्रिय ही है, अथवा श्रेष्ठ शब्द से इतर प्राण समूह का वोध होता है ? उत्तर देते हैं--प्राण शब्दसे कथित होने से जीवोपकारकता इन्द्रियों की हैं, इस कथन का समाधान करते हैं। प्राण शब्द से कथित इन्द्रिय गण हैं, किन्तु वे सव गौण है, क्योंकि श्रेष्ठ शब्द से प्राण को ग्रहण करना आवश्यक है। प्राणो मुख्यः सतु अनिन्द्रियम् इस प्रकार श्रुति का कथन भी है ।।

जिसके अधीन समस्त इन्द्रिय स्वस्व कार्य में रत होते हैं, नरदेव के समान वह प्राण सव के राजा है, और सव उस का अनुगत है।

भेदश्रुतेः ।२।४।१८

अन्तः शरीर आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः
ओजः सहो वलं जज्ञे ततः प्राणोमहानसुः ॥२।१०।१५

वैलक्षण्याच्च ।२।४।१९

अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु
अपानन्तमपानन्ति नरदेव मिवानुगः ।२।१०।१६

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत् कुर्वत उपदेशात् ।२।४।२०

देवात् क्षुभित धर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः प्रमान्
आधत्त वीर्य्यं सासूतमहत्तत्त्वं हिरण्मयम्
विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः
स्वतेजसापिवत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥३।२६।१९।२०

वृहदारण्यक में उक्त है कि "हन्तास्यैव सर्वरूपमसाम इस वाक्य से मुख्य प्राण की अवधारणा होती है, तव कैसे कहा जा सकता है उस में भी भेद है इस के उत्तर देते हैं, 'प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस श्रुति से प्राण से अपर इन्द्रियों का भेद वर्णन किया गया है। अतएव अपर इन्द्रिय सकल तत्त्वान्तरहै भेद श्रुतिसे मन को अतीन्द्रिय भी नहीं कहाजा सकता है, 'मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि--इन्द्रियानां मनश्चास्मि इनसव श्रुति से स्पष्टत ही मनका इन्द्रियत्व रूपायित होता है।

परम पुरुष की संकल्प रूपी चेष्ठा से ओजः सहः वल,, प्राण महत्तत्त्व प्रभृति समस्त इन्द्रियों की सृष्टि हुई ॥

सुषुप्ति में प्राण की वृत्ति रहती है, अपर इन्द्रियों की नहीं, प्राण देहेन्द्रिय को धारण करता है, अपर इन्द्रिय ज्ञान कर्म साधन करती है, अतएव स्वरूपत एवं कार्य्यत दोनों में महदन्तर है,, प्राणाधीन वृत्ति होने के कारण ही उन सवको प्राण रूप से कहा जाता है, जैसे जीव की ब्रह्मरूपता है ॥

जिस के अधीन सर्वेन्द्रिय हैं, एक सम्राट् की भाँति प्राण है, और इस के अनुगत होकर सव चलते रहते हैं ॥

भूतेन्द्रियादि समष्टि सृष्टि एवं जीवका कर्त्तृत्व भी परमेश्वर के अधीन है, सम्प्रति व्यष्टि सृष्टि किस से होतो है, इस का विवरण प्रस्तुतकर रहे हैं। 'सेयं देवतैक्षतः हन्ताह मिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मना अनुविश्य

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२।४।२१

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः
तन्मात्राणि तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ।।३।२६।१२

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२।४।२२

नामरूपे व्याकरोत तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत। यह नामरूपव्याक्रिया जीव कर्त्तृकात: इस स्थल में नाम रूप व्याक्रिया जीव कर्त्तृक है अथवा परमेश्वर द्वारा है, अनेन जीवेन प्रविश्य व्याकरवाणीति वाक्य द्वारा उक्त कर्त्तृत्व जीव में हैं, इस शङ्काका निरसन करनेके लिए कहते हैं, त्रिवृत कर्त्ता परमेश्वर के ही संज्ञा मूर्त्ति कर्त्तत्व उपदेश होने के कारण उक्त पूर्व पक्ष अयुक्त है, तु शब्द आक्षेप की व्यावृत्ति के लिए है, क्योंकि उपदेशं ही प्रमाण है, नाम एवं रूप की सृष्टि परमेश्वर करते हैं, जीव नहीं करते हैं, क्योंकि उक्त विषय में सर्वत्र परमेश्वर का ही कथन हुआ है, । त्रिवृत् करण एवं नाम रूप से समस्त प्रकट करना एक कर्त्तृत्व रूप में कहा गया है, पञ्चीकरण इस कारण में त्रिवृत् करने का संवाद है, त्रिवृत् करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है।

तत्त्वों की उत्पत्ति का विवरण कहते हैं। जीव अदृष्ट के कारण प्रकृति में ईश्वर की संकल्प से प्रकृति में क्रिया होती है, अभिव्यक्ति स्थान प्रकृति में चिच्छक्ति का आधान करते हैं। पृथक् पृथक् रूप से तत्त्वों का प्रकटन होता है।। वह प्रकृति से महत् तत्त्व हुआ। महत् तत्त्व प्रकाश वहुलतत्त्व है। प्रलय काल में तत्त्व समूह परमात्मा में सूक्ष्म रूप में स्थित होते हैं, प्रलय कालीन तमः को निज शक्ति से अपसारित करते हैं, यह तम सर्व आच्छादक है। अनन्तर त्रिवृत्करण द्वारा स्थूल भूतों का निर्माण करते हैं।।

अनन्तर मूर्त्ति शब्द से उल्लिखित देह का मीमांसा करते हैं, शरीरं पृथिवीमप्येति इस श्रुति से देह का पार्थिवत्त्व, अद्भ्यो ह्रीदमुत् पद्यते इत्यादि श्रुति से जलीयत्व और अग्नेर्देवयोन्याः इत्यादि श्रुतिसे उसका तैजसत्व अनुमित होता है, उक्त विषय में संशय है कि—देह पार्थिव है अथवा जलीय, तैजस है, किम्वा त्र्यात्मक है, इस प्रकार अनिर्णय में निर्णय स्थापन करने के लिए कहते है मांसादि भोम है, तथा इतर जल एवं तेज भी यथाक्रम से जलीय एवं तैजस है, शब्द द्वारा प्राप्त है। शब्द इस प्रकार है—जो कठिन है वह पृथिवी है, और जो तरल है वह जलीय है, जो उष्ण है वह तैजस है, यह गर्भोपनिषत् का प्रकरण है, तथा च सु, आप, व्यग्नि, वायु, एवं नमः। एवं तन्मात्र भी गन्धादि पाँच ही हैं। स्थूल भूत त्रिवृद् करण, पञ्चीकरण से होते हैं।

रसमात्राद् विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात्
गन्धमात्रमभूत् तस्मात् पृथ्वी घ्राणन्तु गन्धगः ३।२६।४४
तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भो गुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य घ्राणः स उच्यते ॥३।२६।४८

*** इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ***

—*—

**** अथ तृतीयोऽध्यायस्य प्रथमपादः ****

—**—

तदनन्तर रहंति प्रतिपत्तौ सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः
तन्निरोधोऽस्य मरण माविर्भावस्तु सम्भवः ॥३।३१।४४

निखिल भूत भौतिक वस्तु त्रिरूप होने पर तैजस,, जलीय, पार्थिव देह का विभाग कैसे सम्भव होगा ? इस संशय का निरास करने के लिए कहते हैं, अंश का आधिक्य हेतु पृथक् पृथक् नाम होता है । तु शब्द, शङ्का निरास के लिए है, पदाभ्यास अध्ययपूर्त्ति के लिए है ।

परमात्मा की प्रेरणासे जल में क्रिया होने पर रसतन्मात्र हुआ है ॥

जिस में विशेष कर तेजोगुणहै, उस को चक्षु कहते हैं, विशेष कर जल का गुण जिससे प्रतीत हैं ॥ उस को रसना कही जाती है जिस में भूमि का गुण विशेष ख्यात है, उस को घ्राण–पृथिवी कहते हैं । इस प्रकार अविशेष होने पर भी विशेष अंश प्राधान्य से ही पृथ्वी आदि विशेष नाम होता हैं ॥

इति श्रीमद् ब्रह्मसूत्राणां भागवतभाष्ये
द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

*** इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ***

——*——

पूर्वोक्त अध्यायों में विश्व के हेतु निर्दोष गुणरत्नाकर सच्चिदा नन्दात्मक पुरुषोत्तम ही मुमुक्षुओं के ध्येय हैं । निखिल वेदान्त इसी को प्रति

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥३।३१।४३

पादन किए है, साथ ही समस्त विरूद्ध वचनों का परिहार पूर्वक ब्रह्मस्वरूप निरूपण किया गया है। प्रस्तुत तृतीय अध्याय में ब्रह्म प्राप्ति का साधन समूह निरूपित होगा उन साधनों में प्राप्येतर वैतृष्ण्य एवं प्राप्य बिषय में सतृष्ण ही मुख्य साधन है। इन दोनों के साधन हेतु पूर्वपाद द्वय आरम्भ है। प्रथम पाद में लोक विरागके लिए पञ्चाग्नि विद्याको अवलम्बन कर नानावस्थ जीव की लोक प्राप्ति द्वारा गतिरूप दोष का प्रदर्शन है। द्वितीय में प्राप्य के प्रति अनुराग के हेतु उनकी महिमादिगुणों का कथन हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कथित है अरुणके पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चाल सभामें उपस्थित हुए, "इस वाक्य से पञ्चाग्नि विषया का कथन हुआ है। जीव परलोक गमन करता है, पुनर्वार वहां से इस लोक में आगमन करता है, इस प्रकार प्रश्न केउत्तर में कहते हैं। प्रश्न एवं उत्तर से सूक्ष्म भूत के साथ देहान्तर प्राप्तिकी प्रतीति होतीहै, प्रथम मूर्त्ति शब्द के प्रक्रम हेतु तन् शब्द से देह का ही परामर्श है, देह से देहान्तर प्राप्ति में सूक्ष्म भूत के साथ ही गमन प्रतीत होता है, कारण " वेत्थ यथा " इत्यादि प्रश्न और असौ वाव " इत्यादि प्रकारसे उसका उत्तर ही उक्तविषय में प्रमाण हैं। छान्दोग्य की आख्यायिका इस प्रकार है, प्रवाहण नामक पाञ्चालाधिपति ने समीपगत श्वेतकेतु से पाँच विषयों में प्रश्न किया। १' कर्मियों का गन्तव्य देह, पुनरावृत्ति का प्रकार, इस लोक को जो प्राप्त नहीं होता हैं, देव यान तथा पितृयान का भेद और पञ्चाग्नि में आहूति जल की पुरुष देह प्राप्ति का प्रकार। श्वेतकेतुने इन पाँच प्रश्नोंका अर्थ अवगत न होने के कारण पिता के समक्ष में आकर खेद प्रकट किया। पिता भी इन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए प्रवाहणके समीप गए॥ प्रवाहण उनकी यथायथ पूजा कर के वित्त--दानाभिलाषी हुए। किन्तु ऋषि ने प्रवाहणसे उक्त पाँच प्रश्न के उत्तर की प्रार्थना की। प्रवाहण ने कहा–हे गौतम, इस संसारमें स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष, एवं स्त्री ये पाँच अग्नि है, श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अग्नि अन्न और वीर्य्य, ये पाँच उन पञ्चाग्नि की आहूतियाँ हैं॥ देवगण होता है, भूत–सूक्ष्म वेष्टित जीव का स्वर्गलाभ के लिए देवताओं से प्रक्षेप होम है। मृत जीब के इन्द्रिय वर्ग देवता है। वे स्वर्ग लोकाग्नि में श्रद्धा को होम देतेहैं। यह श्रद्धा ही स्वर्ग भोग के योग्य सोमराज नामक दिव्य देह रूप में परिणत होता है। वह देह फिर भोगान्त के वाद पर्ज्जन्य-अग्नि में हूत होकर वर्षा रूप होती है। वर्षा भी फिर पृथिवी रूप अग्नि में हूत होकर अन्नरूप में परिणत होती है। वह

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२

रूपमात्राद् विकुर्वाणात् तेजसो दैवचोदितात्
रस मात्रमभूत् तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥३।२६।४१
आप पुरुष वीर्य्याःस्थ पुनन्तो भूंर्भू वः स्वरः ॥५।२०।२३

प्राण गतेश्च ।३।१।३

पार्ष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरः कण्ठमूर्द्धसु
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्मनीत्वोत्सृजेत् तनुम् ॥११।१५।२४

अन्न पुरुष रूप अग्नि में हूत होकर रेत रूप धारण करताहै। वह रेत फिर योषित रूप अग्नि में हूत होकर गर्भ हो जाताहै, इस पञ्चाग्नि में हूत जल की पुरुषाकार प्राप्तिहै, यहाँ जिन सव जलों के साथ जीव स्वर्ग लोक में गमन करता है, वे मव जल ही पूर्वोक्त रीति से स्त्री गर्भ में प्रविष्ट होकर पुरुषाकार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रतीतिसे सकल जीव सूक्ष्म भूत के साथ गमन करते हैं।

जीव की जन्म मरण अवस्था को कहते हैं, जीव जीवोपाधिर्लिङ्ग देह रूप वस्तु का अनुवर्त्तन करता है। भूतेन्द्रिय मनोमय--भूतादि विकार देह भोगायतन, इन दोनों का निरोध कार्य्यायोग्यता ही मरण है, आविर्भाव का नाम ही सम्भव जन्म हैं, उक्त जीव लिङ्ग देह द्वारा लोकान्तर प्राप्ति के लिए निरन्तर कार्य करता रहता हैं, कर्म की समाप्ति नहीं है।

"आपः पुरुषवर्चसः" इस श्रुति वाक्य से केवल जल ही पुरुषाकार प्राप्त होता है, तव निखिल जीव सूक्ष्मभूत लिङ्ग देह के साथ गमन करते हैं-- यह कथन कैसे संगत हो सकता है? इस के उत्तर में कहते हैं जल का भूत त्रयात्मकत्व भी वहुलत्व हेतु संगत हो रहा हैं, तु शब्द शंका निवृत्ति के लिए है, भूतत्रयात्मकत्व हेतु त्रिवृत् कृत जल के ही गमन से तीनों का गमन भी सिद्ध होताहै,, शुक्र शोणित रूप शरीरारम्भक वीर्य्यमें द्रव पदार्थके आधिक्य के कारण जल को ही वाहुल्य के कारण अप शब्द से कहा गया है, स्मृति में भी उक्त है, ताप निवर्त्तन एवं सव से आधिक्य ये दोनों जल की वृत्ति है, अत एव आधिक्य के कारण जल के नाम से व्यवहार होता है।

ईश्वर प्रेरणा से तेज पदार्थ में क्रिया हुई, उस से जल तत्त्व की सृष्टि हुई। पुरुष की संकल्प सृष्टि से उत्पन्न जल भूर्लोक, भूवर्लोक एवं स्वर्ग लोक की पवित्र करता है॥

देहान्तर प्राप्ति के लिए प्राणों की गति सुनी जाती है, वृहदारण्यक में

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्नभाक्तत्वात् ।३।१।४

एवं स वीर प्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि
ब्रह्म भूतो दृढ़ काले तत्याज स्वंकलेवरम् ।४।२३।१३
उत्सर्पयंस्तु तंमूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः ।
वायु वायौ क्षितौ काय तेजस्ययूयुजत् ।४।२३।१५

प्रथमेऽश्रवणादितिचेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।३।१।५

प्राजापत्यं निरुप्येष्टिमग्निनपिवदीश्वरः ।।१।१५।३९

कथित है, तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्ति प्राणमनूत् क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत् क्रामन्ति " जीव के साथ प्राण, और प्राण के साथ समस्त प्राण उत् क्रमण करते हैं। यह उत् क्रमण निराश्रय नहीं है, अतएव उत् क्रमण शील प्राण के आश्रयभुत अपरापर भूतों की गति भी स्वीकार्य है।

स्वच्छन्द मृत्यु का प्रकार कहते हैं, पार्ष्णि के (एड़ी द्वारा) द्वारा मल निःसरण द्वार को निरोध कर प्राणोपाधि युक्त आत्मा को ब्रह्म रन्ध्र से निकाल देवे।

श्रुति में अग्नि आदि की गति भी कहीगईहै, अतएव निखिल भूतों की गति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह सब श्रुतियाँ गौण है। मृत्य काल में वाक्य अग्नि, में, प्राण वायु में चक्षु सूर्य्यमें मन चन्द्रमा में कर्ण दिक् में शरीर पृथिवी में आत्मा आकाश में लोम औषधिक में और केश वनस्पति में और तीर्थ जल में कण्ठ लीन होता है। यह श्रुति गौणीहै, लोम सकल का औषधि में और केशों का वनस्पति में गमन विरुद्ध हैं। अग्न्यादि में गमन का वोधक अर्थ गौण है। क्योंकि सह पाठके कारण अन्यार्थ का वोध होताहै। लोमादि शरीर से गिर कर औषधि आदि में गमन करते हैं। ऐसा सम्भव नहीं है, वे चेतन नहीं है। अतएव मरण काल में वागादि की निवृत्ति ही श्रुति का तात् पर्य है, गति ही उसका मुख्यार्थ है।।

पृथु महाराज ने शरीर को छोड़ा, प्राण वायु को उठाकर क्रम से ब्रह्म रन्ध्र में स्थापन किया। अनन्तर देहारम्भक पञ्चभूत को समष्टि भूत महा भूत में विलीन किया।। वायु को वायु में शरीर को पृथ्वी में तेज को तेज में एकीकरण करदिया।

प्रथम आहूति में जल का श्रवण न होने से जलादि भूतों के साथ जीवका गमन असम्भवहै। प्रथम अग्निमें ही आहूति सुनी गई है। वहाँपर श्रद्धा को ही आहूति कही गई है। तस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति " इस

अश्रुतत्वादिति चेन्न इष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।३।१।६

यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः ॥३।३२।२

तत् श्रद्धयाक्रान्तमतिपितृदेवव्रतः पुमान्

गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपा पुनरेष्यति ॥३।३२।३

भाक्तं वाऽनात्मवित्वात् तथाहि दर्शयति ।३।१।७

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवोजनार्दनः

आहु धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥४।२६।४८

तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन्

उपर्य्यधो वा मध्ये वा यात दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥४।२६।३१

प्रकार वे सव मनोवृत्ति रूप होनेके कारण उन सव का जलत्व सम्भव नहीं है।

पञ्चालाधिपति के वाक्यमें प्रथम पञ्चाग्नि में जलरूप होमका कथन हैं, उत्तर वाक्य में अग्नि में श्रद्धा का ही होम रूप कहा गया है, श्रद्धा कार्य जल श्रद्धा का ही अनुरूप है। अतएव श्रद्धा शब्दसे यहाँ जल ही स्वीकार्य है। श्रुति श्रद्धा ही जल है, ऐसा कहा गयाहै। अतएव जल के साथ सङ्गत होकर जीव उत्क्रमण करता है।

ईश्वर समर्थ महाराज युधिष्टिर ने महाप्रस्थान काल में प्राजापत्य यज्ञकर समस्त परित्याग किया ॥

श्रुति प्रमाण से जल का गमन सम्भवहै, किन्तु श्रुति प्रमाण के अभाव से जल के साथ जीव का गमन कहता ठीक नहींहै। इस पुर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

श्रुति प्रामाण्य का असद् भाव असिद्धहै, इष्ट प्रभृति कर्मके अनुष्टाताओं की उस प्रकार प्रतीति होती है, अतएव श्रुति प्रमाण नहीं है, ऐसा वोलना ठीक नहीं है॥ छान्दोग्यमें इष्टादि कर्म कारी जीवकी चन्द्रलोक गति कही गई है। जो इष्टा पूर्त्त उपासक है, वह धूम्र में प्रवेश करताहै, पश्चात् चन्द्रलोक जाता हैं। जो प्रथम श्रद्धा शरीर विशिष्ट वह ही पश्चात् सोम शरीर युक्त हुआ, चेतन जीव को आश्रय करना ही शरीर का एकमात्र स्वभाव है। अतएव भूत गण के साथ जीव का गमन सिद्ध हुआ है।

स्व कामी व्यक्ति गण श्रद्धा पूर्वक क्रतु द्वारा देव एवं पितृलोक की उपासना करते हैं। श्रद्धाक्रान्तचित्त से वे सव पितृ-देव के व्रत भी करते हैं, और इस कर्म से चन्द्रलोक जाकर पुनर्वार पृथ्वीपर लौट आते हैं।

कृतात्येयऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम् ।३।१।८

गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथा कर्माभिजायते ॥४।२९।२७
क्वचित् पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः
देवो मनुष्यस्तिर्य्यग्वायथा कर्म गुणंभवः ॥४।२९।२९

"एष सोमराजा देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" यह सोम राजा देवताओं का अन्न हैं, और देवगण उसे भक्षण करते हैं, इस वाक्य देवता का अन्न रूप सोम राज को जीव शब्द से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जीव भक्षण के अयोग्य है। इस संशय के उत्तर में कहतेहैं—वा शब्द शङ्काहानि के लिए है ॥ सोमराज शब्द से कथित जीव का अन्नत्व गौण है, अन्न के समान जीवगण देवताओं के भोग्य पदार्थ है, क्योंकि जीवगण देवताओं का सेवक हैं। आत्म ज्ञान के अभाव से यह स्थिति जीव की है। श्रुति भी इस प्रकार कहती है, वृहदारण्यक में कथित हैं—जो अथ देवताओं की सेवा करता है, वह उन देवताओं का एवं अपना तत्त्व कुछ भी नहीं जानता, वह उन देवताओं का पशु अर्थात् अधीन है। जीवमें अन्न धर्म आरोपित है, यदि जीव देवताओं का अन्न होताहो ज्योतिष्टोमादि विधिवृथा हो जाती, जीवको भक्षण करलेने से कोन चन्द्रलोक जाता। अतएव जीव मृत्युकाल में जलादि भूतत्रय के साथ गमन करना है।

मलिन बुद्धि वाले जीवगण वेदको काम्य कर्मपर मानते हैं, वे वेद का अर्थ नहीं जानते, क्योंकि के अपना स्वरूप एवं आत्म तत्व एवं जहाँपर श्री-भगवान् है, उन लोकको भी नहीं जानते। जीव वासना द्वारा उच्चजीव योनि में लिङ्ग शरीर से गमना गमन करता है, इस वासना के अनुसार भोग प्राप्त करता है ॥

अथ यह में ग्रामे" इत्यादि वाक्य द्वारा कर्मियों की गति कहकर उन सव के पुनरागम्मन कहते हैं, कर्म फल भोग हो जाने के वाद ही पुनरागमन होता है, समस्त कर्म फल भोग ही जाने के वाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता हैं इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं। फलोन्मुख कर्मों का भोग होजाने के वाद भुक्तावशिष्ट कर्म के साथ जीव का पुनरागमन होता है। चन्द्रलोक प्राप्ति के लिए पृथ्वीपर शुभ कर्म जीव करता है कर्म फल भोग हो जाने के वाद भोगक्षय के कारण शोकानल में जीव का भोगदेह विलीन होता है, अतएव जीव उस समय बीजरूप में स्थित अफलोन्मुख भुक्तावशिष्ट कर्म के साथ इस

यथेतमनेवं च ।३।१।६

तावत् प्रमोद्यते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते
क्षीण पुण्यः पंतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥११।१०।२६

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ३।१।१०

एवं पञ्चविधंलिङ्गं त्रिवृत् षोड़श विस्तृतम्
एष चेतनयायुक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥४।२६।७४
अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति
हर्षशोकं भयं दुःखं सुखञ्चानेन विन्दति ॥४।२६।७५
यदाक्षैश्चरितान् ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्
सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥४।२६।७८

लोक में फिर से आता है। श्रुति कहती है—आगमन कालीन उत्कृष्ट आचरण के द्वारा ब्राह्मणादि उत्तम योनि, एवं उस समय निन्दनीय आचरण के कारण शूकर–चाण्डालादि योनि प्राप्त होता है, स्मृतिमें भी उक्त है-पुनर्जन्म के समय अवशिष्ट कर्म के साथ जीव का आगमन होता है, जो कर्म जितने दिन तक फलोन्मुख रहता है, उतने दिनतक उस कर्म का फल करता हुआ पुनरागमन करता है, ऐसा कहने पर विरोध का भङ्ग हो जाता हैं। सात्त्विक राजसिक तामसिक कर्म को जीव गुणाभिमानी होकर करता हैं, इस से कर्म गुण के अनुसार स्त्री पुरुप नपुंसक देव मनुष्य आदि शरीर की प्राप्ति करता है।

अवरोह में प्रकार विशेष प्रदर्शन करते हैं—कर्म वासना को लेकर जीव चन्द्रलोक से जव अवतरण करता है, तव अवतरण का क्रम कभी गमन के समान होता है, और कभी "अनेक" उसका विपर्य्यय से भिन्न रूप से होता है, धूमद आकाश का शब्दत उल्लेख होने से गमन आगमन में उन दोनों का अवलम्वन होता ही है, फिर गमन काल में रात्र्यादि का कथन न होने से आगमन काल मेध का अनुल्लेख होने पर गमनागमन में सर्वथा एक रूपता नहीं है।

जव तक पुण्य रहता है। तक तन स्वर्ग में सुख भोग जीव करता है, काल के वश होकर पुण्य क्षय होने के वाद स्वर्ग से पतन होता।

कर्म वासना के साथ जीव स्वर्ग गमन एवं वहाँ से प्रत्यागमन करता है, यह युक्त नहीं हैं, श्रुति में रमणीय चरणाः यहाँपर चरण शब्द का उल्लेख-के कारण चरण शब्द से आचरण को लक्ष्य किया गया है, अनुशय एवं आचरण

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।३।१।११

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धि र्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा
शमोदमो भगश्चेति यत्सङ्गाद् याति संक्षयम् ॥३।३१।३२-३२

सुकृत दुष्कृते एवेति तु वादरिः ।३।१।१२

तामात्मानो विजानीयात् पत्यपत्यगृहात्मकम्
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥३।३१।४२
देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥३।३१।४३

एकार्थ नहीं है, यथाकारी यथाचारी तथा भवति इस वचन में उभय का भिन्नार्थ प्रतीत होता है, कर्म शेष को अनुरूप कहा जाता है और चरण को उपचार कहा जाता है, इसलिए दोष नहीं है, कार्ष्णाजिनि मुनि चरण शब्द से अनुशय को मानते हैं। सर्वार्थ के प्रति कर्म की कारणता शास्त्र में प्रसिद्ध है।

इस प्रकार जोव स्वयं चेतन होने पर भी जड़ में अध्यस्त होकर पञ्च तन्मात्रात्मक त्रिगुण, षोड़श विकार को ही अपना मानते हैं। इस से कर्म करता रहता है, जीव, एवं वासनानुसार देह ग्रहण व त्याग करता रहता है, हर्ष शोक भय दुःख सुख कर्म द्वारा प्राप्त होता है। जब इन्द्रियों से विषय को ध्यान कर जीव पुन पुन कर्म करता रहताहै तब ही अनात्मा देह से उसजीव का सम्बन्ध हो जाता है, और यह कार्य्य अविद्या से सम्पन्न होता है।

कर्म सर्वार्थ हेतु होने से आचरण की विफलता होगी ? नहीं। कर्म भी आचार सापेक्ष है। सदाचार विहीन का कर्म में अधिकार ही नहीं है। अतएव सदाचार सहकृत कर्म ही फलहेतुहै, अतः चरण शब्दकर्म का बोधक है, इस प्रकार कार्ष्णाजिनि मानते हैं॥

सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्व मत निरास के लिए है, चरण शब्द से सुकृत दुष्कृत अर्थ ग्रहण करना होगा--यह वादरि मुनि का मत है पुण्यं कर्माचरति यहाँपर कर्म में चर धातुका प्रयोग हुआहै मुख्यार्थ सम्भव न होने पर लक्षणा करना आवश्यक है। चरण अनुष्ठान कर्म एकार्थक है आचार भी कर्मविशेष ही हैं। भेदोक्ति कुरुपाण्डव न्याय से है। यह ही सूत्र कार का मत है, एवंशब्द

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१३

स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः
यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः
तत्श्रद्धया क्रान्तमतिः पितृदेव व्रतः पुमान्
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥३।३२।२–३

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति दर्शनात् ।३।१।१४

याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥३।३०।३३

सूत्र में इसलिए दियागया है। अतएव चरण शब्द कर्मविशेष को कहता है। अतएव कर्म वासना युक्त जीवका पुनरागमन होता है।

पति अपत्य गृह रूप जिस को माना जाता है, वह दैवसे मृग को जैसे व्याधका गान सुनने को मिलता है। वैसा ही है। देह को अपना मानकर जीव कर्म वश, नानायोनि में भ्रमण करता रहता है, कर्म फल भोग भी करता, और अविरत कर्म भी करने लगता है॥

काम्य कर्म रूप इष्टादि का अनुष्ठान कर चन्द्रलोक जीव गमन करता है, तदनन्तर कर्म वासनाको साथ लेकर अवरोहन करता है। यह बात कही गई है, सम्प्रति अनिष्ट कारियों के आरोह अवरोध की परीक्षा की जाती है। ईशावास्योपनिषत् में उक्त है, आत्मघाती जनातिमृत्यु के अनन्तर गाढ़ अन्धकार में आवृत असूर्य नामक लोक को गमन करताहैं। यहाँपर प्रश्न है, समस्त पापी चन्द्रलोक गमन करते हैं, अथवा यमलोक? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष सूत्र की अवतारणा करते हैं, सुनाजाता है, इष्टादि कारियों के समान अनिष्टादि कारी भी चन्द्रलोक गमन करते हैं, कौषितकी उपनिषद् में सबके लिए एक प्रकार गति का वर्णन होनेपर समस्त व्यक्ति ही चन्द्रलोक गमन करते हैं,। ऐसा होने पर भी उक्त वाक्य दुराचार निरोध के लिए कहा गया है। क्योंकि पुण्य शील व पापियों को एक समान गति नहीं हो सकती है। चन्द्रलोक में पापियों के भोग का अभाव ही है। इस प्रकार पूर्व पक्ष का सिद्धान्त करते हैं॥

तुशब्द पूर्वपक्ष निरासार्थ है, अनिष्टकारी व्यक्तिगण यमपुर गमन करते हैं, वहाँ यमदण्ड अनुभव के वाद पुनर्वार यहाँपर आगमन करते हैं, इस प्रकार उन सव के आरोह अवरोह होते हैं, श्रीयमराज ने कठवल्ली में कहा

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥३।३२।१९
दक्षिणेन पथा अर्य्यम्नः पितृलोकं ब्रजन्ति ते
प्रजामनु प्रजायन्तेश्मशान्ताक्रियाकृतः
ततस्ते क्षीण सुकृताः पुनर्लोकमिमंप्रति
पतन्ति विवशादेवैः सद्योविभ्रंशितोदयाः ॥३।३२।२१

स्मरन्ति च ।३।१।१५

तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यम सादनम् ॥३।३०।२३

अपि सप्त ।३।१।१६

तत्रहैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति । अथ तांस्ते राजन् ! नामरूप लक्षणतोऽनुक्रमिष्यामः । तामिस्त्रो अन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भी काकः;पालसूत्र मसिपत्र वनं शूकर मुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दशः तप्तशूर्म्मि वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः;

है—कुछ लोक मानते हैं—मृत्यु के वाद कोई लोक नहीं है, इस प्रकार अन्ध विश्वास से मेरी अधीनता को प्राप्त करते हैं। वालक प्रमादी और धन लोभ से मूढ़ व्यक्तिगण उस के अधिकारी है।

जो लोक अच्युतकी कथासुधा को छोड़कर असत्य गाथा को सुनता है, वह देव से निधन को प्राप्त करता है ॥ कर्म कर के पितृलोक गमन करता है, अनन्तर अपन पुत्र का पुत्र रूपेण उत्पन्न होता है, और गर्भाधानादि से श्मशानान्त क्रिया को करते हैं। भोग साधना नष्ट हो जाने के कारण कर्म वासना को लेकर इस लोक में आता है ॥

मुनिगण पापियों की यमपुर गमन रूप गति को वर्णन करते हैं। मनुष्य देह प्राप्त करने के पहले समस्त शरीरों में भ्रमण करता हैं। पापीगण यम निकेतन गमन करते हैं अति क्लेश कर पथ से उन सब को यमपुर ले जाया जाता है ॥

महाभारत में वर्णित है रौरव महांश्चैव वह्नि वैतरणी तथा कुम्भी पाक इति प्रोक्तान्यनित्य नरकाणितु तामिस्र श्चान्ध तामिस्रो द्वौ नित्यौ

प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयः पानमिति ।
किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशुकोऽवटनिरोधनः
पर्य्यावर्त्तनः शूचीमुखमित्यष्टाविंशति नरका विविधयातनाभूमयः
॥५।२६।७

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।३।१।१७

यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्व पुरुषै र्जन्तषूपरतेषु यथा कर्म विद्य दोषमेवानुल्लङ्घित भगवच्छासनः सगणो दमं धारयति ॥५-२६-६

विद्या कर्मणोरिति तुप्रकृतत्वात् ।३।१।१८

तत्श्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान्
गत्वा चान्द्रमसंलोकं सोमपाः पुनरेष्यति॥३।३२।३
ये स्वधर्मं न दुह्यन्तिधीराः कार्मार्थ हेतवे
निःसङ्गान्यस्त कर्म्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥३।३२।५
निर्वृत्तिधर्मनिरता निर्म्ममानिरहङ्कृताः
स्वधर्मात्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेनचेतसा॥३।३२।६

सम्प्रकीर्त्तितौ इति सप्त प्रधानानि बलीयस्तूत्तरोत्तरमिति । पापियों के फल भोग के लिए सप्त नरक कहागया है। ये सव नरक को पापीगण प्राप्त होते हैं। आदि शब्द से अनुक्त नरको को भी जानना होगा ।

अवधारण अर्थमें सूत्रस्थ च कारहै। उक्त सिद्धान्तसे ईश्वर कर्त्तृत्वकी वाधा होगी, इस शङ्कानिरास के लिए कहतेहैं ॥ यमराज आदि जो कुछ दण्ड पापियों को देते हैं, वे सव ईश्वर के अधीन है, और उन के आदेश को पालन करते हैं ॥

भगवद् शासन को अङ्गीकार कर यमराज आदि दण्ड दानाधिकारी व्यक्तिगण पापियों को दण्ड प्रधान करते हैं ।

पापियों का यम दण्ड भोग के वाद चन्द्रलोकारोहण होना चाहिए, विधायक श्रुति में सर्व शब्द का प्रयोग है । इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तार में कहते हैं--देवयान एवं पितृयान के लिए विद्या एवं कर्म का ही प्राधान्य है, पापी के लिए चन्द्रलोक गमन सम्भव नहीं है, तु शब्द आक्षेप निरासार्थ है।

सूर्य्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्
परवरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्।।३।३२।७

न तृतीये तथोपलब्धेः।३।१।१६

एवं कुटुम्वं विभ्राण उदरम्भर एव वा
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्तेतत् फलमीदृशम्।।३।३०।३०
केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमंतमसःपदम्।।३।३०।३३
अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तुताः
क्रमशःसमनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः।।३।३०।३४

'न' पूर्व सूत्र से अनुवर्त्तन करना होगा। इस प्रकार सर्व शब्द अधिकृत मात्रापेक्षी है ॥

पितृ लोक के प्रति श्रद्धालु होकर उक्त लोक प्राप्ति के अनुरूप कर्म में जीव प्रवृत्त होता है, कर्म द्वारा चन्द्रलोक प्राप्त होता, और पुण्य क्षय के वाद पुनर्जन्म होता ।

जो लोक कामार्थ प्रयोजन के लिए स्वधर्म का दोहन नहीं करता, ईश्वरापेक्षी कर्म से शुद्धचित्त होता, सत्त्व शुद्धि होनेके कारण निम्मम निरहङ्कृत होकर सूर्य्यद्वार से परेश को प्राप्त होता है।

पापियों का चन्द्रलोक गमन के विना देहोपलम्भ नहीं है। देह ग्रहण के विना पञ्चम आहूति का होना असम्भव है। देह ग्रहण के लिए चन्द्रलोक गमन अवश्यम्भावी है, इस प्रकार प्रश्न होने पर उत्तार के लिए कहते हैं—

तृतीय स्थान में देह ग्रहण के लिए चन्द्रलोक गमन अनिवार्य नहीं है, पञ्चम आहुति की भी अपेक्षा नहीं हैं। श्रुति में इस प्रकार ही वृतान्त है। श्रुति में—यथासौ लोको न सम्पूर्येत'' इस लोक की पूर्त्ति क्यों नहीं है, इस प्रश्न के उत्तार में कहते हैं—अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावृत्तीनि भूतानि जीवन्ति जायस्व म्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम्। तेनासौ लोको न सम्पूर्य्येत'' देवयान एवं पितृयान के किसी भी मार्ग में ये सव पुनः पुनः आवर्त्तन कारी क्षुद्र जीव गण, गमन नहीं करते हैं॥ वे सव जन्मलेते हैं और मर भी जाते हैं„ वे सव तृतीय स्थान का धर्म है॥ सुतरां चन्द्रलोक पूर्त्ति की कोई भी सम्भावना नहीं है, ब्रह्म लोक और द्युलोक की अपेक्षा से तृतीय होने के कारण इन सव को तृतीयस्थान कहागया है। अर्थात् जो सव विद्या

स्मर्य्यते च लोके ।३।१।२०

द्रुपदाद् द्रौपदीतस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥९–२२।३

दर्शनाच्च ।३।१।२१

अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः॥२।६।१५

मृगान् खगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान्

द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्येजलस्थल नभौकसः॥२।१०।३९

तृतीय शब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२२

से देवयान पथ, एवं कर्म से पितृयानस्थान के हैं। वे सव चन्द्रलोक नहीं जा सकते। सुतरां आरोहण अवरोहण के अभावके कारण उन के द्वारा चन्द्रलोक की पूर्त्ति असम्भव है। अतएव तृतीयस्थान के लिए देहारम्भका पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं है।

जो लोक कुटुम्व एवं उदर पोषण में ही रत हैं, वे सव कुटुम्व एवं देह को छोडकर पाप फल को भोगते हैं। अधर्म से कुटुम्व भरण के लिए जिन लोकों का उत्साह है। वे सव अन्धतामिस्रनामक नरक को प्राप्त करते हैं। मनुष्य देह प्राप्ति के पहले मनुष्यलोक में जितने देहहैं उन सव में भ्रमन् करने के वाद क्षीण पाप होने से पुनर्वार मनुष्य देह को प्राप्त होते हैं।

पुण्य कर्मरत व्यक्ति द्रोणधृष्टद्युम्नद्रौपदी आदि की देहोत्पत्ति के लिए पञ्चमाहुति की आवश्यकता नहीं हुई है। पुराण में इस का विस्तृत विवरण है, अपिच शब्द से अन्य दृष्टान्त भी रस प्रकार है, इस की सूचना हुई है॥

दुपदसे द्रौपदी एवं दुष्टद्युम्नादि की उत्पत्ति हुई हैं॥

इन सव भूतों के तीन प्रकार वीज देखने में आते हैं, अण्डज, जीवज, एवं उद्भिज्ज। उन में से उद्भिज्ज और स्वेदज के लिए पञ्चमाहुति की अपेक्षा नहीं है, जिन का चन्द्रलोक आरोहणएवं अवरोहण है, उन को ही पञ्चमाहुति आवश्यक है„ अन्य सव की पञ्चमाहुति के विना जल के द्वारा ही देहारम्भ होता है, इस का प्रतिषेध वचन नहीं है॥

अपर जलस्थ स्थलस्थ एवं नभो विहारी अनेक प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। मृग खग पशु वृक्ष, गिरि, सरीसृप आदि की सृष्टि हुई द्विविधाः स्थावर जङ्गमरूप से दो प्रकार, चतुर्विधाः जरायुज अण्डज, स्वेदज उद्भिज्ज रूपेण चार प्रकार जलचर स्थलचर नभचर को भी सृजन किया है।

तिर्य्यङ् मानुष देवानां सरीसृपपतत्रिणाम्
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेद द्विजोद्भिदाम् ॥३।७।२७

तत् स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।३।१।२३

भूतानां छिद्रदातृत्वं वहिरन्तरमेव च
प्राणेन्द्रियात्मधिष्णयत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥३।२६।३४

नातिचिरेण विशेषात् ।३।१।२४

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तुताः
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्रावजेच्छुचिः ॥३।३८।३४

उद्भिज्ज ये तृतीय शब्दसे संशोकज अर्थात् स्वेदज का भी संग्रह हुआ उद्भिज्ज और स्वेदज दोनों भूभि और उदक से उद्भिन्न होकर जन्मलेते हैं, इस लिए दोनों में समता है ॥ उनमें से उद्भिज्ज स्थावर तथा स्वेदज जङ्गम रूप से लोक में कहेजाते हैं। अतएव अनिष्टादिकारी की चन्द्रप्राप्ति नहीं है।

इष्टादि शुभ कर्मकारी व्यक्तिगण सूक्ष्म भूत से युक्त होकर (लिङ्ग देह से) भुक्तावशिष्ट कर्म के साथ अवरोहण करता है अवरोहण का प्रकार इस प्रकार है, जैसे आकाश से वायु, वायु से धूम अनन्तर अभ्र उस से मेध होकर वर्षित होता है, इस अवरोहण में आकाशादि भाव प्राप्ति प्रतीति होती है, यह आकाशादि भाव प्राप्ति तादात्म्यापत्ति अथवा सादृश्यापत्ति हैं ? इस संशय में तादात्म्यापत्ति ही सम्भव है, इस के उत्तर में कहते है—सादृश्यापत्ति रूप ही मानना आवश्यक है„ क्योंकि उपपत्तेः—अर्थात् युक्ति से यही सिद्ध होता है। चन्द्रलोक में भोग के लिए जो जलमय देह की उत्त्पत्ति होती है, वह सूर्य्य किरण से उत्तप्त तुषार खण्डकी भाँति भोगक्षय में शोकाग्नि द्वारा विलीन होनेपर, सूक्षता के कारण आकाश तुल्यहो जाता है, अनन्तर वायु का अधीन होता है, अनन्तर धूमादि के साथ मिलित हो जाता है। एक पदार्थ का अन्य पदार्थ होना सम्भव नहीं है, तादात्म्य होनेपर अवरोह होना सम्भव नहीं होगा

आकाश का लक्षण कहते हैं। अवकाश प्रदान कारी है, वाहर अन्तर व्यवहार का भी कारण हैं, आत्म मनः प्राण आदि का भी नाड़ी छिद्ररूप में आश्रय भी है। कार्य ही स्वरूप का वोधक है ॥

आकाश से लेकर वर्षण पर्यन्त अवरोहण क्रम कहागया, इस में संशय है,—अवरोहण सत्त्वर होता, अथवा विलम्ब से होता है, ? विलम्ब से अव-

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ३।१।२५

जीवो ह्यस्यानुगो देहोभूतेन्द्रियमनोमयः ॥३।३०।३४

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्।३।१।२६

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुराया
स्तथा पशोरालम्भनं न हिंसा ॥
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्ध न विदुः स्वधर्म्मम् ॥११-५-१३

तरण से भाव है, इस के उत्तर है, आकाशादि से अवतरण सत्वर होता है, विशेष वचन की विद्यमाणताके कारण ऐसा मानना आवश्यकहै,। 'व्रीह्यादि भाव प्राप्तःवतो वै खलुदुर्निःप्रपतर" यह विशेष उक्तिहै, दूनिष्प्रपतर शब्दका दुःख निष्क्रमण अर्थ है, व्रीह्यादि भाव प्राप्त होने के वाद दुःख का निष्क्रमण होताहै ॥ इस प्रकार वचनसे आकाशादि प्राप्तिकेवाद शीघ्र निर्गमन होता है॥

भू मण्डल में जिवना यातना स्थानहै, क्रम पूर्वक उस में भ्रमण करके पुनर्वार कर्म वासना के साथ आगमन जीव करता है ॥

प्रवर्षज के अनन्तर " इह व्रीहियव औषधि वनस्पतयस्तिलमाषा जायन्ते " यहाँ संशय है कि सानुशयी जीवों की व्रीह्यादि अवस्था मुख्यजन्म अथवा संश्लेष मात्र है, ? " जायन्ते" इस शब्द से मुख्य जन्म प्राप्त होता है, इस के उत्तर में कहते हैं-अन्य जीवोंके द्वारा भोक्तृ रूपसे अधिष्ठित व्रीह्यादि में उन का संश्लेष मात्रहै । कर्मफल भोग के लिए जो व्रीह्यादि को प्राप्तकरते हैं, उनका ही वहाँ मुख्य जन्म है, स्वर्ग भ्रष्ट जीवों का केवल संश्लेष मात्र होता है ।

जीव सप्तदश अवयवविशिष्ट लिङ्ग देह को आश्रय कर गमनागमन करता है ॥

अन्य जीवद्वारा अधिष्ठित व्रीह्यादि भोग देह में कर्म वासना युक्त जीव का संश्लेषमात्र होता है, मुख्य जन्म नहीं है ? क्योंकि उस समय भोग के कारण कर्म का अभाव है, ऐसा सिद्धान्त ठीक नहीं है, कारण भोग हेतु कर्म अवश्य रहता है। कारण है कि स्वर्गादि फल रूप इष्टादि कर्म ही अशुद्ध है, उस समस्त कर्म पशुहिंसा से युक्तहै । हिंसाहि पाप है । माहिंस्यात् सर्वाभुतानि इस प्रतिषेध वाक्य के कारण अतएव पुण्यांश स्वर्ग प्रदान करता है, और पापांश व्रीह्यादि भावको प्राप्त कराताहै । "शरीरज कर्म दोषैर्याति स्थावरतां नरः उक्त विषय में यह स्मृति वाक्य भी विद्यमानहै । अतः व्रीह्यादि में मुख्य

रेतः सिग्योगोऽथ ।३।१।२७

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तु र्देहोपपत्तये
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसोरेतः कणाश्रयः ।३।३१।१

योनेः शरीरम् ।३।१।२८

कललन्त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण वुद्वुदम्
दशाहेनतु कर्कन्धु पेश्यण्डं वा ततः परम् ।३।३१।२

जन्म मानना होगा ? इस प्रकार कह नहीं सकते, कारण शब्दात्— श्रुति की विद्यमानता के कारण उक्त वचन अग्राह्या है, अग्नि सोमीयं पशुमालभते, इस प्रकार वेद वाक्य है । वे धर्म एवं अधर्म वेद वचन ही है, वेद ही हिंसानु ग्राहात्मक इष्टादि कर्म धर्म रूप में प्रति पादन किए है, अतएव अशुद्ध नहीं है, मा हिंस्याद् सर्वा भूतानि इस वेद वचन से निषेधके कारण पाप ही हिंसा है । इस प्रकारभी कह नहीं सकते । यह विधि उत्सर्ग विधि हैं, और अग्नि सोमी अपवाद विधि है। उत्सर्गापवाद विधि व्यवस्थित विषय में होतें है ।। उक्त विषय में कुछ कहना ठीक नहीं है ।। सुतरां व्रीह्यादि संश्लेष मात्र जन्म ही हैं ।।

कारण सुरापान में घ्राणलेने का विधान है, नतो पान का उसी प्रकार पशु का आलम्भन ही विहित है, नतो हिंसा । तात्पर्य्य इस प्रकार हैं, देवतो द्द ेश से जो पशुहत्याहै-इसे आलभन कहा जाताहै, जैसे वायव्यां श्वेत मालभेत इस प्रकार श्रुति है, यह हिंसा नहीं है । जो वेद विहित हिंसाा है वह हिंसा कही नहीं जाती है । इस प्रकार ही शास्त्र के अनुसार चलने पर धर्म होता है, प्रजा के लिए ही रति है काम के लिए नहीं, इस प्रकार विशुद्ध धर्म को लोक नहीं जानते है ।

और भी इस विषय में कहते हैं—अनुशयीका व्रीह्यादि भाव प्राप्त होने के अनन्तर रेतः सिग् योग होता है, श्रुतिमें इसवात का उल्लेख है । योयोऽन्न मत्ति यो रेतः सिञ्चति तत्भूय एवं भवतिः यह श्रुतिः । जो जो अन्न भोजन किया जाता, जो रेतका सिञ्चन होताहै, अनुशयी जीव उसकाभाव प्राप्त होता है । अतएव रेतः सिग् रूप अबस्था उसकी मुख्यावस्था नहीं है, अवान्तर अवस्था है । एक पदार्थ का अन्य पदार्थ होना सम्भव नहीं है । अतएव संश्लेष मात्र ही जानना होगा । इस व्रीह्यादिके साथ भी संश्लेष ही जानना होगा ।।

ल्यव् लोप में कर्म में पञ्चमी विभक्ति है । पिता के शरीर से अनुशयी

**** तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ****

—*—

**** अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादः ****

—**—

सन्ध्ये सृष्टिराहहि ।३।२।१

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापंवेदात्मनस्तदा
सुखञ्च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥६।१६।५५

जीव माता के उदर में प्रविष्ट होता है, इस प्रकार मुख्य देह प्राप्ति अनुशयी की होतीहै। तद्य रमणीय चरणा यह श्रुति उक्त विषयमें प्रमाण है। अतएव आकाशादि प्राप्ति के समान ही ब्रह्मादि प्राप्ति है, इस प्रकार दुःखसार संसार से वितृष्ण होकर आनन्दमय श्रीहरि का ही वुद्धिमान् जन ध्यान करें। यह ध्वनित हुआ है ॥

इति श्रीमद् ब्रह्मसूत्रस्य श्रीकृष्णद्वैपायनवेदव्यासप्रणीत श्रीमद्भागवत भाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथम पादः ॥

**** तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ****

——*——

**** अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादः ****

इस तृतीय अध्यास के द्वितीय पाद में श्रीकृष्ण प्राप्ति के कारण भूत भक्तिका वर्णन होगा। प्राप्य ब्रह्म की सृष्टि कर्त्तृत्व रूप महिमा, उनके आवि र्भाव स्वरूपों की एकता आत्म मूर्त्तित्व–उपासक से भेद, प्रत्यक् रूपत्व भक्ति ग्राह्यत्व, उभयावभासित्व, परानन्दत्व–भावानुसार प्रकाशत्व सर्व परत्व, सर्वदातृत्व आदि गुण निचय का निरूपण होगा। भक्तीच्छु व्यक्ति उक्त विषय को जान लेने से उनको गुणों से आकृष्ट होकर उनकी भक्ति में प्रवृत्त होंगे। अन्यथा भक्ति में प्रवेश की सम्भावन नहीं है। सम्प्रति भगवान् के स्वप्नादि सृष्टि कर्त्तृत्वके विषयमें विचार होगा। ब्रह्मसे अरिरिक्त अपरकोई स्वप्नादि सृष्टि कर्त्ता है, तो ब्रह्म का सर्व कर्त्तव्य की वाधा होगी श्रीहरि सर्वमय कर्त्ता न होकर यदि किञ्चित् कर्त्ता होते हैं—तव उन में भक्ति होना सम्भव नहीं है। अतएव स्वप्नादि कर्त्तृत्व के द्वारा उन की महिमा कही जातीहै। वृहदा रण्यक में उक्त है—स्वप्न में रथ,, रथ योग, पथ, कुछ भी नहीं है, किन्तु श्री

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२

यो जागरे वहिरनुक्षणधर्म्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्त करणै हृदि तत् सदृक्षान् ॥
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात् त्रिगुण वृत्ति दृगिन्द्रियेशः ॥११।१३।३२

हरि उनसव की सृष्टि करते हैं। वहाँपर आनन्दादि नहीं है, आनन्द से मुद-प्रमोद का सृजन करते हैं। वहाँपर गृह, पुष्करिणी, नद्यादिक नहींहै, उनसव की सृष्टि भी करते हैं। अतएव जो इन सव की सृष्टि करते हैं, वे ही कर्त्ता हैं, वहाँपर स्वाप्निकी सृष्टि जीव कर्त्तृकहै, अथवा परमात्म कर्त्तृक ? इस प्रकार संशय में उक्त सव सृष्टि जीव कर्त्तृक ही है, यह निर्णय होताहै, क्योंकि प्रजा पति वाक्य में जीव को सत्य सङ्कल्प कहागया है। उक्त पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—वेद में स्वाप्निक सृष्टि कर्त्तृत्व ईश्वर निष्ठ रूप में कहा गया है, सन्धि शब्द का अर्थ स्वप्न है, सन्ध्यं तृतीयं स्वप्न स्थानं इस प्रकार वचन सु प्रसिद्ध है, इस अवस्था जो रथादि सृष्टि की वात है, उस का कर्त्ता परमात्मा है, क्योंकि—श्रुति इस प्रकार ही कहतीहैं। भावार्थ इस प्रकारहै। अल्पकर्म्म के अनुसार फल भोग के अति अल्पकाल स्थायी रथादि की सृष्टि करते हैं, परमात्मा। जिन्हें स्वप्न द्रष्टा पुरुष ही देखता है, सत्य संकल्प और अचिन्त्य शक्ति विशिष्ट ईश्वर के पक्ष में इस प्रकार का कर्त्तृत्व असम्भव नहीं है। "स्वप्नान्तम्" इत्यादि श्रुत्यन्तर भी इस के विषय में प्रमाण है॥ जीव की जो सत्य संकल्पता है, वह मोक्ष अवस्था में प्रकट होती है, अतएव इस से स्वप्न सृष्टि सम्भव नहीं है।

प्रसिद्ध जागरणादि वुद्धि की अवस्था है, इस की द्रष्टा ही ब्रह्मा है, यदि कहो कि सुसुप्ति काल में दृश्य न रहने के कारण द्रष्टा कैसे हो सकता है, ब्रह्म ? उत्तर में कहते हैं—प्रसुप्त पुरुषजीव जिस से स्वप्न कालमें अपनी निद्रा एवं निर्गुण अतीन्द्रिय सुख को भी जानता है, वह आत्मा ब्रह्म है, और वह मुझ कृष्ण को जानो। उस समय स्वप्न और सुख का ज्ञान न होने पर सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम् इस प्रकार स्मृति की सम्भावना ही नहीं है॥

कठोपनिषद् एकमात्र परमात्मा को ही स्वाप्निक कामना के विषय समूह का निर्माता मानतीहैं। 'य एषु सुप्तेषु जागर्त्ति कामं पुरुषो निर्मिमाणसमस्तं जीव जवनिर्मित होतेहैं, परमात्मा ही उससमय जागकर उसकी कामनानुसार

मायामात्रं कात्स्न्यॆनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।३।२।३

एवं विमृश्य गुणतो मनस स्त्र्यवस्था
मन्मायया मयिकृता इति निश्चितार्थाः ।
सञ्छिद्य हार्द्दमनुमानसयुक्ति तीक्ष्ण
ज्ञानासिना भजतमाखिलसंशयाधिम् ।११।१३।३३

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।४

स्वप्ने प्रेत परिष्वङ्गः खरयान विषादनम् ।
यायात् नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तोदिगम्वरः ॥१०॥४२।३०

विषयों का निर्माण करते हैं, उन जीवों में केवल इच्छा की सृष्टि नहीं करते, किन्तु इच्छा के विषयीभूत पुत्रादिका सृजन करते हैं ॥ "समस्त काम की प्रार्थना करो, शतायु पुत्र पौत्र की प्रार्थनाकरो, इत्यादि वेद वाक्य से काम शब्द द्वारा पुत्र पौत्रादि का वोध होता है, "इन से ही पुत्र की उत्पत्ति इस से ही भ्राता की उत्पत्ति, इन से ही भार्य्या की उत्पत्ति है, वे सव स्वप्न में जीव को आसक्त करते हैं । इस प्रकार अपर श्रुति भी उस का पोषक है ॥

जो जाग्रत अवस्थामें विषय समूहको चक्षुरादि करण समूह द्वारा भोग करते हैं, क्षणिक वाल्य तारुण्यादि धर्म को भी जानते हैं, एवं स्वप्न में हृदय में जाग्रत अवस्था के समान ही वासनामय समस्त वस्तु को भोग करते हैं, सुषुप्ति में समस्त वस्तु का उपसंहार भी करते हैं ॥ यह ही इन्द्रिय का स्वामी है, एवं स्मृति द्वारा समस्त अवस्थामें तथा विषयोमें भ्रमणकर भोग करते है।

स्वप्न सृष्टि में अतकर्ष माया ही कारण है, पञ्चीकृत भूत एव चतुर्मुख आदि कारण नहीं है । क्योंकि—यह सृष्टि परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी का भी अनुभव योग्य नहीं है । अतएव स्वप्न सृष्टि परमात्मा से ही होती हैं ।

गुण से मन की जो तीन अवस्था है, वह भी मेरी माया अविद्या द्वारा हुईहै, अतएव अनुमान द्वारा सज्जनोंके उपदेश द्वारा, श्रुतिगणोंसे प्राप्ततीक्ष्ण ज्ञान रूप खड्ग से हृदय स्थित अहंकार को छेदन कर मुझे भजन करो ।

स्वाप्निक सृष्टि सत्य है, अथवा मिथ्या ? इस प्रकार संशय होने पर निर्णय होता कि प्रवोधके वाद वह नहीं रहतीहै, अत वह सृष्टि मिथ्या ही है, इस प्रकार कथन के उत्तर में करते हैं—हि–यतः कारण है कि स्वाप्न पदार्थ शुभाशुभ मन्त्रादि का सूचक है, अतएव स्वप्न सृष्टि सत्य है, कहाँ कैसे स्वप्न सूचक होता है,—उस का विवरण देते हैं । छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित है,

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो
ह्यस्य बन्ध विपर्य्ययौ ।३।२।५

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।
भगवद् भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ।।३।७।१२

देहयोगद्वा सोऽपि ।३।२।६

यो जागरे वहिरनुक्षण धर्म्मिनोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणै हृदि तत् सदृक्षान्

जव काम्य कर्म में स्वप्न में स्त्रीका दर्शन होताहै, तव जानना होगा समृद्धि होगी, इस प्रकार स्वप्न में स्वरारोहण भी अशुभ सूचक है। स्वप्न में श्री शिव जी प्रदत्त रामरक्षा स्त्रोत्र प्राप्त होकर कौशिक ने उसे लिपिवद्ध किया था। इस प्रकार भाविसत्यार्थ सूचक मन्त्रादि प्राप्ति होनेपर जाग्रत सृष्टि की भाँति स्वप्न भी सत्य है।

वंस ने स्वप्न में मृतक के द्वारा आलिङ्गित अपने को पाया खर की सवारी में भ्रमण करता हुआ अपने का देखा, विषभक्षण भी स्वप्न में उसने किया, नलद माली जवाकुसुम की माला भी स्वप्न में उसने पहना इस से उस की मृत्यु सुचित हुई ।।

जाग्रत होने के वाद स्वप्न दृष्ट वस्तु विलुप्त हो जाने से स्वप्न दृष्ट पदार्थ मित्थ्या है ? इस सन्दर्भ में कहते है, परेश-ईश्वर के सङ्कल्प से स्वाप्निक रथादि तिरोहित हो जाते हैं, मुक्ति रजत के समान मित्थ्या नहीं है। हि-यत जीव के बन्ध मोक्ष ईश्वर से ही होते हैं । संसार बन्ध स्थिति मोक्ष के हेतु ईश्वर ही है ।। बन्ध मोक्ष कर्त्ता के लिए स्वप्न एवं उसका परिहार कर्त्तृत्व ईश्वर के लिए अति आश्चर्य जनक ब्यापार नहीं हैं। अतएव स्वप्न का आविर्भाव तिरोभाव भी ईश्वर से ही होता है। स्मृति भी कहती है—स्वप्नादि वुद्धि कर्त्ता च तिरस्कर्त्ता स एव तु। तदिच्छया यतो ह्यस्य बन्धमोक्षौ प्रतिश्रितौ ।। परमेश्वर स्वप्नादि बुद्धि के कर्त्ता है। उस के तिरोभाव के कर्त्ता भी है. उनकी इच्छा से ही संसार बन्धन व मोक्ष भी होते हैं। अतएव ईश्वर कर्त्तृक स्वप्न सृष्टि सत्य है।

माया निवृत्तिका उपाय कहते हैं—सवै, अनात्माके गुण, निवृत्ति धर्म द्वारा वासुदेव की जो अनुकम्पा उस से एवं उन में भक्ति योग होने से माया का तिरोधान होता है, शनैः अर्थात् साधन के अनुसार ही होगा।

स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मत्यन्वयात् त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ।११।१३।३२

तदभावोनाड़ीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७

येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मन स्तदा
सुखञ्च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मान मवेहि माम्
उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वाप प्रतिवोधयोः
अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत्परम् ।६।१६।५५-५६

अनन्तर जागरण कर्त्तृत्व ईश्वर का ही है इस विषयको कठवल्ली के प्रमाण से पुष्ट करते हुए करते हैं—स्वप्नान्तं जागरितान्तं यौभौ येनानुपश्चात् । महान्तं विभु मात्मानं मत्वा धीरो न शोचति " यहाँपर जीव का जागरण में भी परेश के कर्त्तृत्व है या नहीं ? इस प्रकार संशय होने पर कहा जाता है कि—जीव कालादि अधीन है, अतएव उस में ईश्वर कर्त्तृत्व नहीं हैं । इस का समाधान के लिए सूत्र करते हैं—देह भोग के हेतु जागरण परेश से होता है, स्वप्नान्त श्रुति ही इस में प्रमाण है कालादि के कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है, वे सव जड़ है । अपि शब्द से सुषुप्ति आदि अवस्था में भी ईश्वर कर्त्तृत्व ही है-इस का संग्रह हुआ । क्योंकि ईश्वर का ही सर्व कर्त्तृत्व सुना जाता है ।

जो स्थूल देहादि को चक्षुरादि करण द्वारा भोग करते हैं, एवं वाल्य तारुण्यादि धर्म को भी जानते हैं,, एवं स्वप्न में भी हृदय में जागर दृष्ट सदृश वासना मय वस्तु समूह को भी भोग करतेहैं । वह एक है--नित्य है, अविक्रिय है, अवस्थात्रय द्रष्टा है , वह समस्त इन्द्रियों के ईश्वर है ।

अनन्तर सुषुप्ति स्थान का विचार करते हैं—सुषुप्ति विषयक श्रुतिगण इस प्रकारहै—उभसु तदा नाड़ीषु सुप्तोभवति " ("छान्दोग्य में " "ताभिः प्रत्यव सृप्य पुरीततिशेते " (इति वृहदारण्यक में) ॥

इस प्रकार अन्यत्र भी हैं, यहाँपर आकाश शब्द ब्रह्म वाचक है । यहाँपर नाड़ी समूह एवं पुरीतत् ब्रह्म को सुषुप्ति का आधार कहा जाता है । इस में कोई विकल्प है, अथवा सव का ही ग्रहण है ? इस प्रकार संशय में कहा जा सकता कि तुल्यार्थ शब्द समूह की परस्पर अपेक्षा दृष्ट होने पर " तुल्यार्थी विकल्पेरन् " इस नियमसे विकल्प व्यवस्था ही समीचीन है—इस प्रकारकथन का उत्तर देते हैं—नाड़ी, ब्रह्म, और पुरीतत में सुषुप्ति के समुच्चय श्रवण के

अतः प्रवोधोऽस्मात् ।३।२।८

न स्वप्न जाग्रन्नच तत् सुषुप्तं न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः ॥
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥१२।४।२१

स एव तु कर्म्मानुस्मृति शब्दविधिभ्यः ।३।२।९

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तश्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः

कारण समुच्चय का विचार हो रहा है ॥ पुरीतत् समुच्चय का अर्थ च कार द्वारा प्राप्त है । जागरण एवं स्वप्नका अभाव ही सुषुप्ति नाड़ियाँ पुरीतत् तथा आत्मा में समुच्चित होती हैं, क्योंकि श्रुति में इस प्रकार वर्णन है, उन सवका सुषुप्ति स्थान सुनने में आता है । विकल्प होने पर इस पक्ष का वोध होता है, जव जीव स्वप्न नहीं देखता है, तव जीव इन सवस्थानों में अवस्थान करता है, प्राण भी उस में एकत्व प्राप्त होता है, जैसे लोक द्वार से गृह में प्रवेश कर पालङ्क में शयन करता है वैसे नाड़ीं रूप द्वार से प्रवेश कर पुरीतत् ब्रह्म में अवस्थान करता है, प्रकार भेद से नाड़ी आदि का समुच्चय हुआ है । अतएव ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थानहैं, पुरीतत्को हृदय पुण्डरीक का आवरक कहा जाता है ।

प्रसुप्त पुरुष जिस प्रकार से स्वप्न के समय स्वप्न एवं अतीन्द्रिय सुख को जानता है, वह मैं ब्रह्म हूँ । जो अनुभव करता स्मरण भी वह ही करता अन्य दृष्ट अन्यका स्मरण वयैसे होगा ? प्रस्वाप एवं प्रतिवोधमें एकज्ञान ऐसा है, जिस के विना वे सव हो नहीं सकते उन ज्ञान को परं ब्रह्म ही जानना ।

अतएव ब्रह्म से ही प्रवोध होता है, ब्रह्म सुप्तिस्थान है, नाड़ि द्वारा मात्र है, तव ब्रह्मसे ही स्वप्नके अनन्तर प्रवोध होता है, "सतश्चागत्य न विदुः सत आगच्छामहे" सत् स्वरूप पदार्थ से आगमन होने पर भी उसे नहीं जाना कि मैं सत् पदार्थ से आया हूँ । इस प्रकार उक्ति छान्दोग्य श्रुति में है, विकल्प होनेपर कभी नाड़ी से कभी पुरीतत् से और कर्म ब्रह्म से आगमन सुनाजाता, किन्तु इसे कहीं सुना हीं नहीं गया है, अतएव ब्रह्म ही सुसुप्ति स्थान है ॥

उस समय स्वप्न जाग्रत्, सुषुप्ति, आकाश जल, पृथिवी अनिल, अग्नि अर्क, आप स्वरूप में नहीं रहते हैं, संसुप्त के समान् एवं शून्य की भाँति सव दृष्ट होते हैं, इस सव के मूल भूत दुरूह रूप ब्रह्म को उन सव के मूल भूत हैं, उन को प्रणाम

" सतश्चागत्य न विदुः " सत् वस्तुसे आकर भी उसे नहीं जाना, इस

तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः
यर्हि संसृति बन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः
मयि तूर्य्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम् ११।१३।२७-२८
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ।।११।३।३६

वाक्य में विचारान्तर उपस्थित करते हैं ।। सुप्त व्यक्ति ही उठता है, अथवा अपर कोई उठता है ? इस प्रकार संशयमें ब्रह्मसम्पन्न व्यक्ति की असम्भावना के हेतु अन्य कोई उठते हैं—इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं ।

कर्म अनुस्मृति, शब्द एवं विधि के द्वारा उस का ही उत्थान वोधहोता है, सूत्रस्थ तु शब्द शङ्का निरास के लिए है, सुप्त ही जागता है,, अन्य नहीं, कारण-कर्मादिके द्वारा वह अवगत हो जाता है, जो मैं सुप्त रहा वह मैं जागगया, ' योऽहं सुप्तः स एव प्रति वुद्धोऽस्मि ' अनुस्मृति के वाद प्रत्यभिज्ञा उक्त प्रकार है । शब्द इस प्रकारहै, व्याघ्र, सिंह व्रक, वराह, कोट पतंग, दंश मशक, जो जैसा था वह वैसाहुआ । अर्थात् निद्राके पहले जो जिसदेह विशेष में था निद्रा टूटने के वाद भी वैसा देहधारी हुआ, इस प्रकार छान्दोग्य श्रुति में वर्णित है ।। आत्मानमेव लोक मुपासीत '' आत्मा की ही लोक समूह उपासना करते हैं । इत्यादि मोक्ष विषयक वृहदारण्यकादि श्रुति वाक्य में विधि है । सुप्त व्यक्ति को मुक्त मानने पर यह सव श्रुति अनर्थक होगी । इस का तात् पर्य्य इस प्रकार है—जैसे लवणजल परिपूर्ण घट के मुख को बाँधकर गङ्गा में डुवोदिया जाता है, एवं पुनर्वार उठाया जाता है, उसी प्रकार वासनावृतजीव सुप्त एवं विरत समस्त करण होकर बिश्राम स्थान ब्रह्म को प्राप्त होने पर भी उस का पुनर्वार भोग के लिए उत्थान होता है । किन्तु वासना रहित जीव की भाँति ब्रह्म सारूप्य प्राप्त नहीं है, अतएव कर्म से यह अवस्था अवगत होती है ।

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति ये तीन वुद्धि की वृत्तिहै, जीव की नहीं है, वे स्वा भाविक भी नहीं है, सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् । प्रस्वापं तमसा जन्तो स्तुरीयं त्रिषु सन्ततमिति-इस प्रकार कथन से गुण से ही ये सव होती है, जीव विलक्षण है, अतएव साक्षी है । मैं जाग गया हूँ—इस की प्रतीति कैसे होगी ? जव गुण वुद्धि द्वारा बन्ध होता है तव ही वोध होता है, अतएव तुरीय पदार्थ मुझ ब्रह्म में स्थित होकर संसृति वन्ध को परित्यागकर, उस समय चित्त भी परस्पर गुण बन्ध को परित्याग करेगा ।

दर्शन स्पर्शनादि ज्ञान शून्य सुषुप्ति साक्षी आत्मा की स्मृति होती है, अवतक सुख से मैं सोया था कुछ भी नहीं जाना ।।

मुग्धेऽर्द्ध संप्राप्तिः परिशेषात् ।३।२।१०

एवं विपर्य्ययं वुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम्
आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रय विलक्षणाम्॥
दृष्ट श्रुताभि र्मात्राभि र्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा
ज्ञान विज्ञान संतृप्तो मद्भक्तः पुरूषोभवेत् ॥६।१६।६१–६२
तत्र तत्र पतन श्रान्तो मूर्च्छितः पुन रुत्थितः ।३।३०।२३
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥३।३१।६

प्रसङ्गवश कुछ विचार करते हैं—मूर्च्छा अवस्था में जीव की ब्रह्मप्राप्ति परि पूर्णहै, अथवा अर्द्धप्राप्तिहै ? इस सन्दर्भमें कहाजा सकता कि सुप्ति विशेष ही मूर्च्छाहै, अतएव सुषुप्ति की भाँति,ही उसमें पूर्ण प्राप्ति है, इस प्रकारवाक्य के उत्तर में कहते हैं—मूर्च्छा अवस्था में जीव की ब्रह्मप्राप्ति अर्द्धमात्र है। दुःखानुसन्धान के कारण सुषुप्तिके समान ब्रह्म प्राप्ति नहींहैं, विषय के अदर्शन के हेतु जाग्रत अवस्था की भाँति अप्राप्ति भी है। किन्तु परिशेष से अर्द्धप्राप्ति है। स्मृति भी इस विषय में में इस प्रकार है—जीव जव ईश्वर से दूर हो जाता है, तव उस की जाग्रदवस्था, होतीहै, समीप अवस्थान में स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में लयहोते हैं। इन तीनों अवस्था का परिशेष मूर्च्छा है। उस में अर्द्धप्राप्ति है, कारण इस अवस्था में दुःखानुभव रहता है।

शरीरस्थ जीव की तीन ही अवस्था है, जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति, मूर्च्छा नामक कोई अवस्था प्रसिद्ध ही नहीं है, यह भी उक्त तीन में ही अन्तर्भाव हीन ठीक है। इस प्रकार कथन ठीक नहीं है; कारण जागर को मुर्च्छा नहीं कह सकते, उक्त अवस्था में इन्द्रिय विषय ग्रहण नहीं करती है, जाग्रत अवस्था में विषय ग्रहण है। स्वप्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह संज्ञा हीन है॥ अतएव सुषुप्ति भी नहीं है, मुख प्रसाद, निष्कम्पका अभाव उस अवस्था में है। अतएव पारिशेष्य नियमसे मूर्च्छा अवस्थान्तरहै, वह लोक में औरवैद्य शास्त्रमें प्रसिद्धहै। जाग्रत स्वप्न आदि निखिल कर्त्तृत्व रूप महिमा जिनकी है, वह श्रीहरि ही सेव्य है, प्रकरणका अभिप्राय भी उक्तरूप ही है।

हम सव स्वहित कर्म में कुशल हैं, इस प्रकार अभिमान् को छोड़कर जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति से विलक्षण आत्मा को जानकर विवेक से इहलोक पर लोक के विषयों का महत्त्वको छोड़कर ज्ञान विज्ञान सुतृप्त श्रीहरि भक्त वने॥

जीव वहाँ पर गिरकर, श्रान्त होकर मूर्च्छित होता है॥ जीव मूर्च्छा को प्राप्त करता है, अत्यन्त क्लेश से ।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।३।२।११

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती र्गोपयोषितः
रेमे स भगवांस्ताभि रात्मारामोऽपि लीलया ।१०।३३।१९

एवं परिष्वङ्ग कराभिमर्श
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः
रेमे रमेशोव्रज सुन्दरीभि
यंथार्भकः स्व प्रतिविम्वविभ्रमः ॥१०।३३।१६

यथेन्द्रियैः पृथग् द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥३।३२।३३

निखिल नियामक रूपसे श्रीभगवान् की महिमा दिखाई गई है, इदानीं बहुधा प्रकाशित होने पर भी श्रीभगवान् अपने स्वरूप के साथ अभिन्नता को परित्याग नहीं कहतेहैं। अतएव अविचिन्त्य स्वरूपता प्रदर्शित होती है, प्रकाश दिवन्नैवं परं इस सूत्र में उनके स्वरूप के विषय में समाधान कियागया है, तथापि वहाँपर अचिन्त्य शक्ति द्वारा युगपद् वहुभाव से भेद प्रतीति का समाधान नहीं किया गया है, श्रुति में उक्त है—एकोऽपि सन् वहुधा योऽवभाति" जो एक होकर भी अनेक प्रकारसे दिखाई पड़ता है। यहांपर संशय यह है कि नाना अवस्था में स्थित भगवान् का नाना रूप एक है, अथवा भिन्न हैं ? स्थान भेद से स्थानी का भेद होने के कारण वे सब भिन्न हैं। परस्पर विलक्षण स्थान संस्थान गुणादि के द्वारा वस्तु में अभेद स्थापन नहीं हो सकता है, जो एक होकर भी ' यह वचन सामान्य अभिप्रायका प्रकाशक है, वास्तविक वहु रूप होनेपर अनेक ईश्वर की आपत्ति होगी, ईश्वर अनेक होने पर उपासक की भक्ति में एकता नहीं होगी ॥ इस प्रकार आपत्ति होनेपर उत्तर में कहते हैं—परम भगवान् का स्वरूप स्थान भेद से भी उभय लक्षण विशिष्ट नहीं है, स्थानी एक विशेष पदार्थ है, अत स्थान भेद से उनका भेद नहीं होता,, हि यस्मात् जिसलिए एक ही स्वरूप अचिन्त्य शक्ति द्वारा युगपद् सर्वत्र प्रतिभात होते हैं। एकोऽपिसन् यह श्रुति भी उक्तार्थ का प्रकाशिका है ॥

भगवद् विभाव योग्य स्थान--विविध लीलायोग्य स्थान को संव्योम शब्द से कहा जाता है, विविध भाव युक्त भी भक्त गण होतेहैं। उन सब में एक ही स्वरूप प्रकटित होता है।

आत्माराम आप्त काम श्रीभगवान् भी जितनी गोपी थीं उतनी संख्या

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२

चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्
गृहेषु द्वचष्ट साहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥१०।६६।२

अपिचैवमेके ।३।२।१३

यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधै
रव्यक्त चिद्व्यक्तमधरायद्धरिः ।
वभूव तेनैव स वामनो वटुः
सम्पश्यतो दिव्यगति र्यथानटः ॥६।१८।१२

में अपने को प्रकट कर लीला पूर्वक विलास किए। वालक की भाँति स्वप्रति विम्व विभ्रम श्रीभगवान् व्रज सुन्दरियों के साथ लीला किये।

जैसे एक क्षीरादि चक्षुद्वारा शुक्ल, रसना द्वारा मधुर, स्पर्श द्वारा शीतल वोध होता है। इसी प्रकार श्रीभगवान् एक होने पर भी मार्ग भेद से अनेक प्रकार प्रतिभात होते हैं।

वहुधावभात होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से भेदाभेद की प्रसक्ति होगी ! अत एव पूर्वोक्त सिद्धान्त समीचीन नहीं है, इस प्रकार कहना ठीक नहीं हैं–क्योंकि 'इन्द्रोमायाभिः पुरु रूप ईयते " वृहदारण्यक की श्रुति में भेद सूचक वाक्य की प्रतीति नहीं है। इन्द्रमाया द्वारा अनेक रूप करते हैं, उनके दशशत वहु अनन्त अश्व है, वे ब्रह्म अपूर्व, अनपर अनन्तर, अवाह्य, आत्मा, व्यापक सर्वानुभूति स्वरूप इत्यादि वाक्यसे वहुधा प्रकाश में भी ब्रह्म की एकरूपता। कही गई है। आश्चर्य्य ही है, एक होकर भी युगपद् द्वचष्ट सहस्र गृह में द्वचष्ट साहस्र स्त्रियों को विवाह किया है।

सूत्रस्थ आदि च शब्द का अर्थ है--किञ्च, अर्थात् और भी, अमात्रा-अनन्त मात्रश्च " एक वेदशाखाध्यायी गण ईश्वर के अमात्र तथा अनेक मात्र रूप वर्णन करते हैं, अमात्र शब्द का अर्थ है— स्वांश भेद शून्य, अनन्त मात्र का अर्थहै—असंख्येय स्वांश एक एवं परो विष्णु सर्वत्रादि न संशयःऐश्वर्य्याद् रूप मेकं च सूर्य्यकीभाँति वहुधेयते इस प्रकार स्मृति कहती है, एक ही विष्णु सर्वत्र अवस्थित है, इस में कोई संशय नहीं है, वे एक रूप होकर भी ऐश्वर्य्य के द्वारा सूर्य्य की भाँति वहुधा प्रकाश को प्राप्तकर एक ही वैदूर्य्यमणि द्रष्टा के भेद से रूप भेद धारण करता हुआ भी तथा अभिनेता नट अनेक रूप कोधारण करता हुआ भी स्वरूप से एक ही है, ठीक उसी प्रकार श्रीहरि एक होकर

अरूपवदेव तत् प्रधानत्वात् ।३।२।१४

स्वच्छन्दोपात्त देहाय विशुद्ध ज्ञान मूर्त्तये
सर्वस्मै सर्ववीजाय सर्वभूतात्मने नमः ।।१०।२७।११

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यम् ।३।२।१५

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः

भी ध्यान भेद तथा कार्य्य भेद से अनेक रूप से प्रतीयमान होते हैं, उन के स्वरूप की एकता का परित्याग नहीं होता हैं ।।

अव्यक्त चिन्मात्र स्वरूप श्रीहरिने परिदृष्ट विभूषण आयुध से शोभित शरीर को धारण किया और देखते देखते उसी शरीर से दिव्य गति नट की भाँति वामन वटु रूप होगये । एक ही विरुद्ध गुणाश्रय पदार्थ का अचिन्त्य शक्ति के बल से एक ही समय में वहुधा प्रकाश होता है, इस प्रकाश समूह में विशुद्ध वुद्धि का उपादान कर गुण रूप से परिचित होता है । अतएव एक ही अचिन्त्य शक्ति सर्वेश्वर भगवान् में भक्ति उपपन्न हुई है ।

अनन्तर श्रीभगवान् के आत्मविग्रहत्व प्रति पादनकरते हैं, आत्मा ही भगवान् का नित्य एकमात्र विग्रह है, विग्रह आत्मा से भिन्न होने पर आत्मा विग्रह के प्रति विशेषण होगा । आत्म विशिष्ट विग्रह में भक्ति विशेषणीभूत है, अर्थात् गौण है, ऐसा नहीं है । क्योंकि उस की प्रधानता का अनुभव होता है, और भी सच्चिदानन्द रूप अक्लिष्ट कारी को " उन एक सच्चिदानन्द-- विग्रह श्रीगोविन्द को " इत्यादि वाक्य अथर्वोपनिषद् में दृष्ट होते हैं, इन सव वाक्यों से ब्रह्म स्वयं ही विग्रह है, अथवा विग्रह विशिष्ट है—इस प्रकार संशय होने पर सच्चिदानन्द ही जिनका रूप वहु व्रीहि समास द्वारा तथा विष्णु की मूर्त्ति " इस प्रकार प्रयोग के बल से वे स्वतन्त्र विग्रह विशिष्ट हैं,–इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में समाधान करते हैं—

ब्रह्म रूप अर्थात् विग्रह विशिष्ट नहीं हैं । वह स्वयं ही विग्रह है । अतः वे अरूप वत् कहा जाता है । सूत्रस्थ 'एवं' शब्द युक्ति निरासके लिए है, ब्रह्म का रूप ही प्रधान है । आत्मा ही उन का रूप या विग्रह है । वह विभुत्व, ज्ञातृत्व तथा व्यापकत्व प्रभृति धर्मो से विशिष्ट धर्म्मी आत्मा है ! अतएव आत्म स्वरूप ब्रह्म आत्म विग्रह से पृथक् नहीं है ।।

निज भक्तों की इच्छा से ही आप शरीर की प्रकट करते हैं, विग्रह ही विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ही है, सर्वरूप, सर्व कारण सर्व भूतात्मा आपको प्रणाम ।।

केवलानुभवानन्द स्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥१०।३।१३

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योति निर्गुणं निर्विकारम् ॥
सत्ता मात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥१०।३।२४

आह च तन्मात्रम् ।३।२।१६

सत्यज्ञानानन्तानन्द मात्रैक रस मूर्त्तयः
अस्पृष्ट भूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद् दृशाम्
एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मयाखिलान्
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति स चराचरम् १०।१३।५४-५५
सत्यं परं धीमहि ॥१।१।१

ज्ञानानन्द रूप परमात्म वस्तु के चिन्तन से विरुद्ध दुःख रूपिणी जड़ प्रकृति की निवृत्ति होती है, अतएव सूत्र कार ब्रह्म में विग्रहवत्त्व कैसे स्वीकार करेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—प्रकाश विशिष्ट रवि के समान ब्रह्म का विग्रह व्यर्थ नहीं है। शङ्का निरास के जिए सूत्रस्थ 'च' शब्द है ॥ प्रकाश शब्द के उत्तर 'इव' अर्थ में 'वति' प्रत्यय के द्वारा प्रकाश वत् शब्द निष्पन्न हुआ है। जिस प्रकार स्वरूप सूर्य्य में ध्यानार्थ विग्रह संगत होता है, उसी प्रकार ज्ञानानन्द स्वरूप ब्रह्म में ध्यान के लिए यह विग्रह स्वीकार करना युक्तहै, विग्रहके विना ध्यान होना असम्भवहै, क्योंकि विग्रह ही ध्यान का कारण है, विरहिणी अपने कान्त का ध्यान करती है, यहाँपर ध्यान विग्रह विषय में देखा गया है ॥

आप विहित है, आप साक्षात् पुरुष एवं प्रकृति से अतीत हैं साक्षात् प्रत्यक्षीभूत आप हैं क्योंकि आप साक्षात् केवल अनुभवानन्द स्वरूप है, सर्व बुद्धिदृक् हैं, वेद जिन का अनिर्वचनीय स्वरूप वर्णन करते हैं, अव्यक्त आद्य कारण, ब्रह्म-सर्व बृहत्-चेतन, प्राकृत गुणातीत, निर्विकार सत्तामात्र विशेष कारण रूप वस्तु साक्षात् विष्णु तुम ही हो,, अध्यात्मदीप वुद्धचादि करण सङ्गति प्रकारक भी तुम ही हो, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण निर्विकार शब्द से प्रकाश गुण एवं विकार द्वारा अभिव्यक्ति का निरास हुआ है, एवं सत्ता मात्र है, क्रिया से अभिव्यक्ति नहीं होते हो, इस प्रकार साक्षात् विष्णु तुम ही हो ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ।३।२।१७

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तड़िदम्बराय
गुंजावतंस परिपिच्छ लसन् मुखाय,,
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥१०।१४।१
अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य ॥१०।१४।२

ध्यान के लिए सत्य तत्त्व को ही स्वीकार किया जाता है, उस विषय में प्रमाण प्रदर्शन करते हैं। श्रुति में विग्रह को ही परमात्मा कहा गया है, अतएव यह विग्रह सत्य हैं, अबधारणार्थक मात्र शब्द है, गोपालतापनी उप निषत् में उक्त है—ब्रह्म सत् पुण्डरीक की भाँति नयन नवीन नीरद श्याम, विद्युद् वसन द्विमुज मौन मुद्रायुक्त वनमालाधारी ईश्वर को वर्णन किया गया है, यहाँपर पुण्डरीकाक्षत्वादि धर्म युक्त सविग्रह ही ईश्वर हैं, यहाँपर सत्यपुण्डरीकाक्षत्वादि धर्म सविग्रह है, एवं ईश्वर भी सविग्रह ही हैं, ईश्वर में देह देही भेद नहीं है। स्मृति भी कहती है, देह है, देही है, ईश्वर में देह देही कुछ भी कभी भी भेद नहीं है, यहाँपर देह से भिन्न देहसे भिन्न देही नहीं है, इस प्रकार भेद ईश्वर में नहीं हैं, किन्तु देही ही देह हैं।

समस्त श्रीभगवत् स्वरूप मूर्त्तिमत् होनेपर भी कुछ विशेष है,, उस को कहते हैं—मूर्त्ति सत्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप अनन्त स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप है। सदाएक रूप रस मूर्त्ति ही है। अतएव उपनिषद् आत्मज्ञान रूप चक्षु द्वारा उन सव मूर्त्ति देखी नहीं जातीं है। अपने एकवार में ही अखिल रूपों को दिखलाये है। क्योंकि जिन के संकल्प से यह विश्व विलसित है। परम सत्य वस्तु श्रीकृष्ण का हम सव ध्यान करें॥

श्रुति परमात्मा को सविग्रह वर्णन करती है, 'प्रकृति से अतीत साक्षात् आत्मस्वरूप श्रीगोपाल रूप से पृथ्वी में अवतीर्ण हुए ? गोपाल शब्द-परम कमनीय पाद मुखादि विशिष्ट--अभ्रश्याम--सर्वेश्वर तत्त्व में मुख्य है। प्रथम गोप वेश अभ्राभ तरुण, कल्पद्रुमाश्रित इस प्रकार की उक्ति है सन् पुण्डरीक नयन इत्यादि भी वर्णितहै। आत्मा ही विग्रहहैं, ईश्वर परम कृष्ण सच्चिदानन्द विग्रह इस वाक्य से उक्तार्थ उपलब्ध होता है अथ शब्द कात्स्न्र्य अर्थ में हे, दोनों सूत्रों से व्यति हार लिखलाया गया है, विग्रह ही आत्माही आत्मा ही विग्रह है, यह मूर्त्ति राग की भाँति भक्ति भावित अन्त करण में प्रति भात होती है।

अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ।३।२।१८

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीड़ौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि वलेन भूयान् ॥११।११।६

विदितमनन्तसमस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्
विज्ञाप्य परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ।६।१६।४६

ब्रह्मा जी यथा दृष्ट स्वरूप की स्तुति करतेहैं, हे ईड्य ! स्तुत्य ! आप को नमस्कार करता हैं। इस प्रकार भगवान् की ही प्रयोजनीयताहैं। आपको प्रसन्न करने के लिए ही आप को प्रणाम करता हूँ। मेघ के समान वपु तड़ित् की भाँति वस्त्र, गुन्जा द्वाराकर्ण भूषण, मयूर पुच्छ द्वारा शिरोभूषण आदि मुखार विन्द अति सुशोभितहै, वनमालासे वक्षः स्थल शोभित, कवलादि आदि से शोभित,कोमल चरण कमल एवं पशुप के अङ्गज को मैं प्रणाम करता हूँ।

हे देव यह वपु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वात्मक स्वसुखानुभवमात्र-गुणातीत एवं स्वेच्छामय हैं, कोई भी व्यक्ति भक्ति के विना मनसंयम के द्वारा इस वपु को जान नहीं सकता।

भजन कारी से भजनीय का भेद है, अन्यथा स्वाभेद प्रतीति होनेपर अपने में आराध्यत्व वुद्धि न होने के कारण भक्ति नहीं होगी, पूर्वमें अनेकधा उपास्य उपासक का भेद प्रति पादन किया गया है, तथापि प्रतिविम्व शास्त्र विभ्रान्त कुछ व्यक्ति उपास्य उपासक को अभिन्नमानते हैं। उस का निरास करने के लिए कहते हैं। आनन्द चिन्मूर्त्ति परमात्मा कदाचिद् अवस्थाभेद से जीव हैं, अथवा जीव से भिन्न वह हैं ? परमात्मा ही जीव है, और प्रति विम्वित होकर ही जीव होते हैं, इस लिए वुधगण कहते हैं—दर्पणाभिहिता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननमाव्याप्नुवत्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन् भुखम्। दर्पण के सामने मुख लगानेपर मनुष्य अपना मुख देखता हैं, दृष्टि दर्पण में प्रतिहत होकर मुख को विषय करती है। इस प्रकार परमात्मा ही अविद्या के योग से जीव होता है—इस प्रकार पूर्वपक्ष को निरास करने के लिए कहते हैं—

परमात्मा से जीव अन्य होने के कारण ही सूर्य्यकादिवत् शब्द द्वारा परमात्मा के साथ जीव की उपमा दी गयीहै, अभेद में विम्वप्रति विम्वभाव नहीं होता है। ऐसा होनेपर वह्नि की छाया से दाह तथा खड्गाभाससे छेदन

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ३।२।१९

एकस्यैव ममांशस्थ जीवस्यैव महामते
बन्धोऽस्याविद्ययानादि विद्ययाचतथेतरः ।।११।११४

भी हो सकता हैं। इस प्रकार स्थल में सादृश्य सम्भव नहीं होता है। भेद हेतु समूह का समुच्चय हुआ है, अतएव परमात्मासे जीव अन्य है।

सुपर्णौ—वृक्ष से पक्षिगण जैसे पृथक् होतें हैं, वैसे देह से जीव परमात्मा पृथक् हैं। दोनों चिद्रूप है, और वियोग रहित सखा है, देह रूपी वृक्ष में दोनों हृदय देश में रहते हैं, जीव स्वकर्म फल का भोग करता है, अन्य ईश्वर अभोक्ता होकर निजानन्द से तृप्त होते हैं ज्ञानादिशक्ति द्वारा ही जीव से अधिक, हैं।

आप अन्तर्य्यामीहैं, आपके विषयमें क्या कहूँ। विशेष रूप से प्रकाश के लिए कुछ भी नहीं है, जैसे खद्योत सूर्य का कुछ भी प्रकाशन नहीं कर सकता ।।

उक्त उपमा के द्वारा जीव और ब्रह्मका भेद हो सकता है, किन्तु चिदाभास है। अतएव जलस्थिति सूर्याभास को जिस प्रकार सूर्य्य कहा जाता है, उसी प्रकार अविद्या से परमात्मा के आभास को ही जीव बोला जा सकताहै? इस के उत्तर में कहते हैं।

सूत्रस्य 'तु' शब्द अवधारणार्थक है। षष्ठयन्तात् सप्तम्यन्ताद्वा वति प्रत्यय है। दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक वैषम्य होने के कारण सूर्य्य प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से जीव ब्रह्मका अविद्या प्रतिविम्वाभास नहींहै। सूर्य विदूरगतहैं, परिच्छिन्न हैं, तथा दृष्ट हैं, उनका विदूरगत जलमें प्रति विम्वाभास हो सकता है, किन्तु परमात्मा का प्रतिविम्वाभास जीव न हो सकता है। परमात्मा दृष्ट तथा परिच्छिन्न नहीं है, अर्थात् विभु हैं, श्रुति भी कहती है—अलोहित मच्छाय हैं, परमात्मा अलोहित और अच्छाय हैं। आकाश दृष्टान्त भी नहीं हो सकता है, आकाश गत परिच्छिन्ना ज्योति रंश ही प्रतिविम्व रूप से प्रतिभात होता है। अन्यथा दिक् आदि का प्रतिविम्व होने लगेगा, शब्द भी दृष्टान्त नहीं हो सकता है, क्योंकि परमात्मा, तथा जीव शब्द ही समता का विघटक है।। विम्व प्रतिविम्ब जीव नहीं है।

अच्छा—आत्माके साथ अभेद न होनेपर जीव नामक कोई अन्य पदार्थ है? कैसे बन्धमोक्ष सुख दुःखादि व्यवस्था भी होती है? उत्तर में कहते हैं—ममांशस्य—एकमात्र मेरा ही शक्तिरूप अंश जीव है, स्वतन्त्र रुचि के कारण ईश विभुखता से अनादि अविद्या ग्रस्त होताहै, वह ही उस का बन्ध है, और

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्।३।२।२०

यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतोगुणः
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनोगुणः ॥३।७।११

दर्शनाच्च ।३।२।२१

साध्वेतत् व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः
आभात्यपार्थं निर्म्मूलं विश्वमूलं न यद्वहिः ॥३।७।१६

ईश उन्मुख होने से विद्या से मोक्ष होता है ॥

अनन्तर शास्त्र संगति का प्रदर्शन करते हैं—प्रतिविम्व शास्त्र में मुख्य वृत्ति से वह दृष्टान्त प्रयुक्त नहीं हुआहै। किन्तु गौण वृत्ति द्वारा उसका प्रयोग हुआ है, पूर्व सूत्र में विम्व प्रतिविम्व भाव का सादृश्य निराकृत होने पर भी वृद्धि ह्रासादि कुछ साधर्म्य होने से गौण साधर्म्म का स्वीकार किया गयाहै। क्योंकि इस अंश में शास्त्र तात्पर्य्य की परिसमाप्ति की गयी है, वह इसप्रकार जानना होगा। सूर्य्य स्वतन्त्र है, उस के प्रतिविम्व जलस्थ जलादि धर्म योग से ह्रास वृद्धि को प्राप्त करता है, यह सव ही परतन्त्र है, परमात्मा विभु है। प्रकृति धर्म से अस्पृष्ट है,, स्वतन्त्र भी है, उन के शक्ति रूप अंश जीव अणु स्वरूप है एवं परतन्त्र है॥ अतएव यह उपमा परमात्मा से भिन्न एवं उन के अधीन होने के कारण सादृश्य धर्मसिद्ध होती है। न तो उपाधि प्रति फलित रूप आभास द्वारा होते हैं। अतएव निरुपाधि प्रति विम्व जीव है, वह पैङ्गि श्रुति का मत है॥

सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिविम्व द्विधेष्यते।
जीव ईशस्यानुपाधिरिन्द्रचापोयथारवेः॥

ईश्वर केलिए क्यों नहीं उक्त अवस्था होती है? कहते हैं यथा जल में प्रतिविम्वित चन्द्रमा के जलोपाधि कृत कम्पादि धर्म दिखाई देते हैं। उसी प्रकार अनात्मा देहादि का धर्म असत्य होने पर भी तदभिमानी द्रष्टा आत्मा जीव का ही है। ईश्वर का नहीं है॥

सिंह देवदत्त इत्यादि प्रयोग समूह विवक्षित साधर्म्यांश को अवलम्वन करके होता है। अतएव गौण वृत्ति द्वारा ही उक्तार्थ सङ्गति होगी।

हे विद्वन्! आपने अति उत्तम कहा। श्रीहरि की आत्म माया जो जीव पर प्रभाव विस्तार करती है, तदाश्रित होने के कारण ही जीव में दुर्भग त्वादि आ जाते हैं। ईश्वर स्वतन्त्र हैं। और जीव परतन्त्र। निर्म्मूल वस्तु

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।३।२।२२

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ॥
मनोऽग्रयाणं वचसानिरुक्तं नमाम हे देववरं वरेण्यम् ॥
विपश्चितंप्राणमनोधियात्मनामर्थेन्द्रियाभासमनिन्द्रमव्रणम् ॥
छायातपौ न यत्र गृध्रपक्षौ
तमक्षरं स्वं त्रियुगं व्रजामहे ॥८।५।२६-२७
सत्यस्य सत्यम्- १०।२।२६

की प्रतीति होनी लगती है। अतएव इस का मूल ही अज्ञान है॥

संशय यह है कि—परमात्मा के समान जीव चेतन नहीं है, किन्तु चेतनाभास है, बृहदारण्यक में " द्वे वाव मन्त्र द्वारा ब्रह्मेतर वस्तु का निषेध किया गया है। यहाँपर कथित है कि—ब्रह्म के दो रूप है-मूर्त्त और अमूर्त्त, यथाक्रम ये दोनों भूतमय और इच्छामय है। इसका अभिप्राय यह है कि–स प्रपञ्च मूर्त्त अमूर्त्तत्वादि रूप निरूपण के अनन्तर जिस से उनके परिज्ञान से वढ़कर अन्य श्रेय नहीं है, इस लिए नेति नेति शब्द का आदेश है। नेति नेति शब्द से उपदेश्यमान ब्रह्म ही वोध का विषय है, ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, इस लिए उस का नाम सत्य है। ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है एवं ब्रह्म से अन्य कोई नहीं है, इसलिए नेति नेति कहती है। ब्रह्म प्रपञ्च से विल क्षण हैं, समस्त भ्रम का अवधिभूत सन्मात्र ब्रह्म स्वरूप है, जीव पृथक् नहीं है, ब्रह्म ही अविद्या प्रति विम्वित होकर जीवरूप होता है, जीवात्मा परम् आत्माका भेद कल्पित है, ऐसी आशङ्काके निराकरण के लिए सिद्धान्त सूत्र कहते हैं, उक्त श्रुति द्वारा एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना के साथ ब्रह्मेतर पदार्थ का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु प्रथम किञ्चित रूप वर्णन कर उस की सीमा का निषेध किया गया है, पूर्वोक्त श्रुति ने ब्रह्म के जो मूर्त्त अमूर्त्त दो रूप कहे हैं, इनदो संख्या के द्वारा ही उस की सीमा प्रत्याख्यात होती है, यहाँपर प्रकृत रूप का प्रत्याख्यान नहीं किया गया हे, प्रतिषेध के वाद भी प्रचुर रूप से उस के सत्य नामादि रूप कहे गये हैं। अतएव मूर्त्त रूप निरूपण के वाद अपरिमेय ब्रह्म रूप के व्याख्यान के लिए नेति नेति वाक्य है। इति शब्द समाप्ति अर्थ है, इयत्ता के निषेधके लिए नेति शब्दका प्रयोग है, मूर्त्तादि लक्षण के अतिरिक्त ब्रह्म के नामादि लक्षण की भी इयत्ता नहीं है, इस अथ

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२३

अजस्य चक्रं त्वजयेर्ष्यमाणं
मनोमयं पञ्चदशारमाशु ॥
त्रिनाभिविद्युच्चलमष्टनेभि
यदक्षमाहु स्तमृतं प्रपद्ये ॥८।५।२८

की व्याख्या न ह्येतस्मात् श्रुति करती है, नाम रूप प्रभृति ब्रह्म के सब कुछ ही इयत्ता रहित है, सत्य का सत्य जो नाम वह ब्रह्म का स्वरूप है, उस की निरुक्ति प्राण ही सत्य है, प्राण शब्द से प्राणी समूह को जानना होगा, रूप शब्द से विशेष का बोध होता है, यहाँपर प्राकृत-अप्राकृत विशेषण विशिष्ट ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है, ब्रह्मेतर वस्तुका प्रतिषेध नहीं हैं ॥ मूर्त्तामूर्त्त ही प्राकृत है, माहारजनादि अप्राकृत है, प्राण शब्दित जीव ही सत्य शब्द वाच्य है, क्योंआकाशादि की भाँति जीव के स्वरूप में अन्यथाभाव नहीं है, तो भी उन से ब्रह्म का भी सत्यत्व स्वीकार किया जाता है, ब्रह्म में जीव की भाँति ज्ञान का संकोच विकाश रूप परिणाम नहीं है, जीव नित्य चेतनात्मक है, उन से विलक्षण अनन्त कल्याणगुण गण परमात्मा है, अतएव उन में भक्ति करना उचित है। रूप मात्र निषेध में यदि श्रुति का तात्पर्य्य है, तो माहारजन हरिद्रावर्णादि अलौकिक रूप का स्वयं उपदेश करने के वाद निषेध करने से उन्मत्त प्रलाप ही होगा। सूत्र कार भी " एतावत्व" शब्द का प्रयोग कर असमीक्ष्य कारिता दोषलिप्त हो जाते। अन्यथाजो इस रूप का प्रतिषेध करता है इस प्रकार सूत्र वे निम्र्माण करते, अतएव यथोक्त सिद्धान्त ही समीचीन है॥

हे देव श्रेष्ठ आप को प्रणाम, आप सत्य है,, अविक्रिय है, अनन्त आद्य अनादि है, आद्यन्त की ही वृद्धयादि विक्रिया होती है, सर्वान्तिर्गत भी आप ही है, निरूपाधि स्वरूप अप्रतर्क्य भी है, कारण, मनसे भी गति शील है, मन के प्राप्य स्थान में पहले से ही विद्यमानरहते हैं। श्रुति—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत् यद् धावतो ऽन्यानत्येति तिष्ठदिति वचसा अनिरुक्तं अविषयत्वात् यद् वाचा नाभ्युदितं येन वागम्युद्यते इति श्रुतेः आत्मा देह अहङ्कार प्राण प्रभृति के ज्ञाता आप ही है, विषय एवं विषय ग्राहक इन्द्रिय रूप में आप प्रति भासित होते हैं, आप अज्ञान रहित हैं अव्रण अदेह अक्षर आकाश के समान व्यापक हैं, जिस में जीव पक्ष पाती छायातप अविद्या विद्या नहीं है, तोनों युगों में आविर्भूत स्वरूप की शरण लेता हूँ। आप सत्य का भी सत्य हैं।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२४

त्वं भक्ति योगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षित पथो ननु नाथ पुंसाम्
यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥३।६।११

अनन्तर ब्रह्म का प्रत्यग्रूपत्व का प्रति पादन करते हैं, अन्यथा घटादि के समान सर्वत्र सुलभ होने के कारण उनमें भक्ति नहीं हो सकतीहैं, सच्चिदा नन्द रूपाय श्रुति कहती है, संशय हैं कि विग्रहात्मक रूप से पर ब्रह्म ग्राह्य है, अथवा सर्व व्यापक रूप से ? सुर-मनुष्य आदि के उन को विग्रह रूप कहना ही ठीक है इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं। ब्रह्म व्यापक है—न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनमिति कठ श्रुति कहती है उन का रूप सन्मुख में स्थिर नहीं होता है, उन का दर्शन चक्षु द्वारा नहीं किया जाता है। अगृह्यो नहि गृह्यते श्रुत्यन्तर में है वे अग्राह्य है, उनको इन्द्रियों का विषय नहीं किया जाता है, स्मृति में ब्रह्मको अव्यक्त अक्षर और परमगति रूप में निर्द्देश किया गया हैं।

अविक्रियआदि द्वारा सर्वज्ञत्वादिद्वारा सत्यत्व वरेण्यत्व कहा गया है, सम्प्रति संसार चक्राधार रूप से भी उक्त रूप को पुष्ट करते हैं—अज जीव उस का चक्रवत् आवर्त्तमाण वेहादि के स्वीय माया द्वारा निर्माण करते हैं, उन सत्य की शरण लेता हूँ। वह चक्र मन प्रधान है, दशेन्द्रिय पञ्च प्राण ये पञ्चदश आरा हैं, त्रिगुणनाभि है, विद्युत् के समान चञ्चल अष्ट प्रकृति आवरण है।

उक्त सूत्रस्थ अपिशब्द गर्हा अर्थमें प्रयोग हुआ है; अर्थात् यह पूर्व पक्ष निन्दनीय है। संराधन में सम्यक् भक्ति होने पर श्रीभगवान् चक्षु आदि से प्रत्यक्ष होते हैं। श्रुति स्मृति संवाद से यह ज्ञात होता हैं, कठोपनिषद् में उक्त है—ब्रह्मा जीने समस्त इन्द्रियों का सृजन् वहिर्वस्तु ग्रहण के लिए ही किया है, इस लिए अन्तरात्मा का देख नहीं पाता, कोई धीर व्यक्ति अमृतत्व प्राप्त इच्छु होकर वहिर्विषयों का महत्व नहीं देता है, अन्तमुखी होकर परमात्मा का दर्शन करता हैं, मुण्डक उपनिषद् में कथित है, विशुद्ध भक्ति के द्वारा ध्यान कर परमात्मा का दर्शन करते हैं, विद्वान् भक्तों से परमेश्वर दृष्टहोते हैं, मुण्ड कोपनिषद् का कथन है। गीता में कहा है—हे अर्ज्जुन ! वेदाध्ययन, दान, तप, यागयज्ञ द्वारा इस प्रकारमें दृष्ट नहीं होता हूँ जिसको तुमने देखा है। मैं

प्रकाशवच्चावैशेष्यात् ।३।२।२५

नातः परं परम यद् भवतः स्वरूप–
मानन्दमात्र मविकल्पमविद्धवर्च्चः ॥
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्
भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ३।९।३

प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२६

तद्वा इदं भुवन मङ्गलमङ्गलाय
ध्याने स्म नो दरशितं त उपासकानाम् ॥
तस्मै नमो भगवतेऽनु विधेम तुभ्यं
योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥३–९–४

अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार दृष्ट होता हूँ। इस लिए अनन्य भक्ति द्वारा श्रीहरि ग्राह्य हैं, यह सिद्धान्त हुआ है, भक्ति भावित चक्षु आदि से ही श्रीप्रभु दृष्ट होते हैं।

आप भक्तियोग परिभावित हृदय कमल में निवास करते हो, श्रवण से ही आप दृष्ट होते हो, श्रवण को छोड़कर भक्त मन से जो भी रूप ध्यान करता है, आप स्वेच्छा से उन उन स्वरूप को प्रकट करते हो, सद् भक्त को अनुग्रह करने के लिए ऐसा करते हो ॥

न कार का अनुवर्त्तन सूत्र में पूर्व से हुआ है, प्रकाश--वह्नि सूक्ष्म रूप से अव्यक्त स्थूल रूप से दृश्य है, ठीक उसी प्रकार परमेश्वर है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान परमेश्वर का स्थूल सूक्ष्म रूप नहीं है, श्रुति भी कहती है, परमेश्वर स्थूल नहीं है, अणु नहीं है स्मृति में उक्त है— परमेश्वर स्थूल सूक्ष्मादि विशेष नहीं है, वे सर्वत्र सर्वरूप में प्रकाश मान है तथा अज हैं। हे परम ! आप अविद्धवर्च्चः--अनावृत प्रकाश है, अतएव अविकल्प निर्भेद रूप है, अतएव आनन्द मात्र है, इस प्रकार ही आप का स्वरूप है इस प्रकार रूपसे भिन्न रूप नहीं देखताहूँ, किन्तु यह रूप ही देखता हूँ। इस लिए इस रूप की उपासना करता हूँ। आप विश्व स्रष्टा हैं इस लिए विश्व से भिन्न हैं, भूतेन्दिय तथा आत्माका भी कारण हैं, अतः इस से भी आप भिन्न हैं ॥

सम्यक् भक्ति से भी परमेश्वर दृष्ट नहीं हो सकते हैं, क्योंकि सम्यक्

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ।३।२।२७

येतु त्वदीय चरणाम्बुजकोषगन्धं
जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ॥
भक्त्या गृहीतचरणपरया च तेषां
नापैषि नाथ हृद्याम्बुरुहात् स्वपुंसाम् ३-९-५

भक्तिमान् का भी भगवतः दर्शन नहीं होता है ? इस शङ्का का निरास करने के लिए कहते हैं--शङ्का निवारण के लिए सूत्र में 'तु' शब्द है। ध्यानादि सह कृत पूजादि कर्म के अभ्यास से ही उनका प्रकाश होता है, ब्रह्मोपनिषद् में उक्त प्रकार उक्ति है। अभ्यास से स्नेह होता है„ उस के अनन्तर दर्शन होता है, आराधना करके कोई भी व्यक्ति उनको प्रकाश कर सकता है, क्योंकि वह नित्य अव्यक्त परमात्मा सनातन है, इत्यादि स्थल में स्नेह विहीन आराधना से वे अव्यक्त हैं, वे वास्तविक स्नेह युक्त आराधना से व्यक्त होते हैं।

आप सोपाधिक अर्वाचीन नहीं है, हे भुवन मङ्गल ! कारण आप हम सब उपासक के मङ्गल के लिए ध्याने में दृष्ट हुए हैं, हम सब आप की अनुवृत्ति करेंगे। सब व्यक्ति मेरा अनु वर्णन क्यों नहीं करते हैं ? कुतर्क निष्ठ निरीश्वर वाद से आच्छिन्न वुद्धि युक्त व्यक्तिगण आप का आदर पूर्वक अनुवर्त्तन नहीं करते है। और नरकगामी होते हैं।

'प्रत्यङ्' स्वरूप ईश्वरकी अभिव्यक्ति कथन विरुद्ध होता है, साक्षात्कार के साधन सूचक वचनों की व्यर्थता होती है और व्यापकता की हानी होती है। इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—

व्यापकत्व और ध्यान गोचरत्व दोनों के प्रामाण्य के कारण अनन्त अपरिच्छिन्न और सर्वव्यापक होने पर भी भगवान् भक्ति द्वारा प्रसन्न होकर अपने भक्तों के समीप अपने को प्रकट करते हैं, इस में उन की अचिन्त्य शक्ति एकमात्र कारण है, अथर्व श्रुति में कथित है—विज्ञान घन„ आनन्द घन सच्चिदानन्द एकरस होकर भी भक्ति योग में अवस्थान करते हैं, कृपा से ही भक्तों में उन की अभिव्यक्ति है, स्मृति में कथित है, नित्य अव्यक्त होनेपर भी निज शक्ति से अभिव्यक्त होते हैं, नहीं तो श्रीभगवान् का कौन दर्शन कर सकता है, गीता में भी उक्त है—मैं अव्यक्त होकर भी अपनी कृपा शक्ति द्वारा व्यक्त होता हूँ। वुद्धि हीन लोक मेरा इस भाव को नहीं जानते हैं, प्रेम के द्वारा ही उन की अभिव्यक्ति होतीहै, कथन से व्यापकता की हानि नहीं होती है, क्योंकि प्रेम वस्तु श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति की वृत्ति है, प्रेम विहीन

उभयव्यपदेशात्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२८

त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त
आनन्द मात्र उपपन्न समस्तशक्तौ
भक्ति विधाय परमां शनकैरविद्या
ग्रन्थिं विभेत्स्यति ममाहमिति प्ररूढ़म् ।४।११-३०
यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
मायावलं दर्शयता गृहीतम् ।।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परंपदं भूषणभूषणाङ्गम् ।।३।२।१२

व्यक्ति में उन की अभिव्यक्ति आभास रूप होती है । गीता में कथित है—"मैं योग माया समावृत होकर सर्वत्र प्रकाश नहीं हूँ ।।" अतएव परमानन्द रूप श्रीभगवान् कभी कभी दारुण रूप में दृष्ट होते हैं, इस प्रकार प्रतीति के कारण एवं अगोचर होने के कारण प्रेम विहीनता हैं, अतएब प्रेमेतर कारण द्वारा अग्राह्य ही व्यापकता है ।

जो लोक आदर पूर्वक भजन करता है बह कृतार्थ है, श्रुति वेदादि शास्त्र का श्रवण आदर पूर्वक करने से उन के हृदय से आप कभी भी निकलते नहीं । अर्थात् जो जन श्रीभगवत् कथा श्रवण अति आदर पूर्वक करता है उन के हृदय में श्रीभगवान् नित्य प्रकाशित होते हैं ।।

सम्प्रति स्वरूप से गुणों के अभेदत्व प्रति पादन करते हैं, भेद स्वीकार करने से श्रीभगवान् की भक्ति गौण हो जाती है, भक्ति गौणी नहीं है, भक्तों में भक्ति का प्राधान्य अनुभूत होता है, ब्रह्म विज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्व रूप है। वह सर्वज्ञ सर्ववित् है, श्रुति कहती है, 'ब्रह्म के आनन्द को जानना होगा यहाँपर संशय है कि भजनीय ब्रह्म ज्ञानानन्द हैं ? अथवा ज्ञानानन्दी ? अर्थात् ब्रह्म गुण स्वरूप है, अथवा गुणी स्वरूप है ? वाक्य दो प्रकार है अत: कुछ निर्णय नहीं होता है ! इस के उत्तर में कहते हैं—

अहि कुण्डल के समान उभय व्यपदेश है, ब्रह्म ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप होकर भी ज्ञान रूप एवं आनन्दरूप धर्म विशिष्ट होते हैं । अहि कुण्डल उदाहरण है, सर्प कुण्डलात्मक होनेपर भी कुण्डल को विशेषण कहा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानात्मक होने पर भी ज्ञान आनन्द को उन का विशेषण रूप से प्रयोग किया जाता है । श्रुति में उभय रूप का अभिधान

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥३।२।२६

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्मज्योति निर्गुणं निर्विकारम् ॥
सत्ता मात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥१०।३।२४

पूर्ववद्वा ।३।२।३०

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः
केवलानुभवानन्द-स्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥१०।३।१३

ह। 'तु' शब्द से ये सब श्रुति मात्र गम्य है। ब्रह्म की शक्ति अचिन्त्य होने के कारण इस प्रकार प्रतीति होती है, दोनों प्रकार वाक्य के उपलम्भ से किसी एक पक्ष का ग्रहण नहीं होगा। उभय पक्ष ही सत्यहै। ब्रह्म स्वरूप का स्वगत भेद अस्वीकृत ह।

प्रत्यगात्मा भगवान् अनन्त समस्त शक्ति युक्त आनन्द मात्र में भक्ति करने से मम अहं इत्यादि अविद्या ग्रन्थि नष्ट हो जायेगी।

मर्त्य लीलोपयिक रूप को आपने प्रकट किया है, उद्देश्य अपनी स्व रूप शक्ति का प्रभाव प्रदर्शन करना है, सुभगता वृद्धि ऐसी हुई जिस से स्वयं विस्मित हो जाते हैं, श्रीअङ्ग भूषणोंको भी भूषित करने की शक्ति रखते हैं॥

ब्रह्म तेज स्वरूप तथा चैतन्य स्वरूप होने के कारण प्रकाश आश्रय की भाँति उन के स्वरूप का निर्णय नहीं किया जा सकता है। प्रकाशात्मा सूर्य्य जिस प्रकार प्रकाश का आश्रय होताहै, उस प्रकार ज्ञानात्मा श्रीहरि भी ज्ञान का आश्रय होते हैं, अविद्या विरोधी तथा तिमिर विरोधी वस्तु को तेज कहा जाता है। वेदगण एक वस्तुका वर्णन करते है, वह वस्तु अव्यक्त है, आदि कारण है, वृहत् ब्रह्म है ज्योतिः—चेतन स्वरूप है, प्राकृत गुण शून्य तथा विकार रहित है, शक्ति विशेष परिणामी नहीं है, किन्तु सत्तामात्र है, एवं निर्विशेष है, सन्निधिमात्रेण कारण है, इस प्रकार कार्य्य कल्प्य वस्तु ही आप विष्णु हो, अपरोक्ष भी हो अध्यात्मदीप वुद्धयादि करण सङ्घात प्रकाशक हो, प्रकाश, गुण, विकार, देश, क्रिया, से अभिव्यक्त नहीं होते हो केवल स्नेहमयी भक्ति से ही प्रकट होते हो॥

जैसे पूर्व काल कहने पर एक हो काल अवच्छेदय अवच्छेदक रूप से प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान आनन्द ब्रह्म का धर्म होने पर भी धर्मी

प्रतिषेधाच्च ।३।२।३१

विशुद्ध सत्त्वं तव धामशान्तं
तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।।
मायामयोऽयं गुण सम्प्रवाहो
न विद्यते तेऽग्रहणानुवन्धः ।।१०।२७।४
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धविज्ञानमूर्त्तये
सर्वस्मै सर्ववीजाय सर्वभूतात्मने नमः ।।१०।२७।११

ब्रह्म रूप से प्रतीत होते हैं। स्मृति में उक्त है—ब्रह्म आनन्द से भिन्न न होने पर भी ब्रह्म का आनन्द इस प्रकार व्यवहार होता है, इस प्रकार काल का भी है।

आप साक्षात् प्रकृत्यतीत पुरुष है, केवल अनुभवानन्द स्वरूप हैं, सव वुद्धि द्रष्टा हैं, इस प्रकार होकर भी मेरा नयनानन्द विस्तार कर रहे हैं।।

सूत्रस्थ च अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। श्रीहरि में गुण गुणी भेद सर्वशास्त्रों में निषिद्ध हैं। ब्रह्म में गुण आदि को उन से पृथक् देखने से संसार होता है, यह कठ श्रुति में उक्त स्मृति में उक्त है—परमेश्वर दोषों से रहित पूर्णगुणमय विग्रह विशिष्ट, आत्म तन्त्र„ जड़मय शरीर गुणों से हीन हैं, उनके कर चरण मुख उदरादि सकल अवयव आनन्द मात्र है, वे सर्वत्र स्वगत भेद से रहित हैं, इन सकल निषेध वाक्यों के कारण ईश्वर के स्वरूप से गुणों का भेदस्वीकार करना अयुक्तहै, ज्ञान आनन्दादि गुण समूह की भगवत् शब्द वाच्यता सुनने में आतो है, अशेष ज्ञान ऐश्वर्य्य शक्ति, बल, वीर्य्य, और तेजः समूह भगवद् वाच्य हैं, हेयगुण समूह भगवान् में नहीं है, जैसे भेद न रहने पर भी जल और तरङ्ग में भेद स्वीकार किया जाता है, ठीक वैसे ही रसावस्थ भगवान् का रसानन्द तथा उल्लासात्मक श्रीविग्रह स्वीकृत है, विशुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित होने के कारण भगवत् सम्वन्धि विग्रह आदि सव ही नित्य है। गुण गुणी का भेद न रहने पर भी विशेष पदार्थ के द्वारा परस्पर भेद कहा जाता है, विशेष भेद का प्रतिनिधि है। भेद के अभाव में भेद का कार्य्य निर्वाह करता है, इस से सत्ता सती, काल सर्वदा है, यह व्यवहार होता है, यह भ्रमात्मक नहीं घट है कहने पर सत् पदार्थ की सत्ता प्रतीति है, वैसे ही उन की उक्ति है, आरोप भी नहीं है, देवदत्त सिंह और सत्ता सती वाक्य से एक प्रकार वोध नहीं होता है, सत्ता आदि में अन्य पदार्थ न रहने के कारण वैसा कहा जाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वभाव मानकर

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३२

एक स्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यःस्वयंज्योति रनन्त आद्यः
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णाद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥१०।१४।२३

निर्वाह करने पर नाममात्र ही भेद होगा नतु वस्तु का भेद होगा।

आपका स्वरूप विशुद्ध सत्त्वमयहै, शान्त सर्वदाएक रूपहै, तपोमय प्रचुर ज्ञान मय है, अर्थात् सर्वज्ञहै। क्योंकि—आप में मायिक गुण नहीं हैं, वे सव हम सव में है, अतएव आप में अज्ञान सम्बन्ध नहीं है।

आप स्वच्छन्द से देहादि को प्रकट करते हैं, आप विशुद्ध ज्ञानानन्दमय मूर्त्ति है, आप सर्व रूप हैं, सव के आदि कारण हैं एवं सर्व भूतात्मा हैं, आप को प्रणाम॥

सम्प्रति श्रीहरिके परानन्दत्वादिका निरूपण किया जाता है, जीवानन्द के समान आनन्द श्रीहरि में मानने पर उनमें भक्ति का उदय नहीं हो सकता है, धर्म वोधक वाक्यों का विश्लेषण करना आवश्यक है, ब्रह्मानन्द जीवानन्द से विलक्षण है, या नहीं? इस प्रकार संशय होनेपर लौकिक आनन्दादि पद द्वारा कथित होनेपर वे सब परस्पर भिन्न नहींहै। घट पद वाच्य कभी घट से विलक्षण नहीं हो सकता है। इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर समाधान के लिए कहते हैं—अतएव जीवानन्दसे ब्रह्मानन्द परिमाण, एवं जाति से उत्कृष्ट है. क्योंकि सेतु, उन्मान, सम्वन्ध और भेद वोधक शब्दोंसे ब्रह्मानन्दका परत्व प्रति पादन किया जाता है, "परमेश्वर आनन्द के सेतु तथा धारक हैं" यहाँ सेतु शब्द की उक्ति है, "जिस से वाक्य मन के साथ निवृत्त होता हैं' यहाँ उन्मान का कथनहैं, अन्यान्य आनन्द सकल ब्रह्मानन्द का कणमात्र है" यहाँ सम्बन्ध कहागया है, "ब्रह्म ज्ञान जीव ज्ञान से भिन्न है, ब्रह्म ज्ञान नित्य आनन्दमय, अव्यय, परिपूर्ण है" इत्यादि स्थलमें भेद दिखलाया गया है, सेतुत्वादि लौकिक आनन्द में नहीं है। आप ही सत्य एक मात्र सत्य हो, क्योंकि आत्मा हो, जगत् अनात्मा है, अतएव असत्य है, जन्मादि विकार जिस में है वे असत्य होतेहैं आप में जन्मादि विकार नहीं हैं, अतएव आप सत्य हैं, आप आदि कारण है, सृष्टयादि कार्य के पूर्व में अवस्थित है, क्योंकि आप ही पुरुष हैं। श्रुति पूर्वमेवामिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वमिति" से विकार का निवारण करती है, आप नित्य है। पूर्ण अजस्रसुख, अक्षर, अमृत पदों से

सामान्यात्तु ।३।२।३३

दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥१०।८७।३५
यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्माविनष्टाः
सपदिगृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्यदीना
वहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्य्यां चरन्ति ॥१०।४७।१८

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३४

पादेषु सर्व भूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु ॥११।६।१९

वृद्धि परिणाम अपक्षय विनाश का निवारण हुआहै, आप पूर्ण हैं अनन्त अद्वय देश काल वस्तु परिच्छेद रहित हैं, आप अमृत स्वरूपहैं, स्वयं ज्योति निरञ्जन उपाधि से मुक्त निर्म्मल हैं,

घट पद वाच्य घट से विलक्षण नहीं है. इस शङ्का के उत्तार में कहते हैं सामान्यात्तु —

तु शब्द शंका निरासक है, जैसे एक घट शब्द घटत्व जाति के माध्यम से निखिल घटका वोधक होताहै, वैसे आनन्दादि शब्द भी आनन्दादि सामान्य को लेकर लौकिक अलौकिक आनन्दादि प्रयुक्त क्यों नहीं होगा उत्तार इस प्रकार सादृश्य सर्वथा सम्भव नहींहै, अतएव आनन्दमय परज्ञान विभु मय परमेश्वर कभी भी असत् नाम जात्यादि का विषय न हुए और न हो सकते सुतरां जीव ज्ञान से परमेश्वर ज्ञान श्रेष्ठ है ॥

एक वार मात्र जो जन नित्य सुखरूप आत्म स्वरूप श्रीहरि में मनो निवेश करता है वह पुनर्वार पुरुष का सर्वस्व अपहरण कारी संसार में मनो निवेश नहीं करता है ।

जिन के हृत् कर्ण रसायन लीलामय चरित्र का कण मात्र भी कुहर में प्रविष्ट होता है, वह सद्य ही संसार की समस्त आसक्ति को छोड़देता है, और तत् क्षणात् ही दीनरूप में रोदन परायण गृह कुटुम्बको छोड़कर निरभिमानी रूप भिक्षु वृत्ति को अवलम्वन करता है ।

यदि जीव जडात्मक प्रपञ्च से विलक्षण धर्मिभूत ब्रह्म है, तव ' सर्वं

स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत् ।३।२।३५

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणिभगवंस्तव
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ।।३।२४।३१

यथाहि भूतेषु चराचरेषु
मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना
एवं भवान् केवल आत्मयोनि
ष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ।।१०।४८।२०

खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" यह निखिल संसार ही ब्रह्म है " इस प्रकार अभेदोपदेश वाक्य की सङ्गति किस प्रकार होगी ? इस के उत्तर में कहते हैं—"बुद्धयर्थः पादवत्" यह उपदेश सर्वत्र भगवदीयत्वरूप ज्ञानके द्वारा बुद्धि का विकाश करनेके लिए किया गया है, विश्व भगवान्का पादहै कहनेसे जिस प्रकार विश्व का भगवदीयत्व का बोध होता है, ठीक उसी प्रकार उक्त वाक्य भी भगवदीयत्व का बोध करता है समस्त ही भगवत् सम्बन्धीय हैं ऐसा ज्ञान होने पर द्वेष नहीं रहता है। द्वेष रहित मन ही भगवद् भाव युक्त होता है, यह सकल वाक्य निखिल वस्तु में अनुरक्त होने का उपदेश नहीं करता है। क्योंकि द्वेष निर्हीनं मन स्तत् प्रवणं भवति " यहाँपर द्वेष निहीनत्व बुद्धि उक्त रागका बाधक है।

वेद परिदृश्यमान ब्रह्माण्ड को परम पुरुष की पाद विभूति रूप में कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड परम ब्रह्म के अंश रूप में स्थित है, अधिष्ठान अधिष्ठेयकी अभेद विवक्षा है। तीन लोक में नश्वर सुखहै, सत्य लोक अभय स्थान अमृत रूप है,

अनन्तर भक्ति वैचित्र्य के लिए भजनीय श्रीहरि का प्रकाश वैचित्र्य का निरूपण करते हैं, अन्यथा भक्ति का वैचित्र्य सम्पादन सम्भव नहीं है। प्रकाश वैचित्र्य स्थानों के अनादि होने के कारण ही अनादि सिद्ध है, " एक होकर भी बहु रूप से प्रकाशित होते हैं, इस श्रुति को अवलम्बन कर स्थान अनेक होनेपर भी नाना स्थान पर स्थानिभूत एक ही ब्रह्म प्रकाशित होते हैं, ऐसा कहा गया है, उक्त नाना प्रकार प्रकाश में प्रकाशसे प्रकाश्य का तारतम्य है„ अथवा नहीं ? इस जिज्ञासा में कहा जाता है कि वस्तु एक होनेपर समान शब्द के द्वारा जो बोध होता है, उस में तारतम्य होना सम्भव नहीं हैं, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में सिद्धान्त करते हैं—यद्यपि एक ही ब्रह्म स्वरूपहै, तथापि

उपपत्तेश्च ।३।२।३६

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महित्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥१०।१४।२

उनके प्रकट स्थानों का, धाम समूह के, भक्तों के, ऐश्वर्य्य माधुर्य्य प्रकाश के अधीन शान्त, दास्य, सख्य प्रभृति भावोंके तारतम्य के अनुसार उनके प्रकाश तारतम्य होता है, जैसे एक ही प्रदीप स्फटिक तथा पद्मराग मणि दर्पण के मन्दिर में चाकचिक्य और अरुण रूप से तरतमता को प्राप्त होता है„ जिस प्रकार शब्द एक रूप होने पर भी शंख, मृदङ्ग और वंशी प्रभृति में मन्द्रत्व, मधुरत्वादि तारतम्य भाव को प्राप्त करता है, इस का अभिप्राय यह है, जहाँ भगवान् के परम ऐश्वर्य्य का आविष्कार होता है, वहाँ विधि द्वारा भक्ति प्रवर्त्तित होती है, उस से स्फटिक मन्दिर में प्रदीप के समान प्रकाश की कुछ तीव्रता देखने में आती है, और जहाँ परम ऐश्वर्य्य की विद्यमानता में भी माधुर्य्यभाव का आविष्कार है, वहाँ भक्ति रुचि के द्वारा प्रवर्त्तित होतीं है, उस से (कौरुविन्द) पद्मराग मणि के मन्दिर में प्रदीप की भाँति प्रकाश की मधुरता परिलक्षित होती है, इससे धाम, भक्त तथा भक्तिका वैचित्र्य साधित हुआ है ।

आप प्राकृत रूप रहित हैं, तथापि आप अलौकिक चतुर्भुज आदि रूप समूह एवं स्वजन गणों के रुचिशील मनुष्य स्वरूप समूह के प्रति विशेष रुचि रखते हैं।

एक वस्तु अनेक प्रकार होते हैं, दृष्टान्त से प्रति पादन करते हैं— रूपान्तरसे अपनी अभिव्यक्ति स्थान चराचरमें तथा मही प्रभृतिमें भूतभौतिक में नर मृगादि शरीर में वाल युवादि अवस्था समूह में यथावत् प्रतीत होते हैं, क्योंकि आप आत्म तन्त्र हैं । भाव तारतम्य स्थान तारतम्यसे ही होतीहैं।।

उक्त कर्म से ही '' यथाक्रतु'' इत्यादि फल वोधक वाक्य समूह उपपन्न हुए हैं । अन्यथा अन्य प्रकार से सङ्गति नहीं हो सकती अतएव स्थान तार तम्य के कारण एक ही ब्रह्म का भान तारतम्य युक्त हैं ।।

हे प्रभो ! आप गोप शिशु रूप में आपने को प्रकट किए हैं, यह सुलभ अवतार हैं, तथापि इस की महिमा ब्रह्मा से लेकर कोई भी जानने में समर्थ नहीं है, आप स्वेच्छामय हैं, अपना भक्त जैसे जैसे इच्छा करता है आप भी

तथान्यप्रतिषेधात् ।३।२।३७

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृते मृदिवाविकृतात् ॥
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुविदत्तपदानि नृणाम् ॥१०।८७।१५
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥२।९।३२

उन की इच्छानुसार वैसे वैसे होते हैं। ऐसा होने पर भी इस रूप को कोई नहीं जान सकताहै, क्योंकि अचिन्त्य शुद्ध सत्वात्मक रूप को व्यक्तिगण कैसे जान सकते हैं, और स्वसुखानुभवमात्र के लिए गुणातीत के अवतार की महिमा को भी कौन जान सकता है।

अधुना श्रीहरि का सर्वपरत्व कहा जाता है, उन से अन्य कोई होनेपर श्रीहरि के प्रति भक्तियोग नहीं हो सकता है। अत: श्वेताश्वतर उपनिषद् में वेदाहमेतत्" इत्यादि वाक्य द्वारा ब्रह्म स्वरूप को सर्वश्रेष्ठ कहागया है, अनन्तर ततो यद्युत्तरम्" इत्यादि वाक्य द्वारा उनसे भी पर वस्तु हैं--सूचिता हुआ है; यहाँपर संशय है कि—उपास्य ब्रह्म से पर वस्तु है अथवा नहीं? शब्दार्थ से श्रेष्ठ वस्तु है ऐसी प्रतीति होती है—इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—तथान्यप्रतिषेधात्" तथा ब्रह्म ही समस्त वस्तुओं से श्रेष्ठ होने कारण उनसे और कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है, "जिन से पर अपर अन्य कोई नहीं है, जिन से क्षुद्र भी कोई नहीं बृहत् भी नही हैं, इत्यादि श्रुति समूह ही उपास्य ब्रह्म से अन्य के श्रेष्ठत्व का निवारण करते हैं, इस का अर्थ इस प्रकार है—आदित्य वर्ण तम से अतीत पदार्थ इन महान् पुरुष को मैंने जाना है, उनके जानने पर अमृतत्व का लाभ होताहै, पुरुषार्थ प्राप्ति का अन्य उपाय नहीं है, महापुरुष का ज्ञान ही अमृत लाभ का एकमात्र पन्था है, उन से पर कोई नहीं है" इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का श्रेष्ठत्व प्रति पादन कर श्रुति कहती है, जो सकल लोक उनका सवसे अधिक अनामय रूप अवगत करते हैं, वे सव अमृतत्त्व को प्राप्त होते हैं, अन्य सव दु ख को प्राप्त करते हैं, इत्यादि वचनों के द्वारा ब्रह्म की अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु का उपदेश नहीं किया गया है, यदि ऐसा ही उपदेश है तव वे बचन सव मित्थ्या हो जाते हैं, श्रीभगवान् ने गीता में स्वयं ही कहा है, "हे धनञ्जय! भूमा से परतर अन्य कोई वस्तु नहीं है"।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३८

कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ।
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नुचरिष्णु च
भगवद्रुपमखिलं नान्यद् यस्त्विहकिञ्चन ॥१०।१४–५५-५६

दृष्ट श्रुत समस्त पदार्थ में एक मात्र बृहद् ब्रह्म ही अवशिष्ट होते हैं, कारण ब्रह्म ही समस्त वस्तु का उपादान कारण है, जिस से उत्पत्ति तथा जिस में समस्त वस्तु का लय होता है, वह ही उपादान कारण है, उपादान से ब्रह्म अविकृत रहते हैं, जैसे मृत्तिकामें मृत्तिका विकारों का लय होता है, अत एव मन्त्र द्रष्टा ऋषिगण तात्पर्य्य एवं नामधेय आप में अवधारण करते हैं, अर्थात् आप ही समस्त वस्तुओं का रूप धारण किएहैं, यह जान कर मुनिगण आप की उपासना करते हैं, विकारों की नहीं ॥ जिस प्रकार मानव जिस वस्तु पर पद निक्षेप करता है, उन का पद निक्षेप पृथिवी में ही होता है, उस प्रकार वेद इन्द्रादि विकार समूह जो भी कहें आप ही सर्वकारण हैं, इस लिए परमार्थ भूत आप को ही प्रति पादन करते हैं ।

जब सत् स्थूल, असत् सूक्ष्म इनदोनों का कारण प्रधान नहीं था, अन्त र्भूत होकर मुझ में लीन था, तब मैं ही सृष्टि के पूर्व में था । सृष्टि के पश्चात् भी मैं ही रहता हूँ । जो कुछ विश्व रूप में दिखाई पड़ता हैं„ वह मैं ही हूँ । प्रलय में जो कुछ अवशिष्ट रहता है, सो मैं ही हूँ । इस से अनादि अनन्त अद्वितीय परिपूर्ण मैं ही हूँ ॥

अनन्तर उपास्य का सानिध्य को कहने के लिए उन की व्याप्ति का निरूपण करते हैं, 'उपास्य सन्निहित होने की सम्भावना न रहने से भक्त का उत्साहशिथिल होगा । शास्त्र में उक्त है, "एक श्री कृष्ण वशी, सर्वग, ईड्य" इत्यादि । यहाँपर ध्येय श्रीकृष्ण व्यापक है अथवा परिच्छिन्न हैं ? इस संशय में मध्यमाकार रूप से अनुभव होने के कारण प्रपञ्च भिन्नत्वेन उन का प्रति पादन होने से वह परिच्छिन्न ही है, इस कथनके उत्तर में कहते हैं । परमेश्वर का मध्यमाकार होनेपर भी आवाम शब्दादि से सर्वगतत्व स्थिर हो गया है । मध्यमाकार में ही वह सर्वव्यापी है, क्योंकिआयाम व्याप्त है, आयाम शब्द व्यापि वोधकहैं । आदि शब्द अविचिन्त्य शक्ति योग को जानना होगा । " इस जगत् में दृष्ट श्रुत जो कुछ भी है, सर्वत्र श्रीनारायण व्यापक रूप से अवस्थान करते हैं "। इस तैत्तिरीयक श्रुति में मध्यमाकार को ही निर

फलमत उपपत्तेः ।३।२।३८

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम् ॥२।३।१०

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥२।४।१७

रूप में उल्लेख है, गीता में स्वयं ही कहा है, मेरे द्वारा समस्त विधृत हैं, सर्वत्र व्याप्त हूं, मुझ में सब है, मैं किसी में नहीं हूं। तिल मैं जैसा कि तेल रहता है, दुग्ध में नवनीत वैसा ही श्रीहरि सर्वत्र हैं, दाम वन्धन लीला में इस का विशेष प्रतिपादन हुआ है।

न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नचापरं
पूर्वापरं वहिश्चान्त र्जगतो यो जगच्च यः।
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षोजम्
गोपिकोलूखले दाम्नाबबन्ध प्राकृतं यथा। भा०।१०-९।१३।१४

सम्मुखस्थ कृष्ण को ही अखिलात्माओंके आत्मा जानना जगत् के हित के लिए कृपया देही के समान दिखाई पड़ते हैं, केवल चेतन का ही आत्मा कृष्ण नहीं किन्तु जड़ो के भी आत्मा कृष्ण ही हैं, सर्व जगत् कारण कृष्ण ही हैं, समस्त स्थावर जङ्गम श्रीभगवद्रूप ही हैं।

अधुना श्रीहरि ही सर्व फल प्रदान कारी हैं, अन्यथा अदानशील एवं किञ्चिद् दान शील होने पर उन में भक्ति की प्रवृत्ति नहीं होगी। श्रुति में कथित है, पुण्य द्वारा पुण्य लोक मिलता है, यहाँपर स्वर्गादि फल याग से अथवा श्रीहरि से मिलताहै ? इस विचार्य्य वाक्य यागसे फल होताहै, अन्यथा नहीं इस प्रकार कथन के उत्तर में कहते हैं॥

स्वर्गादि रूप यागादि फल अतः श्रीहरि से ही मिलता है। क्योंकि उपपत्तेः नित्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति महोदार श्रीहरि ही यागादि द्वारा आराधित होकर कालान्तर में फल प्रदान करते हैं, यह सुप्रसिद्ध युक्ति है। क्षण ध्वंशि जड़ कर्म फल प्रदान में असमर्थ है। अकाम निष्काम सर्वकाम परायण व्यक्ति भी फल प्राप्ति के लिए तीव्र भक्ति योग से श्रीकृष्ण जी की आराधना करें।

भक्ति शून्य जनों का सर्व साधन विफल होताहै, तपस्वी मनस्वी सदा

श्रुतत्वाच्च ।३।२।४०

कुतस्तत् कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरोभवान्
यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥८।२३।१५

पारं महिम्न उरुविक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्यं
इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य ॥८।२३।२९

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापायदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥३।३३

चार परायण व्यक्ति भी अपना कर्म का समर्पण श्रीप्रभु को न करने से कर्म जनित फल से वञ्चित रह जाता है, ऐसा सुभदश्रवा श्रीप्रभु को प्रणाम ॥

उक्त विषय में प्रमाण प्रदर्शन करते है, श्रुति ही प्रमाण है, " विज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप ब्रह्म हि निज उपासकको निज निज उपासना के अनुसार फल प्रदान करते हैं, इस प्रकार अभ्युदय फल प्रदान कारिता एक मात्र ब्रह्म में ही है।

श्रीशुक्राचार्यने कहा—कर्मेश्वर आप सर्वभाव से जहाँपर पूजित होते हैं, उस कर्म में वैषम्य कैसे हो सकता है, और कर्म का ईश्वर प्रवर्त्तक, यज्ञेश यज्ञ फल दाता, यज्ञमय पुरुष है।

कोई व्यक्ति धूलीकण की गणना कर सकताहै, किन्तु विष्णु गुणगणन असम्भव है, विश्व की धूलीकण की गणना असम्भव जैसे है, वैसे ही श्रीविष्णु गुण गणन में कोईभी समर्थ नहींहै, मन्त्र, विष्णोर्नु कं वीर्याणीति नते विष्णो र्जायमानो न जातो वेद महिम्नः परमनन्तमापेति ॥

आश्चर्य्य कृपालुता श्रीहरि की है, अपकारी के प्रति भी कृपालुता प्रकट करते हैं। दयालुता की पराकाष्ठा है। हनन करने की इच्छा से ही विष युक्त स्तन प्रदान किया है, बकी पूतना, असाध्वी दुष्टा होकर भी धात्री के समान रातिको प्राप्त किया। भक्तवेश मात्र से ही जिन्होंने सद्गतिको प्रदान किया है, उन से दयालु और कोई हो सकता है? अत उनको छोड़कर अन्य कौन भजनीय हो सकता है।

धर्म्मं जैमिनिरत एव ।३।२।४१

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्
कर्त्तारं भजते सोऽपि नह्यकर्त्तुः प्रभु र्हि सः ।।१०।२४।१४-१५

पूर्वं तु वादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।३।२।४२

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावोजीव एव च
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नचान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ।२।६।१४

मतान्तर का प्रदर्शन करते हैं—

परमेश्वर से धर्म की उत्पत्ति होती हैं—यह जैमिनि मानते हैं, जिस कर्म से फल की उत्पत्ति होतीहै, वह कर्म ईश्वर से उत्पन्न होताहै, 'परमेश्वर साधु कर्म कराते हैं, इस प्रकार श्रुति है, कर्म से ही फल कर्माभाव से फला भाव है। इस नियम से फल प्रदाता कर्म ही है, ईश्वर कर्म उत्पन्न करके निष्क्रिय हो जाते है, इस लिए फलदातृत्व ईश्वर में असम्भव है, अभाव से भाव की उत्पत्ति असमीचीन है। इस प्रकार कहना उचित नहीं है, क्योंकि कर्म विनाशी होने पर भी अपनी स्थिति काल में अपूर्व अर्थात् अदृष्ट उत्पन्न कर विनष्ट हो जाता है। यह अदृष्ट ही कालान्तर में भोक्ता पुरुष को कर्मानुसार फल प्रदान करता है।

कोई व्यक्ति कर्म परतन्त्र ईश्वर को मानते हैं, स्वयं कर्म लिप्त न होकर ईश्वर कर्म फल जीव को प्रदान करते हैं, फल सिद्धि के लिए कर्म की एकान्त आवश्यकताहै, अतएव अजागल स्तनकी भाँति कर्म फलदाता ईश्वर मानना अयौक्तिक है।।

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास जी अपना मत कहते हैं—

शङ्का निरास के लिए सूत्रस्थ तु शब्द है, भगवान्—वादरायण परमेश्वर को ही कर्म फल दाता मानते है, क्योंकि ईश्वर पुण्य से पुण्य लोक प्राप्तकराते हैं, और पाप से पाप लोक इस से कर्म फल दातृत्व ईश्वर में आता है, कर्म साधन होकर उपक्षीण हो जाता है। कर्म सत्ता भी ब्रह्मायत्त है, ब्रह्म ही कर्म प्रवर्तक है, देवगण अर्चित होकर फल प्रदान करते हैं? ऐसा कहा नहीं या सकता है, श्रीभगवान् ने कहा जो जन कामनासे जिस देवता की आराधना करना चाहता है, मैं उन के प्रति श्रद्धा प्रदान करता हूँ, एव आराधना द्वारा

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥३।१०।१२

कः पण्डित स्तदपरं शरणं समीयाद्
भक्त प्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात्
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥१०।४७।२६

※ इति श्रीकृष्ण द्वैपायन प्रणीते श्रीमद्भागवत भाष्ये ब्रह्मसूत्रे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादः समाप्तः ※

—※—

मुझ से विहित फल को प्राप्त करता है भक्ति से सन्तुष्ट होकर तो आत्म पर्य्यन्त प्रदान करते हैं, ईश्वर ॥

इस प्रकार दोनों पादोंमें प्रपञ्च के जन्म मरण रूप दुःखमय दोष समूह का कथन से तथा निखिल निर्दोष कीर्त्तन के साथ निखिल नियामकत्व विशुद्ध चिद् विग्रहत्वादि परमात्मगुणगणनिरूपण के द्वारा ब्रह्मे तर वस्तु में वितृष्ण होकर ब्रह्म तृष्णा ही श्रीभगवत् प्राप्ति के लिए कारण है, इस का निरूपण हुआ है ॥

द्रव्य, उपादान कारण, कर्म जन्मनिमित्त, काल उसका प्रवर्त्तक, स्व भाव–उस का परिणाम हेतु, जीव-भोक्ता, ये सब वासुदेव से अन्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते हैं, द्रव्यादि समस्त पदार्थ जिन के अनुग्रह से कार्यक्षम होते है, वह श्रीहरि हैं ।

पण्डित व्यक्ति सत्य प्रिय आप को छोड़कर किस की शरण ग्रहण करेगा। क्योंकि आप भजन कारी को वाञ्छित फल तो प्रदान करते ही हैं, आत्मा पर्यन्त प्रदान करते हैं ॥

※※ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ※※

——※——

** अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादः **

—**—

सर्ववेदान्तप्रत्ययंचोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१

वासुदेवपरावेदाः ।१।२।२८

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ।
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान् सर्व वेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ।।११।२१।४२:४३

** अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादः **

श्रीभगवद् गुणोपासना इस पाद में प्रदर्शित होगी । प्रक्रिया इस प्रकार है,—स्वयं रूप परब्रह्म पुरुषोत्तम में वेदूर्य्य मणि के समान अनादि सिद्ध युगपद विचित्र, नित्य आविर्भूत सकल रूप प्रकाशित रहते हैं, श्रीभगवान् उन रूप विशिष्ट होकर भी निर्विशेष रूप में दिखाई देते हैं,, इस प्रकार अवगत होकर जो इन सकल रूपों में से अपना अभीष्ट किसी एक रूप विशिष्ट इष्ट देवता की उपासना करते हैं, उन का कर्त्तव्य है कि वे उस से अन्यतम रूप विशिष्ट स्व रूप में पठित गुण समूह निज उपास्य स्वरूप में–उक्त न होने पर भी-ग्रहणीय हैं, ऐसा सिद्धान्त करें, और जो मन प्रभृति विभूति रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं वे सब शाखान्तरस्थ उन उन प्रतीकोपासना प्रकरण पठित रूपों का निज प्रतीकोपासना में उप संहार करें तथा अन्य–अर्थात् उन उन प्रतीक–उपासना प्रकरण में अपठित रूपों का उपसंहार न करें। क्योंकि प्रतीको पासना में जिस प्रकार रूपों का पाठ हैं, वैसा ही ग्रहण करना उचित है, कोई कोई ऐसा कहते हैं, कि एक ही पर ब्रह्म अभिनयकारी दिव्य नट के समान अपने में स्थित उन उन भावों को प्रकाश कर उन उन नाम से अभिहित होते हैं, उन सब गुण कर्मादिकों का आविष्कार करने के कारण एक ही स्थान में श्रुत रूप का अन्यत्र भी उपसंहार सम्भव है, यहाँपर संशय है कि एक ही प्रकाश में वर्णित गुण सकल अन्य प्रकाश में चिन्तनीय है, क्योंकि एक ही स्व रूप का उस उस भाव से प्राकट्य है, माधुर्य्य, ऐश्वर्य्य, भोग, शान्ति, तप और शृङ्ग, पुच्छ, सटा दंष्ट्रादि नरलिंगधारी भगवान् में चिन्तन करने वाले का

" जो आत्म स्वरूप की अन्यथा प्रति पादन करता है, वह आत्म अपहारी चौर के समान समस्त पाप करने वाला हैं, इस प्रकार स्मृति उक्त दोष का श्रवण तथा उस विषय में विद्वानों के अनुभव के अनुसार तादृश उप संहार अयुक्त है, उत्तर में कहते हैं—गुणों का उपसंहार उपासना में परम उपादेय है, एक उपासना में पठित गुणोंका अन्य उपासनामें अपठित गुणों में चिन्तन तात्त्विक है किम्वा धारणा मात्र है ? उत्तर है कि—उभय ही संगत है, स्व निष्ठ अनधिकारी के लिए सब का चिन्तन उचित है, किन्तु एकान्ती अधि कारी के लिए ऐसा करना उचित नहीं है। उन के लिए इन सब गुणों का अस्तित्व बोध ही यथेष्ट है। चतुर्थपाद में स्वनिष्ठादि तीन प्रकार के अधिकारी कहे जायेंगे। उनमें से स्वनिष्ठ सकल अधिकारी समस्त गुणों में प्रीति विशिष्ट हैं, वे सब सकल अवतार में सकल गुणों का चिन्तन-दर्शन कर सकते हैं. वे अपरापर आविर्भाव में गुण समूह प्रसिद्ध है. ऐसा जानकर उनका दर्शन चिन्तन नहीं करते हैं, क्योंकि उक्त गुण समूह उन का अभीष्ट है, परवर्त्ती अधिकरण में इस विषय का परिष्कार होगा।

" उपास्य देवता में जो गुण है, वे सब अन्वेषणीय है ". इस प्रकार कथनानुसार मुमुक्षु व्यक्ति उपादेय ब्रह्म के समस्त गुणों का अभिधान करेंगे। ब्रह्मानन्द अनुभूत होने पर कहीं भी भीति की सम्भावना नहीं है। " इस प्रकार गुणज्ञ एवं अभयोक्ति सगुण ब्रह्म पर है, आनुवादिक और व्यवहारिक दोनों प्रकार गुणों का काल्पनिक भेद स्वीकार करते हैं, फलत वह मानान्तर प्राप्त एक भी नहीं है, उन का अनुवाद भी असम्भव है, व्यवहारिक शब्द शास्त्रीय नहीं है. अतएव उक्त मत हेय है, तो भी 'वाक्य रूपी धेनु की उपा सना करें " इत्यादि स्थल में गुण की कल्पना करना पड़ती है, प्रधान के व्यति हार में' अर्थात् आनन्द के साथ जड़ के व्यतिहार में जीव के सदृश आनन्दादिक परमेश्वर में विशेष होते हैं," इस सूत्रमें जीवसे अभिन्न आनन्द रूप ब्रह्म का उपास्य रूपत्व कहने पर भी इस उपासना का तात्त्विकत्व स्वी कार हो जाता है, वास्तविक काल्पनिक गुण की काल्पनिक उपासना नहीं कही गयी है। निर्गुण वाक्य प्राकृत गुण निषेध पर है, वे सब गुण गुणों से भिन्न नहीं हैं, अतएव सगुण विषय में कुछ भी आक्षेप करने का अवसर नहीं है, चिन्तनीय गुण समूह दो प्रकार के हैं,—अंगिनिष्ठ और अंगनिष्ठ, आगेव्यक्त होगा। गुणोपसंहार के लिए भगवान् का सर्व वेद वेद्यत्व कहागया है। यहाँ स्व शाखा में उक्त साधन के द्वारा ही ब्रह्म वेद्य है, अथवा समस्त शाखा में उक्त साधन के द्वारा वेद्य है ? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष यह होता कि—प्रत्येक शाखा का ही अर्थ भेद प्रयुक्त स्व शाखा में उक्त साधन के द्वारा

भेदादिति चेन्नैकस्यामपि ।३।३।२

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः
अस्पृष्टभूरि माहात्म्या अपि ह्युपनिषद् दृशाम् ॥१०।१३।५४

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च ।३।३।३

ही वह वेद्य है, उत्तर में करते हैं—सूत्रस्थ अन्तशब्द निश्चयार्थक है,, उभयोरपि दृष्टोऽन्त यहाँ वैसा अर्थ हुआ है। समस्त वेद निर्णय उत्पाद्य ज्ञान ही ब्रह्म है, क्योंकि समस्त विधि वाक्य सर्वत्र एक रूप हैं। आदि शब्द युक्ति का संग्राहक है, "आत्माकी ही उपासना करें" इस वेद वाक्य में जो विधि युक्ति का प्रयोग है, सर्व उन का साम्य देखने में आता है। जिस प्रकार माध्यन्दिनी की यह विधि हैं, उस प्रकार काण्व का भी है॥ अतएव सामवेद में जो ज्ञान का निर्णय किया गया है वह ब्रह्म है।

समस्त वेदों का तात्पर्य्य वासुदेव में ही है। कर्म काण्ड देवताकाण्ड ज्ञान काण्ड में विधि वाक्य मन्त्र एवं निषेध के द्वारा जो वर्णित है, उस को मैं जानता हूँ। अपर कोई नहीं। यज्ञ रूप से मुझ को कहते हैं, देवता रूप से भी मुझको कहते हैं, विकल्प के द्वारा जो कुछ निषेध कर स्थापन करते हैं वह मुझ में पर्यवसित है। समस्त वेदार्थ यह ही है, माया को निरास करके मुझ को स्थापन करना ही तात्पर्य्य हैं, जैसे अङ्कुर में जो रस रहता है, वह रस समस्त शाखा प्रशाखा है, वैसे प्रणव का जो अर्थ परमेश्वर है, वह ही प्रणव का विस्तार भूत समस्त वेद शाखा में है। अपर अर्थ नहीं है।

कदाचिद् ब्रह्म विज्ञान आनन्द ब्रह्म, कदाचिद् सर्वज्ञ, सर्व्ववित् रूप से कथित है, इस प्रकार समस्त शाखा एक अधिकारी के पक्ष में है ऐसा नहीं कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं है, क्योंकि एक ही शाखा में इस प्रकार अर्थ भेद देखने में आता है। एक ही शाखा में कहीं तो सत्य ज्ञान–अनन्त स्वरूप से अभिहित होते हैं। एक शाखा निष्ठ सकल पुरुष जैसे उस शाखा गत भेद की मीमांसा करते हैं, उसी प्रकार सर्वशाखा गत भेद की मीमांसा करनी होगी। निखिल शाखा में एक ही ब्रह्म स्वरूप का अभिधान है, उस में कोई विरोध नहीं है।

सव मूर्त्तिमन्त होनेपर भी कुछ विशेषहैं, सत्य ज्ञानादि मात्रैक रस रूप ब्रह्म ही मूर्त्तिमन्त है। अतएव उपनिषत् आत्मज्ञान रूप चक्षुष्मान् व्यक्ति भी छु नहीं सकते उस सव मूर्त्तियों की भूरि माहात्म्य को। इस प्रकार समस्त मूर्त्ति दिखाई पड़ रही थीं।

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः
वासुदेवपरायोगा वासुदेवपराः क्रियाः ।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः
वासुदेवपरो धर्म्मो वासुदेवपरागतिः ॥१।२।२८-२९

सववच्च तन्नियम ।३।३।४

न घटत उद्भवः प्रकृति पुरुषयोरजयो
रुभय युजा भवन्त्युसुभृतो जलवुद्वुदवत्
त्वयि त इमे ततो विविध नाम गुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेष रसाः ॥१०।७८।३१

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" इस प्रकार श्रुति स्मृति विहित अध्ययन कर्म में शक्ति होनेपर समस्त शास्त्र में सव का अधिकार है। स्मृतिभी कहती है—समस्त वेदोक्त मार्ग द्वारा ही नित्यकर्म करें। समस्त कार्य का फल ही आनन्द है, शाखाभेद एवं अधिकार भेद की जो वात है, वह सव अशक्तके लिए है, सकल शाखा तथा सकल कर्म में सव का अधिकार है, अशक्तके लिए शाखा भेद क्रिया भेद की कल्पना है। जिस की शक्तिहै, वह समस्त शाखा में उस साधना द्वारा ही ब्रह्म को जानेगा ॥

वासुदेव ही समस्त शास्त्र तात्पर्य्य गोचर है। यज्ञ पर वेद उन की आराधना के लिए है, योग शास्त्र भी यम नियमादि द्वारा उनकी प्राप्त्युपाय स्वरूप है, ज्ञान--ज्ञान शास्त्र, ज्ञान श्रीभगवत् पर है, तप ज्ञान, धर्म शास्त्र दान व्रतादि विषय भी उन की प्राप्ति के लिए वर्णित है। स्वर्गादि फल रूपगति भी वासुदेव के आनन्दांश प्रकाश होनेके कारण समस्त शास्त्र वासुदेव पर है।

व्यक्तिरेक रीति से दृष्टान्त उपस्थित करतेहैं—सव की भाँति यह नियम है—जानना होगा। सौर्य्यादिसे प्रारम्भकर शतौदन पर्य्यन्त सात होम विशेष ही सव शब्द से उक्त है, अथर्व शाखा में उक्तःएकाग्नि सम्वन्ध निवन्धन आथर्वणिका जैसा नियम है, उसी प्रकार ब्रह्म उपासना में सकल वेद की विधि है। सववत् के स्थानपर सलिलवत पाठ करने पर जैसे प्रतिबन्ध न होनेपर समस्त सलिल ही समुद्र को प्राप्त करता है, तथा समस्त वाक्य ही ब्रह्म का वोधक है, यह नियम शक्ति की अपेक्षा से ही है। स्मृति में उक्त है—जैसे समस्त नदी का जल शक्त्यनुसार सागर को प्राप्त करता है। उसी प्रकार

दर्शयति च ।३।३।५

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृते मृदि वाविकृतात्
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनो वचनाचरितम्
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ।।१०।८७।१५

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ।३।३।६

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ।।१।२।११
यस्यां वै श्रुयमाणायांकृष्णे परमपूरुषे
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ।।१।७।७

निखिल वेद वाक्य ही पुमर्थ शक्त्यनुसार ब्रह्म ज्ञान में पर्य्यवसित होता है ।
समस्त रस जैसे मधु में लीन होते हैं, समस्त नदी भी जिस प्रकार समुद्र में लीन होतीं हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थ समस्त वेद वाणीमें ही पर्य्यवसित होते हैं।।

वाचनिक प्रमाण द्वारा दिखाते हैं—"सर्वेवेदा यत् पदमामनन्ति" यह श्रुति श्रीहरि का सर्व वेदवेद्यत्व प्रति पादन करती है, सूत्रस्य "च" शब्द शक्ति का सूचक है, अर्थात् शक्ति रहने पर ही वैसा वोध होगा। इस लिए शक्ति रहने पर मनुष्य सर्व शास्त्रोक्त साधन द्वारा ब्रह्म की उपासना करेंगे, और जो जन अशक्त है, वे केवल स्व शाखा में कथित साधन द्वारा ही ब्रह्म की उपासना करेंगे। अतएव सर्व वेद वेद्य है। यद्यपि "तत्तु समन्वयात्" सूत्र में इस विषय का प्रति पादन हो चूका है, तथापि रहाँपर गुणोपसंहार के उपयोग के लिए प्रकारान्तर से यह पुनः प्रतिपादित हुआ है। इस से सिद्धान्त स्थिर हुआ अतः पुनरुक्तः दोष नहीं हैं।

ब्रह्म अवशिष्ट होने के कारण ब्रह्म समस्त वस्तु का उपादान कारण है, अतएव मन्त्र द्रष्टा ऋषिगण तात्पर्य्य एवं नाम धेय को ब्रह्म में ही अव धारण करते हैं। जैसे पाषाण इष्टक आदि में पदक्षेप करने पर पृथिवी में ही पद निक्षेप होता है,, वैसे श्रुतिगण समस्त विभिन्न रूपों का वर्णन करते हुए परमार्थ भूत ब्रह्म को ही प्रति पादन करतीं हैं।

जिस के लिए सर्ववेद वेद्यत्व ब्रह्मा का समर्थन किया है, सम्प्रति उस

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवता भक्तायद्यप्यन्यधियः प्रभो ।
यथाद्रिप्रभवानद्यः पर्ज्जन्यापूरिताः प्रभो
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः ॥१०।४०।६।१०

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।३।३।७

का गुणोपसंहार प्रदर्शन करते हैं।

अथर्ववेदीय उपनिषद् में तमालश्यामलपीतवासः कौस्तुभ भूषण, पिच्छावतंस वंश कमनीय गो गोप गोपीविशिष्ट गोकुलाधिदैवत ब्रह्म स्वरूप उक्त है, " तदु ही वाच हैरण्यो गोपवेशमभ्रा मम्" क्वचित् जानकी मण्डित वामभाग, को दण्ड कर दशाननहन्ता अयोध्याधिपति लिखित है, " प्रकृतया रहित श्यामः पीतवासा जटाधरः। द्विभुजः कुण्डली रत्न माली धनुर्धरः " कहींपर अति कराल वदन नृसिंह उक्त है„ श्रुति में त्रिविक्रम का वर्णन है, ये सव प्रकरण में द्रव्य देवता भेद से याग भेद के समान गुण भेद से भिन्न उपासना देखी जाती है। संशयः। एक उपासना में कथित गुण समूह अपर उपासना में अनुसन्धेय है अथवा नहीं ? एकत्र पठित गुण द्वारा विद्या का उपसंहार होने के कारण अन्यत्र उक्त गुण समूह का अनुसन्धान करना ठीक नहीं हैं, फल एवं विरोध की दृष्टि से। इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तरमें सिद्धान्त करते हैं—अर्थ अभेद होने के कारण उपासना समान होने पर विधिशेष के समान गुणों का अनु सन्धान करना कर्त्तव्य है। सूत्रस्थ 'च' शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थ एक ब्रह्म है, अतएव उपासना भी तुल्यरूप है। उपासना तुल्य होने पर गुणोपसंहार कर्त्तव्य है। इस में दृष्टान्त। विधिशेष अग्निहोत्रादि धर्म समूह का अनुक्तस्थल में जैसे अनुसन्धान होता है, वैसे यहाँ पर भी जानना होगा। श्रीरामचन्द्र में मत्स्यादि अवतारों का उपसंहार अर्थवोपनिषद् में है, एकोऽपि सन वहुधा योऽवभाति " इस श्रुति द्वारा श्रीकृष्ण में श्रीरामादि का उपसंहार कियागया है॥

तत्त्वविदगण एक अद्वयज्ञानतत्त्व को ब्रह्म परमात्मा भगवान् एवं कृष्ण नाम से कहते है, इस पारमहंस्य संहिता को श्रवण करने से परम पुरुष कृष्ण में शोक मोह भयापहारक भक्ति होगी।

श्रीकृष्ण आप सर्वदेव मयेश्वर हैं, अतः आप को समस्त जनगण उपासना कदते हैं, रे प्रभो ! जो जन अन्य देवता निष्ठ तथा अन्य वुद्धि सम्पंन्न हैं, वे भी जैसे मेघ से परि पूरित अद्रि प्रभव नदी समूह समुद्र में जाकर विश्राम करतीं हैं, वैसे आप के ही आश्रित हैं॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः साक्षात् स्वयं ज्योतिरजः परेशः
नारायणो भगवान् वासुदेवः स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥
यथानिलः स्थावर जङ्गमानामात्मस्वरूपेण निविष्ठ ईशेत्
एवं परो भगवान् वासुदेवः क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः
॥५।११।१३।१४

नवा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।८

य आशु हृदय ग्रन्थिं निर्ज्जिहीर्षुः परात्मनः
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥

"आत्मेत्येवोपासीत" 'आत्मा की ही उपासना करें।' इत्यादि वाक्य उक्त उपसंहार की अन्यथा होती है, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं- "आत्मा की उपासना करें इत्यादि वाक्य से अन्य प्रकार प्रतीति उपसंहार की नहीं होती हैं, क्योंकि उस विषय में विशेष प्रमाण नहीं है। ये सव गुणों की उपासना न करें इस प्रकार विशेष वचन नहींहै, सूत्रस्थ एव कार अनात्म की उपासना निषेध करताहै गुणान्तर का नहीं ॥ जैसे राजा को देखा कहने, पर उनके छत्रादि का निषेध नहीं होता वैसे जानना होगा ॥ अतएव यथाशक्ति गुणों की चिन्ता करें" इस प्रकार यह कहना आवश्यक है, पर ब्रह्म में अनादि सिद्ध अनन्तरूप वैदूर्य्यमणि की भाँति विद्यमान हैं, भगवान् इन सकल गुणों के विशिष्ट पूर्णतथा शुद्ध स्वरूप भी हैं। कभी कभी समस्त गुणों को प्रकट करते हैं, कभीं समस्त गुणों का प्रकट नहीं करते हैं, अतएव तत्त्वज्ञ व्यक्ति सर्व रूप उन उपास्य भगवान् में समस्त शास्त्रोक्त सकल गुणों का ही चिन्तन करेंगे। इस प्रकार स्वनिष्ठ व्यक्ति के लिए श्रीहरि के गुणोपसंहार निरूपित हुआ ॥

त्वं पदार्थ जीव के निरूपण के अनन्तर जीव के प्राप्य ईश्वर का निरूपण करते हैं। क्षेत्रज्ञ आत्मा व्यापी, पुराणो जगत् कारण, पुरुष पूर्ण साक्षात् अपरोक्ष स्वयं ज्योति ॥ अज जन्मादि शून्य, ब्रह्मादि का ईश, नार जीव समूह उसके नियन्ता, भगवान् ऐश्वर्य्यादि षड् गुणवान् वासुदेव सर्व भूतों का आश्रय, स्वाधीन माया द्वारा आत्मा जीव अवधीय मान अवस्थाप्य मान, नियन्ता रूप में वर्त्तमान है, उक्त विषय समूह को दृष्टान्त से प्रकट करते है, यथा अनिल स्थावर जङ्गम में प्राण रूप में अवस्थित होकर सबको निमषन करता है, तथा ईश रूप में प्राण रूप में स्थित होकर प्रभु सब को नियमन करते हैं।

लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः
महापुरुषमभ्यर्च्चेत् मूर्त्याभिमतयात्मनः ।११।३।४७-४८

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।६

कोनाम तृप्येद्रसवित् कथायां
महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मु
र्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ।।१।१८।१५

एकान्तीगण अनेक वेद शाख का अध्ययन करके भी निज इष्ट उपनिषदों के अनुशीलन द्वारा इष्ट में व्यक्त गुणों का ध्यान करते हैं, जानते हुए भी अपर गुणों का ध्यान नहीं करते हैं। श्रीगोपाल तापनी आदि उपनिषदों का यह विचार है। यहाँ संशय है—एकान्ति उपासना में सकल गुणों का उपसंहार है, अथवा नहीं ? सामर्थ्य होने पर प्रशंसनीय होने के कारण उपसंहार कर्त्तव्य है, इस प्रकार पूर्व पक्षीय सिद्धान्त निरसन के लिए कहते हैं—

प्रकरण भेद के कारण परो वरोयस्त्व के समान एकान्त भक्ति में समस्त गुणों का उपसंहार कर्त्तव्य नहीं हैं, जैसे श्रीकृष्णोपासक श्रीनृसिंह निष्ठ भीषणाकृति का अनुसन्धान श्रीकृष्ण में नहीं करते हैं, वैसे श्रीनृसिंह भक्त भी श्रीनृसिंह में श्रीकृष्ण निष्ट कमनीय मूर्तिका स्मरण नहीं करते हैं, क्योंकि प्रकरण प्रकृष्ट क्रिया का भेद है। तदेक तात्पर्य्य भक्ति है, इस भेद से ही भेद होता है। स्वनिष्ठ भक्त से गाढ़ आवेश के कारण एकान्ति भक्त श्रेष्ठ है, दृष्टान्त से सुस्पष्ट करते हैं, आदित्यान्तर्वर्त्ती हिरण्मय पुरुष का एकान्त उपासक उपास्य में उद्गीत निष्ट परोवरीयस्वादि का अनु सन्धान नहीं करते हैं इस प्रकार जानना होगा।

पर से पर वर से वरीयान् इति परोवरीयान् उद्गीथ उस का भाव तत्त्व, तदादि वन् है, सूत्र का यह अर्थ होगा। जीव सत्वर ही हृदय ग्रन्थि अहङ्कार बन्ध को छेदन करने की यदि इच्छुक हो, तब वैदिक-एवं तन्त्रोक्त मार्ग द्वारा श्रीकृष्ण का भजन करे। उस के लिए विधि इस प्रकार है, आचार्य्य गुरु से अनुग्रह दीक्षादि प्राप्त होनेके अनन्तर उन आचरण शील गुरु द्वारा प्रदर्शित अर्च्चन प्रकार से श्रीकेशव की पूजादि करे। अपनी अभिमत मूर्त्ति का ही भजन करे।।

स्व निष्ठ और एकान्ती दोनों ब्रह्मोपासक है, एकान्तिगण स्व निष्ठ के के समान समस्त गुणों का सर्वत्र चिन्तन करें, जैसे विप्र संज्ञा वाले की गायत्री

पारं महिम्न उरु विक्रमतो गृणानो
यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्यं
इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य ।८।२३।२६

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।३।३।१०

नौमिड्य तेऽभ्रवपुषे तड़िदम्बराय
गुञ्जावतंस परिपिच्छ लसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवल वेत्र विषाण वेणु
लक्ष्यश्रिये मृदुपदे पशु पाङ्गजाय ॥१०।१४।१

उपासना अविशेष रूप में विहित है? इस के उत्तर में कहते हैं–संज्ञा एक होने पर के लिए सव गुणों का उपसंहार करना उचितहै, उस उक्ति का समाधान पूर्व सूत्र में किया गया है, शङ्का निवारक सूत्रस्थ तु शब्द है। नवा प्रकरणभेदाद् इस सूत्र में उक्त शङ्का का समाधान किया गया है, सामान्य संज्ञा से विशेष संज्ञा वलवती है, अतएव एकान्तिगण सर्वत्र समस्त गणों का चिन्तन न करें। अन्यथा श्रेष्ठता की हानि होगी। स्वनिष्ठ से ऐकान्तिगण विशेष एक रूप के उपासक होने के कारण श्रेष्ठ है, स्वनिष्ठ भी सर्वत्र समस्त गुणों का अनुसन्धान करने में असमर्थ है, श्रुति कहती है—पृथिवी के धूली कण की कोई गणना कर सकता है, किन्तु विष्णु के गुणों की गणना कोई भी करने में समर्थ नहीं है। संज्ञा के ऐक्य के कारण सूत्रस्थ "अस्ति" शब्द से संज्ञैक्यहेतु में अन्व यव्यभिचार प्रदर्शन करते हैं। प्रमिति भेद रहने पर भी "परो वरोप" और "हिरण्मयादि" उभय प्रकार की उभय प्रकार की उपासना की उपासना को उद्‌गीथ उपासना कहतेहैं। उभय उपासना में उद्‌गीथ संज्ञा का ऐक्य रहने पर भी जिस प्रकार किया भेद को अवश्य स्वीकार करना होता है, उसी प्रकार स्व निष्ठ भक्त-समस्त गुणों का उपसंहार कर उपासना करेंगे। तथा एकान्ति भक्त गण विशेष गुणों के ही उपसंहार से उपासना करेंगे, यह अवश्य स्वीकार्य है। इस विषय का समाधान अधिकरण द्वय से हुआ है।

योगी शिव ब्रह्मादि प्रकृति गुण रहित श्रीकृष्ण के गुणों का निर्णय करने में असमर्थ हैं। पृथिवी के धूलीकण की भी गणना हो सकती, किन्तु श्री विष्णु के गुणों की गणना नहीं ही सकती है।

न चान्त न वहिर्यस्य न पूर्वं न चापरम्
पूर्वापरं वहिश्चान्त जगतो यो जगच्च यः ॥१०।९।१३
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्
गोपिकोलूखले दाम्ना ववन्ध प्राकृतं यथा ॥१०।९।१४

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।३।३।११

चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्
गृहेषुद्वचष्ट साहस्रं स्त्रियएक उदावहत् ॥१०।६९।२

अनन्तर श्रीहरि में वाल्यादि गुणों का उपसंहार का प्रकरण आरम्भ करते हैं, उस में "कृष्णाय देवकीनन्दनाय नमो नमः" कृष्ण शब्दतमालनील कान्ति यशोदा स्तनन्धय में रूढ़ि है। इस प्रकार बाल्यादि भी ब्रह्म धर्म है। ये सव चिन्तनीय है अथवा नहीं ? चिन्तन करने पर विग्रह में न्यूनाधिक्य की प्राप्ति होगी तथा ऐकरस्य श्रुति का वाध होगा। अतएव वे सव चिन्तनीय नहीं है। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—

ब्रह्म वाल्यादि धर्म विशिष्ट होने पर भी व्यापक है। अतएव उस के वाल्यादि भाव का न्यूनाधिक्य भाव से अभाव होने के कारण समस्त सामञ्जस्य पूर्ण है, सर्वगतत्व सूत्र में इस का समाधान किया गया है। जन्मादि विकार ईश्वर में नहीं है। परमेश्वर अजायमान होकर भी वहुधा जन्म ग्रहण करते हैं। पुरुष सुक्त का पाठ उक्त प्रकार है। अभिव्यक्ति मात्र जन्म है,, नतोजन्म 'च' कार से रसोवैस इस से उनके रसात्मकत्व का श्रवण है, लीला परिकर के अनुसार आविर्भूत होते हैं, परमेश्वर के नित्य मुक्तादि परिकर अनन्त है। उन सव के लिए श्रीहरि युगपद् अनेक वयस को प्रकट करते हैं। दूसरे का कथन है सुर मनुष्य असुर में दशाब्द शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही श्रीहरि वाल्यादि विशिष्ट होने से विभुत्व द्वारा एक रस होनेके कारण उन में वाल्यादि गुण समूह चिन्तनीय है।

आप को नमस्कार। आप ही एकमात्र स्तुत्य है, मेघ श्यामलकान्ति पीताम्बर गुञ्जावतंस, सुन्दर मुख कमल वन्य स्रज,कवल वेत्र विषाण वेणु आदि से शोभित गोपात्मज के मृदु चरण कमलों में प्रणाम हो।

जिन का अन्तर नहीं, वाहर नहीं, पूर्व अपर भी नहीं है, पूर्वापर वहि अन्तर में भी जो विद्यमान है, जगत् समूह भी जो है, उन को आत्मज जानकर अव्यक्त अधोक्षज मानव शिशु को यशोदा ने दाम से बंन्धन किया।

भगवद्धर्म हेतु वाल्यादि कर्म समूह नित्य होने के कारण उन उन परि

आनन्दादयः प्रधानस्य ।३।३।१२

स सर्वधीवृत्त्यनुभूत सर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः ।२।१।३९
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः
अस्पृष्ट भूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद् दृशाम् ॥१०।१३।५४

कर के योग से वे सव चिन्तनीय हैं। एक परिकर का पूर्वेत्तर भाव से अनेक कर्म का सम्बन्ध भी होता है, पूर्व कर्म नित्य होने के कारण तत् सम्बन्ध परिकर का भी नित्य सम्बन्ध होता है, यह छोड़कर लीला स्वरूप ही न हीं रहेगा ऐसा होने पर उत्तर कर्म के साथ उन सव का सम्बन्ध असम्भव ही होगा। उत्तर सम्बन्ध स्वीकार करने पर पूर्व सम्बन्ध का व्यापात होगा। पूर्व कर्म को नित्य मानने पर उत्तर कर्म सम्बन्ध व्यक्तिगण अनित्य हो जायेंगे। जो अनुभव तथा शास्त्र विरुद्ध है। प्रत्येक कर्म अंश द्वय युक्त हैं, एक उत्तर। प्रत्येक कर्म आरम्भ परि समाप्ति युक्त होता है॥ उक्त क्रम से रसानुभव नहीं होता है; तव किस प्रकार नित्य हो सकता है। अतएव कर्म के नित्यत्व का समाधान असम्भव है, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं "सर्वभिदादन्यत्रेमे" श्रीहरि उन के परिकर कर्म, पूर्व काल में है, अन्यत्र उत्तर कर्म काल में वे सव यथायथ रहेंगे। क्योंकि सव कुछ अभिन्न है। कर्म, परिकर हरि, उन सवका प्रकाश भी पूर्वोत्तर काल में अभिन्न रूपहै, श्रीहरि एक होकर भी अनेक होते हैं, परिकर भी वैसे ही होते हैं, महिषी विवाह तथा रास लीला में यह देखने में आया है।

आश्चर्य्य की वात है कि षोड़श सहस्र गृहमें युगपद् षोड़श सहस्र कन्याका विवाह पृथक् पृथक् शरीर और परिकरोंसे श्रीकृष्ण जी ने किया है

अनन्तर इस का विचार करते हैं—

वेदान्त में पूर्णानन्दादि समस्त ही ब्रह्म धर्म कथित हैं। वे सव धर्म उनकी उपासना में उपसंहार्य्य है अथवा नहीं? ऐसी जिज्ञासा में उत्तर करते हैं समस्तोपसंहार का कोई नियम नहीं है, अतएव गुण समूह का उपसंहार करना उचित नहीं हो इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—

आनन्दादय प्रधानस्य मूल धर्मी परमात्मा के पूर्णानन्द, पूर्णज्ञान वोधक स्वाश्रित वात्सल्यादि धर्म का सर्वत्रानुसन्धान करना आवश्यक है, क्योंकि

प्रियशिरस्त्वाद्य प्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।३।३।१३

हृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः
पुरुषो विधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१०।८७।१७

इतर त्वर्थसामान्यात् ।३।३।१४

सत्य ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ।१०।२८।१५
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभि
र्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः

उस ही ब्रह्म के विषयमें तृष्णा की बृद्धि होगी ॥

परमात्मा सबकी बुद्धि वृत्ति में अनुभूत हैं, वह सर्वान्त रात्मा है, वह ही सत्य आनन्द निधि है, अन्यत्र उपलक्षण में आसक्त न होकर इन का ही भजन कर, अन्यत्र भजनासक्ति करने पर अवश्यम्भावी संस्मरण होगा।

ब्रह्म की मूर्त्ति सत्यज्ञानअनन्त आनन्द रूप हैं। जिनकी महिमा उपनिषदों के अगोचर हैं।

श्रीविष्णु के प्रिय शिरस्त्वादि धर्म श्रुति में उक्त है, " तस्य प्रियमेव शिरः " वे सब धर्म सर्वत्र अनुसन्धान सर्वत्र करना कर्त्तव्य है अथवा नहीं ? इस संशय में कहते हैं, वे सब धर्म आनन्दादि से पृथक् नहीं है। जब आनन्दादि का अनुसन्धान के लिए विधि है, तब उन सब का भी अवश्य अनुसन्धान सर्वत्र होगा। इस उक्ति की उत्तर करते हैं, " शिर उनका प्रिय " इस वेद वाक्य में आनन्दमय श्रीविष्णु को ही प्रिय शिरस्त्वादि धर्म उक्त हुआ है, अतएव उन सब धर्म का उपसहार सर्वत्र करना उचित नहीं है। श्रीविष्णु का पक्षित्व रूपक मात्र है. विशेष कर उक्त वाक्य में मोद प्रमोद इन दोनों शब्द द्वारा क्रम से आनन्द के उपचय एवं उपचय वृद्धि ह्रास रूपसे प्रतीत होते हैं, भेद रहने पर ही इस का प्रकार सम्भव है। किन्तु ब्रह्म का स्वगत भेद भी नहींहै,, तब उनसब गुणों का उप संहार करना अनावश्यक है ॥

आप का भजन न करने पर मनुष्य जीवन धारण व्यर्थ होता है, प्रकृतिस्थ समस्त वस्तु जिन के अनुग्रह से कार्यक्षम होते हैं, जो सर्वत्र अन्तर्यामि रूप में रहते हैं, उन सत्य का ही भजन करें।

तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये
नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥४।१७।३३

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।३।३।१५

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥३।२४।३१
यानि यानीह रूपाणि क्रीड़नार्थं विभर्षिहि
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१०।४०।१३

"तस्माद्वा एतस्मात्" "सोऽकामयत।" "भीषास्माद्" इत्यादि वाक्यों से वेद में "प्रिय शिरस्त्वादि" धर्म कथनानन्तर विभुत्व चित् सुखत्व जगत् कारणत्व एवं पारमैश्वर्य्यादि जो सव ब्रह्म धर्म कहे गये हैं, उन का ही उप संहार कर्त्तव्यहै, क्योंकि वेदान्त में उक्त वीर्य्य, सम्भूति, सर्वसुहृत्त्व, शरण्य और मोक्षदातृत्व आदि गुणों के द्वारा उन का मोक्ष लक्षण अर्थ प्राप्त होता है, फल के ऐक्य के कारण उन गुणों का ही उप संहार कर्त्तव्य है।

देहादि पिहितवस्तु का दर्शन असम्भव हैं, अतएव देहादि व्यतिरिक्त ब्रह्म स्वरूप को दिखलाया है। उस का विवरण कहते है, सत्य स्वरूप अवाध्य रूप, ज्ञान-जड़भिन्न, अनन्त-अपरिच्छिन्न, ज्योति स्व प्रकाश, सनातन नित्य सिद्ध ब्रह्म ज्ञानिगण गुणाधिकार को वर्ज्जन कर जिस स्वरूप को देखते हैं, उन स्वरूप का ही प्रदर्शन किया।

उन अचिन्त्य शक्ति को केवल प्रणाम करता हूं॥ इस जगत के सर्ग स्थिति लय को जो करते हैं, महा भूत रूप द्रव्य समूह, क्रिया-इन्द्रिय गण कारक देवतागण, चेतना-बुद्धि, आत्मा अहङ्कार इन सव को निज शक्ति के द्वारा नियमन भी करते हैं॥

प्रश्न-आनन्द मय ब्रह्म का पक्षी रूपसे रूपक क्यों किया गया है?

उत्तर—प्रयोजनान्तर न रहने के कारण- "आध्यान" सम्यक् अनु चिन्ता के लिए ही उन का रूप है। इस का अभिप्राय इस प्रकार है। ब्रह्म वित् पर स्वरूप को प्राप्त करताहै, इस प्रकार उपक्रम के पश्चात् एक ही ब्रह्म स्वयं रूप एवं विलाप रूप से नित्य अवस्थान करते हैं। स्वयं रूप से भगवान् तथा विलास रूप से नारायण, वासुदेव, सङ्कर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध आदि नाम को प्रकट करते हैं, वे स्वरूपतः गुणतः तथा नाम आदि से विभु चित् सुखात्मक हें, स्थूल बुद्धि वाले के लिए दुर्विभाव्य है, अतएव सुख पूर्वक वोध कराने के

आत्मशब्दात् ।३।३।१६

कृष्णमेवमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्
जगद्धिताय सोऽप्यत्रदेहीवाभाति मायया ।।१०।१४।५५

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३।३।१७

नैते स्वरूपं विदुरात्मन स्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया ग्रहीताः ।
अजोऽनुबन्धः स गुणै रजाया
गुणात् परं वेद नते स्वरूपम् ।।१०।४०।३

लिए दुर्विभाव्य आनन्द मय हरि प्रिय मोदादि रूप में विभाग क्रम से पक्षादि रूप से उपदिष्ट हुए हैं, इस प्रकार चिन्ता करते करते जव उनकी वुद्धि में ब्रह्म आरूढ़ हो जाता है, तव वेदन शब्द वाच्य का ध्यान सम्यक् से होता है, जैसे वुद्धि प्रवेश के लिए अन्न मय पुरुष इस देह का शिर: पक्षादि रूप से वर्णन है ।। जिस प्रकार "प्राणमय, मनोमय विज्ञान मयादि शब्दोंका" उनका प्राण ही शिर है " इत्यादि वाक्य से रूपक किया गया हैं, उसी प्रकार आनन्द मय पुरुष का " उन का प्रिय ही शिर " इत्यादि वाक्य से वर्णन है । उक्त पञ्च अवयव ब्रह्म का वोधक है । अतएव उन जव अंग का पृथक् उपसंहार नहीं होगा ।।

एक ब्रह्म पञ्च अवयव विशिष्ट है, यह अयौक्तिक नहीं है, " एकोऽपि सन् वहुधा " आदि वेद वाक्य उस का प्रमाण है, श्रुत्यन्तर में उस का स्पष्टी करण भी हुआ है, एक ही ब्रह्म पञ्चधा विभक्त हैं, पुरुषोत्तम भगवान इस प्रकार अङ्गाङ्गिभाव से क्रीड़ा करते हैं, पूर्णैश्वर्य्य के कारण विरोध नहीं हैं, वाणी को सत्य करने के लिए स्वयं अवतीर्ण हुये है, जो कुछ आप के अलौकिक रूप है, वे सव ही आप के योग्य रूप हैं । और जो भी रूप मनुष्य आदिरूप, भक्त गण के लिए मनोहर है वे सव ही रूप का उल्लासकर हैं, आप प्राकृत रहित हैं, आप का स्वरूप दुरवगाह हैं, आप के अवतार कथामृत का सेवन ही भक्तगण करते हैं, जो भी रूप को क्रीड़ा के लिए प्रकट करते हैं, उन सव के द्वारा भक्त गण शोक मोह को मिटाकर आप का भजन करते हैं।

'आत्मा आनन्दमय' इत्यादि वचनों से ब्रह्म का निर्देश आत्म शब्द से हुआ है, उनके पक्षीके समान पुच्छादि सम्भव नहीं है,, अतएव स्थूल वुद्धि वाले के सुख पूर्वक वोध है, इस लिए रूपक किया गया है ।

आत्मा सव के प्रियतम है. और कृष्ण, जड़ चेतन सव के आत्माओं के आत्मा है, वह जगद्वासी के हित के लिए कृपया देही के समान दिखाई देते हैं ।।

तुभ्यं नमस्ते त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियाञ्च साक्षिणे ।
गुण प्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्त्तते देव नृतिर्य्यगात्मसु ॥१०।४०।१२

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।३।३।१८

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ।
न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥१०।८४।२३-२४

"अन्योऽन्तर आत्मा वा प्राणमयः" इत्यादिमें वाक्योंमें जड़ादि चेतनमें आत्म शब्द का प्रयोग है, "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" इसवाक्य में आत्म शब्द विभु चेतन पर है, यह इसका निर्णय कैसे किया है ? उत्तर में कहते हैं- आत्म शब्द विभु चेतन रूप परमात्माका ही वोधक है, अपर वाक्य के समान जानना होगा । जैसे "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" वाक्य में आत्म शब्द से विभु परमात्मा का ही वोध हुआ है। वह कैसे हुआ हैं ? कहते हैं– "उत्तरात्" सोऽकामयत बहु स्यां इत्यादि वाक्य आनन्दमय आत्म विषयक होनेके कारण वैसा अर्थ होगा। आनन्दमय आत्म शब्द परमात्मा का वोधक न होने पर अर्थ की सङ्गति नहीं होगी। ईश्वर में ही असाधारण शक्ति है।

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र कहते हैं, मुझे अतिस्तुति क्यों कहते हो मैं पर तन्त्र हूँ। अन्य से उत्पन्न होता हूँ। इस का निरास करते हैं, तुम्हारी माया है, तुम्हारे पारमार्थिक रूप को कोई नहीं जानता। ब्रह्मादि से लेकर कोई भी आप आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते हैं। अनात्म जड़ रूप से प्रत्यादि के द्वारा गृहीत होते हैं। अजड़ दृग् गोचर नहीं होते। जड़ गण न जाने, किन्तु चेतन जीव तो जान सकतेहैं नहीं ब्रह्मा भी जड़के गुण से आवृत है, गुणातीत आप को कैसे जान सकते। अपर की तो वात ही क्या है।

विशेष कहते हैं, आप अविषक्त वुद्धि अलिप्त वुद्धि के हैं, क्योंकि आप सर्वात्मा हैं, स्व व्यत्तिरिक्त न होने के कारण ही अविषक्त वुद्धि हैं। सर्ववुद्धि साक्षी होने के कारण वुद्धि लोप की सम्भावना नहीं हें, अपर समस्त व्यक्ति देव मनुष्यादि शरीर में अभिमानी होकर संसरण को प्राप्त करते हैं, वह गुण प्रवाह आप की माया कृत है, यह ही महान् विशेष है, आप को प्रणाम।

कार्य्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१६

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेति ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुःसुहृदो दैवमिष्टम् ।।३।०६।३८

केवलेन हि भावेन गोप्यगावो नगा मृगाः
येऽन्ये मूढ़धियो नागा सिद्धा मामीयु रञ्जसा ।।१६।१२।८

उत्त र वाक्य से भी आत्म शब्द से विभु चेतन का निर्णय नहीं कर सकते हैं, पूर्वत्र प्राणमयादि में जड़ अणु चेतन में आत्म शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा कहा नहीं सा सकता है--आत्म शब्द से विभु चेतन परमात्मा का ही निश्चय होता है क्योंकि ' अवधारणात् ' पूर्व में '' अस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इस वाकच से परमात्मा का ही वोध हुआ हैं, अन्यथा आनन्दमय विषयक वाक्य की हानि होगी । अरुन्धती दर्शन न्यास से परमात्मा का वोध कराने के लिए अन्यत्र प्राण शब्द का प्रयोग हुआ है ।।

अकुण्ठ वुद्धि भगवान् परमात्म श्रीकृष्ण को प्रणाम् । जो स्वयोगमाया द्वारा ऐश्वर्य्य को आवृत कर विराजित हैं, जिन को राजन्यवर्ग एवं एकत्र निवास करने वाले वृष्णिगण जान नहीं पाते है, आप नियन्ता है, कालस्वरूप है, एवं माया जवनिका द्वारा अच्छिन्न रहते हैं ।

अनन्तर पितृत्वादि धर्म का उपसंहार आरम्भ करते हैं--श्रुति में उक्त है श्रीनारायणमाता, पिता,भ्राता, निवास शरण सुहृन् व गतिहै, जिनन्ते स्तोत्र में भी उक्त है, पिता, माता, सुहृत, बन्धु, भ्राता, पुत्र, विद्या, धन तथा काम आप ही हैं, आप के विना अपर कोई गति नहीं है, मध्य एवं अन्त्य अध्याय में भी उक्त है, जन्म से हो मैं दास हूँ, शिष्य हूँ, तनय हूँ, आप स्वामी, गुरु माता, पिता हैं ' यहाँपर संशयहै कि पितृत्व पुत्रत्व, सखित्व, और स्वामित्व प्रभृति सकल धर्म भगवान् में चिन्तनीयहै, अथवा नहीं ! आत्मा की ही उपासना करें" इत्यादि श्रुति के अनुसार उस प्रकार चिन्ता की आवश्यकता नहीं है, इस सिद्धान्त का उत्तर देते हैं—

पूर्व, पूर्णानन्दत्वादि उस के सदृश अपूर्व पितृत्वादि, समस्त धर्म उन उन उपासकों से चिन्तनीयहैं । क्योंकि " परमेश्वर भाव ग्राह्य है '' इत्यादि वचनों से भाववश्यता–लक्षण फल का अभिधान सुनने में आताहै । श्रीभगवान् ने भी कहा है । " में जिन का प्रिय, आत्मा, सुत, सखा, गुरु, सुहृन् देव, तथा

समान एवं चाभेदात् ।३।३।२०

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्य ुपनिषद् दृशाम् ।।१०।१३।५४

इष्ट हूँ। अतएव पूर्णानन्दादि गुण की भाँति पितृत्वादि समस्त गुणों का चिन्तन भावुकों का कर्त्तव्य हैं, " आत्माकी उपासना करें " इत्यादि वाक्य का समाधान पहले किया गया है।

हे शान्तरूपे। मत् परा कदा चिद् भी भोगहीना नहीं होते हैं, अनिमिष मेरा काल चक्र भी उन सव को ग्रास नहीं करता है। उस मैं कारण यह हैं, जिन के मैं पुत्र के समान स्नेह का विषय हू ँ। सखा की भाँति विश्वास आस्पद हू । गुरु के समान उपदेष्टा सुहृत् के समान हितकारी हू ँ इष्ट देव के समान पूज्य हू ँ। इस प्रकार सर्व भावेनजो जन मेरा भजन करताहैं, उन को मेरा काल चक्र ग्रास नहीं करता है।

वृत्रासुर आदि का साधनान्तर नथा, गोपी प्रभृति का साधनान्तर भी नहीं है, सत्सङ्ग लब्ध केवल भाव " प्रीति' द्वारा ही मुझ को वे सवने प्राप्त किया है, नगा यमलार्ज्जुन आदि, नागा कालिय आदि, तदानीन्तन सर्वतरु गुल्म आदि का भगवान् के प्रति भाव था, सिद्ध मनोरथ होकर वे सव ही मुझ को प्राप्तकिए थे।

अनन्तर श्रीहरिके विग्रह रूपत्व ब्रह्ममें उपसंहार करनेके लिए प्रकरण का आरम्भ कररहे हैं। " आत्मेत्येवोपासित " " आत्मान मेव लोक मुपासित श्रुति में पाठ है, कहींपर " गोपाल वेश, अभ्राभ, तरुण कल्प वृक्षाश्रित, सत्, पुण्डरीक नयन श्रीकृष्ण को हृदय में चिन्ता करने से मुक्त होता हैं, इत्यादि वचन देखने में आते हैं। संशयहै कि—उपास्य वस्तु आत्म मात्र अथवा आत्म विग्रह है, परमेश्वर एक रस है, तथा एकरस रूप आत्मा की उपासना से भक्ति होती है, सूनने में आतीं है। अतएव आत्म मात्र वस्तु की उपासना करने का वोध हो रहा है। विग्रह सकल परस्पर विलक्षण है,, चक्षुः आदि इन्द्रिय विशिष्ट विग्रह एक रस न होकर अनेक रस हैं, अतएव तादृश विग्रह की उपासना में मुक्ति नहीं हो सकती है, इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

सूत्रस्थ " च " शब्द अपि अर्थ में हैं, चक्षु आदि के द्वारा वैलक्षण्य प्रतीत होने पर भी ' समान' एकरस भगवान है। वैसे सुवर्ण प्रतिमा का अङ्गप्रत्यङ्ग सुवर्णमय है, वैसे श्रीभगवन् विग्रह के अन्तर्गत चक्षु आदि द्वारा भिन्न प्रतीति होने पर भी स्वरूप से श्रीविग्रह अभिन्न है। चक्षु आदि इन्द्रिय श्रीभगवद् विग्रह से भिन्न नहीं है, अतएव विग्रह स्वरूप आत्मा की उपासना

सम्वन्धादेवमन्यत्रापि ।३।३।२१

यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः
तैस्तैरतुल्यातिशयै र्वीर्य्यै र्देहिष्वसङ्गतैः ॥१०।१०।३४

नवा अविशेषात् ।३।३।२२

त्वमकरणः स्वराडखिल कारकशक्तिधर
स्तववलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृताभवतश्चकिताः ॥१०।८७।२८

से ही मुक्ति होगी । इस सिद्धान्त को स्वीकार न करने पर "श्रीकृष्ण की हृदय में चिन्ताकरे" इस वाक्य का विरोध होगा । "सत्य ज्ञानानन्तानन्द मात्रैक रस मूर्त्तयः" यह स्मृति विचित्र भाव से विराजित श्रीविग्रह का एक रसत्व प्रकाश करती है, "अरूपवत्" सूत्र में इस विषय का विचार होने पर भी पुनर्वार प्रकारान्तरसे उस का विचार किया गयाहै, कृपालु आचार्य्य दुष्प्रवेश अर्थ में सुगमता से बुद्धि प्रविष्ट होने के लिए कठिन कर्थ का वारवार विचार करते हैं ।

रस स्वरूप सत्य ज्ञान अनन्तानन्दमय ही श्रीभगवान् के समस्त विग्रह है, जिस को उपनिषद् वेत्ता भी नहीं जान पाते हैं ।

साक्षात् रूप श्रीभगवदाविर्भाव समूद्र में उन उन गुणों का उपसंहार कहा गया है, अनन्तर जीवभूत आवेश अवतारों में उसका विचार करते हैं, छान्दोग्योपनिषद् में उक्त है-श्रीनारद जी सनत् कुमार के निकट जाकर विनीत भाव से निवेदन किए थे, हे भगवन् ! मैं उपसन्न हूँ । आप मुझ को शोक से उद्धार करें । यहाँपर प्रयुक्त भववत् शब्द से प्रतीत होता है कि—भगवान् के ज्ञान शक्ति आदि द्वारा आविष्ट सनत् कुमारादि जीव समूह उन का आवेश है । इन सव आवेश अवतार के अवतारगण निज उपास्य उन उन अवतारों में भगवान् के निखिल धर्मों का उपसंहार करेंगे किम्वा नहीं ? इस प्रकार संशय के उत्तर में कहते हैं—इन समस्त आवेश अवतारों मे लौह पिण्ड में अग्नि की भाँति भगवान् का सम्वन्ध रहने के कारण निखिल भगवद्धर्म का उपसंहार कर्त्तव्य है ।

अनन्तर निषेध पक्ष कहते हैं—

उक्त आवेश अवतार समूह में निखिल भगवद् धर्म का उपसंहार कर्त्तव्य

दर्शयति च ।३।३।२३

श्रीनारद उवाच

देव देव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज
तद्विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनम् ॥२।५।१
यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो
यत्संस्थं यत् परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥२।५।२
एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर
विजानीहि तथैवेदमहं बुध्येऽनुशासितः ॥२।५।८

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२४

नहीं है, क्योंकि अविशेषात् आवेश अवतार समूह भवगान् के आवेश होनेपर भी जीवत्व लक्षण धर्म द्वारा जीव के साथ उन में कोई विशेषता नहीं है। सूत्रस्थ "वा" शब्द द्वारा वे सवभगवत् प्रिय होने के कारणआदर का पात्रहैं।

श्रीभगवान् अखिल सत्त्व निकेत है, अतएव सेव्य हैं, जीव के साथ उन की समता नहीं है, इस लिए आप सेव्य हैं, और सव सेवकहैं। श्रुति कहतीहैं-

" अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः, सवेत्ति वेद्यं नच तस्य वेत्ता, तमा हुरग्र्यंपुरुषं पुराणंम्। करण सम्वन्ध रहित होकर समस्त प्राणियों की इन्द्रियों में शक्ति संञ्चार करते हैं, आप स्वराट् हैं, स्वतः सिद्धज्ञान शक्ति सम्पन्न के लिए करण की अपेक्षा नहीं है, अतएव अनिमिषा देवगण जैसे किङ्कर स्वामी की सेवा करता है वैसे आप की पूजा करते हैं,। आप की आज्ञापालन ही पूजा एवं उपहार प्रदान हैं।

"तं मां भगवान्" इत्यादि श्रुति भगवदाविष्ट नारद जी की जिज्ञासुता को प्रकट करतीं है, अतएव आवेश अवतारों में श्रीभगवान् के सकल धर्मों का उपसंहार करना कर्त्तव्य नहीं है।

श्रीनारद जी ने ब्रह्मा जी से कहा—हे देव बेव ! हे भूत भावन ! अत एव समस्त सृष्टिके प्रथम सम्भूत ! आप आत्म तत्त्वको साधन के साथ वर्णन करें। यह विश्व का प्रकाशक को, आश्रय की सृष्टि कर्त्ता का, जिस में विश्व लीन होता है, उन को, जिन के अधीन है, विश्व उन को एवं यदात्मक विश्व है, उन को सुस्पष्ट रूपसे मुझ को कहें हे सर्वज्ञ ! हे सकलेश्वर ! जैसे मैं आप के अनुशासन से उन जिज्ञासित तत्त्व को उत्तर रूप से अवगत हो सकूँ वैसे आप वर्णन करें।

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा
भावः करोति विकरोति पृथक् स्वभावः
सञ्चोदित स्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥७।६।२०
ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानगतयो वचसां प्रवाहैः
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टु मर्हति समे हरिरुग्रजातेः ॥७।६।८

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२५

देव देव जगद् व्यापिन् जगदीश जगन्मय ।
सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः

अतएव संभृति धारण, पोषण, पूर्णता, तथा व्यापकता ये दोनों गुण आवेश अवतारों में उपसंहृत नहीं होगा । क्योंकि वे सव जीव होने के कारण उन में गुण द्वयकी स्थिति नहीं हो सकती हैं, इस का अभिप्राय इस प्रकार है एणायनी के खिल नामक ग्रन्ध प्रकरणमें वर्णित है ब्रह्म ज्येष्ठ, वीर्य्यवत् तथा पूर्व है, सर्वादि रूप में उनकी स्थिति है, ब्रह्म के साथ कौन स्पर्द्धाकर सकते हैं । यहाँपर वीर्य्य, पूर्णता, तथा द्युव्याप्ति ब्रह्म महिमा कहीगयीहै, इनसव महिमाका उपसंहार जीवरूप आवेशावतार में नहीं हो सकता है, क्योंकि वे सव परेश पर हैं,

ब्रह्मादि देवगण, मुनिगण, सिद्धगण,, ज्ञानिगण, सात्त्विक मनसे भी जिन की आराधना करने में असमर्थ है, उन श्रीहरि को असुर जाति होकर कैसे सन्तुष्ट कर सकता हूँ ।

पर, ब्रह्मादि, अपर--अर्वाचीन पिता प्रभृति की सत्ता आप का अधीन है, उन उन स्वरूपों से जो भी कार्य होता है, उस का कर्त्ता आप ही हैं, क्यों समस्त वस्तु आप का स्वरूप है । पृथक् नहीं है । जिस आधार में जिनके निमित्त से जिस काल में जिस करण से, जिस हेतु से कर्त्ता प्रेरित है, जिस के सम्बन्ध से, जिस से, जिस के लिए ये सप्त विभक्ति का अर्थ आप में ही पर्य्यवसित है, जिस प्रकार से क्रिया विशेषण अव्यय का अर्थ है, पृथक् स्वभाव सत्त्वादि प्रकृति जो कुछ उत्पादन करती है, एवं रूपान्तर भी करतीं, सव के कर्त्ता आप ही हैं ।

आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं वहिः
यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्मचिद्भवान् ८।१२।४-५

वेधाद्यर्थ भेदात् ।३।३।२६

निवृत्तं कर्मसेवेत प्रवृत्तं मत् परस्त्यजेत्
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥११।१०।४
आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः ।११।११।३२
कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ॥११।११।३६

श्रीहरि के गुण समूह आवेशावतार में अनुसन्धान करना उचित नहीं है, इस के लिए हेत्वन्तर का प्रदर्शन करते हैं—पुरुष सुक्त में ईश्वर का सर्व भूतोपादानत्व, सर्व नियामकत्व उक्त है, वे सव गुण कुमारादि में अनुसन्धान जैसे नहीं हो सकता है, श्रीगोपालतापनी आदि में भी जो गुण श्रीहरि के कहे गये हैं, वे सव भी कुमारादि में अनुसन्धेय नहीं है। इस प्रकार श्रीहरि के अपर विशेष गुण भी कुमारादि में उपसंहार करने के लिए शास्त्र में कथित नहीं हैं। प्रकरण का सारार्थ इस प्रकार है—ईश्वराविष्ट कुमारादि में तप्त लौह पिंड के समान दो अंश होते हैं, जो व्यक्ति तप्तायस पिंड अग्नि अंश के समान ईश्वरांश का दर्शन करता है, वह निखिल ईश्वर धर्म आवेश समूह में उपसंहार करता है, और जो जन लौहांश के समान जीवांश मात्र देखता है, आवेश अवतार में उन सव धर्मोंका चिन्तन नहीं करता है, किन्तु भगवान के प्रियतमादि धर्म का चिन्तन करता है। ईश्वर भी निज प्रिय जन की अनुवृत्ति द्वारा प्रसन्न होकर उन को स्वीकार करते हैं। श्रीभागवतादि शास्त्र में श्रीकुमारादि के प्रति भगवन् शब्द का प्रयोग भी देखने में आता है, तथा दैन्योक्ति से उन का जीव धर्म भी कथित हैं।

श्रीमहादेव कहतेहैं, महा मायावी परमेश्वर आप में कुछ भी असम्भव नहीं है, अतएव परम कौतुहल से ही हम सव आप के दर्शन के लिए आए हैं। अनन्तर अनेक सम्बोधन द्वारा स्तव करते है, हैं देव देव ! हे जगद्व्यापिन् ! हैं जगन्मय ! हे जगदीश ! आप समस्त वस्तु के हेतु हैं, आप ईश्वर हैं, एवं आत्मा हैं। आदि मध्य अन्त ये सव अवस्था जगत् की है, आप ब्रह्म हैं अव्यय है, सत्य हैं, एवं चिद्रूप हैं ॥

" स्व शाखोक्त गुण विशिष्ट ब्रह्म उपास्य हैं, इस प्रकार शास्त्र में उक्त

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्द स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ।३।३।२७

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः
द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः ३।९।३१
यदातु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम् ॥३।९।२२
पूर्त्तेन तपसा यज्ञैर्दानै र्योगैः समाधिना
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत् प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ॥३।९।४१

हैं, इन में से भी कुछ गुण ममुक्षु के लिए अनुसन्धेय नहीं है, " हे अग्ने ! तुम यातुधान को नाश करो, तुम्हारे तेजः के द्वारा उस का मर्म भेद करो। यह सव उक्ति आथर्व्वण में हैं। यहाँपर जीव का दुःख दायी वेधादि गुण-समूह उपास्य हैं अथवा नहीं ? इस प्रकार संशय में दुष्ट निग्रह रूप प्रयोजन के कारण वे उपास्य हैं। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

पूर्व सूत्र से " न " कार का अनुवर्त्तन हुआ है वेधादि गुण उपास्य नहींहें, क्योंकि उस में अर्थभेद अर्थात् फल का भेद है। मुमुक्षु व्यक्ति निवृत्ति कर्म्म का अधिकारी है, हिंसात्मक कर्म में उन का अधिकार नहीं है। श्री-भगवान् ने कहा है—मत् परायण व्यक्ति अमानित्य, अदम्भित्व अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव आदि निवृत्ति कर्मा का आचरण करे और प्रवृत्ति कर्म का त्याग करें। मत् पर व्यक्ति निवृत्ति कर्म का ही सेवन करें। प्रवृत्त कर्म का त्याग करे, काम्यकर्म परित्याग पूर्वक आत्म जिज्ञासा में प्रवृत्त होकर काम्य कर्म विषयक विधि का भी समादर न करे।

और भी मैंनें वेद रूप से जो कुछ आदेश किया है, उन सव धर्म को छोड़कर जो जन मेरा भजन करताहैं, वह सत्तमहै, अज्ञान से अथवा नास्तिक वुद्धि से पूर्वोक्त स्वाधिकार प्राप्त धर्मों का परित्याग करना नहीं है; किन्तु धर्मा चरण में सत्त्व शुद्धयादि गुण, है, धर्माचरण न करने पर नरक पात रूप दोष है, यह जानकर मेरी भक्तिसे ही सव कुछ होगा; यह जान कर भक्ति द्वारा मेरा भजन करे ॥

साधु का लक्षण तीस लक्षणों से करते हुए कहते हैं कृपालु-परदुःखा सहिष्णु, सव के प्रति द्रोह शून्यता एवं क्षमावान् आदि गुण साधु के हैं ॥

श्वेताश्वतर उपनिषत् में वर्णित है, " परमेश्वर को जानने से सकल्

साम्पराये तर्त्तव्याभावात् तथाह्यन्ये ।३।३।२८

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदुपाश्रयाम् ॥१।७।४
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः
न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥११।२०।३१

पाश नष्ट होजाते हैं। क्लेश क्षीण होने से जन्म मृत्यु का अभाव होता है॥ उन के अभिध्यान से शरीर क्षय होने पर केवल विश्वैश्चर्य्य रूप तृतीय भागवत पद की प्राप्ति होती है, जिस से समस्त कामना पूर्ण हो जाती हैं"।

यहाँपर ईश्वर ज्ञान से ममता पाश की हानि होतीहै, इसप्रकार ईश्वर महिमा कही गई है, ज्ञानानन्तर निरन्तर ईश्वर चिन्ता से लिङ्गदेह क्षय होने से चान्द्र ब्रह्म की अपेक्षा से तृतीय भागवत पद का लाभ होता है। जिस से जीव पूर्ण मनोरथ होता है, यहाँपर शास्त्रीय ज्ञान गम्य ईश्वर है, यहाँ कहा गया है, भगवान् का चिन्तन अनिवार्य्य है अथवा ऐच्छिक है, निष्ठा वृद्धि के लिए उक्त चिन्तन नियत ही है, इस प्रकार सिद्धान्त होने पर उत्तर में कहते हैं—पाश हानि होनेपर उपायन शब्द शेषत्व प्रयुक्त कुश द्वारा च्छन्द स्तुति के समान शास्त्र प्राप्य देवधर्म चिन्तन कथित हुआ है।

पूर्व पक्षीय सिद्धान्त निरास के सुत्र में "तु" शब्द दिया गया है। जैसे नियत स्वाध्याय के वाद कुश ग्रहण पूर्वक सम्यक् इच्छानुसार स्तुति गान किया जाता है वैसे "उन का अभिधान" शब्द से सम्यक् किंवा किञ्चित् इच्छा के अनुसार देवता चिन्तन होता है, उस का फल उन की अनुरक्ति व सामीप्य लाभ है। देव चिन्तन ऐच्छिक है, उस से चित्त कठिन हो जाता है। किन्तु तत्त्व विचार वाह्यदशा में कभी कभी तत्त्वविन् प्रसङ्ग से होता है॥

उक्त विषय में युक्ति एवं प्रमाण का प्रदर्शन हैं, स्वंपराय शब्द श्रीहरि का वोधक हे, जिस में समस्त वस्तु मिलित होती है„ संपराय हैं, श्रीभगवद् विषयक प्रेमही साम्पराय है, श्रीहरि में प्रेमभक्ति होने पर समस्त पाशनष्ट हो जाता है. अत उस समय तत्त्व की चिन्ता ऐच्छिक हैं। क्योंकि उस समय वद्धता रहती नहीं। अतएव छेद्य पाश का अभाव है, पाश की स्थिति में ही विधि की आवश्यकता हैं।

वाजसनीय मे उक्त है—"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायेद्वहून् शब्दान् वाचो विग्लापनंहि तत्"। ब्राह्मण धीर उनको

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२६

इत्थं शरत् प्रावृषिका वृतुहरे—
विश्रृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ॥
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभि र्महात्मभि
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरज स्तमोपहा ॥१।५।२८
मत् कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽवलाः
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥११।१२।१३
ईश्वरे तदधीनेषु वालिशेषु द्विषत्सु च
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥११।२।४६

ही जानकर प्रज्ञाकरें। अनेक शब्द का अभ्यास न करें क्योंकि वे सव अहित कर हैं। श्रीभगवान् ने भी कहा है" मदात्मा मद् भक्तियुक्त योगिगण के लिए ज्ञान वैराग्य प्रायः श्रेयस्कर नहीं हैं" ज्ञान वैराग्य जन्म मृत्यु पाशकानाशक है, जव भगवत् प्रेमयुक्त जन में उस पाशका एकान्त अभाव है, तव ज्ञान वैराग्य का पृथक अभ्यास करने की आवश्यकता ही क्यों होगी ? भक्ति से उत्थित ज्ञान वैराग्य से ही साधक सम्पन्न होता हैं। प्रेम भक्तियोग से मन सम्यक् अमल एवं निश्चल होने पर पूर्ण पुरुष का दर्शन हुआ; एवं श्रीभगवन् आश्रित माया को भी देखा ॥

प्रेम भक्ति द्वारा हृदय ग्रन्थि एवं निखिल संशय विदूरित होने पर श्री भगवद् दर्शन होता है, तव कर्म भी नष्ट हो जाता है, अतएव मदात्मा भक्ति युक्त योगी के लिएज्ञान एवं वैराग्य श्रेयस्कर नहींहै, भक्ति निरपेक्ष है, स्वतः ही ज्ञान वैराग्य युक्त है; अन्य समस्त साधन भक्ति सापेक्ष है।

गुण विशिष्ट ब्रह्मोपासना इस के पहले कही गइ हैं। वह उपासना द्विविध है, उस का प्रदर्शन करते हैं, श्रीहरि के कहींपर गोपवेश नव नीरद कान्ति की प्रकृति समन्वित ओर कहीं आत्मा, वशी नियन्ता रूपसे कहा गया है, यहाँपर माधुर्य्य ज्ञान से प्रवृत्त रुचि भक्ति से भगवत् प्राप्तिकहीं गई है, कहीं पर ऐश्वर्य ज्ञान से प्रवृत्त विधिभक्ति से भगवत् प्राप्ति कही गई है। विषय वैलक्षण्य से भक्ति का वैलक्षण्य प्रतीत होता है, उक्त भक्ति द्वय के द्वारा भगवन् प्राप्ति का कथन से किसी एक में प्रवृत्ति असम्भव है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते है।

मण्डूकप्लुति न्याय के अनुसार 'न' कार पूर्व से अनुवर्त्तन हुआ है।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथाहि विरोधः।३।३।३०

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः
आवेश्यं तदघं हित्वा वहवस्तद्गतिं गताः
गोप्यः कामात् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ७।१।२९-३०

छन्दत—सत्प्रसङ्गानुयायि भगवत् सङ्कल्प से ही उभयविध जीवों की उभय विध भक्ति में प्रवृत्ति होती है। क्योंकि उभयविध वाक्य की विद्यमानता है, वाक्यार्थ इस प्रकारहै—अनादि सिद्ध द्विविध भगवद्गुणोपासना भगवत् नित्य पार्षद वृन्द से लेकर साधक पर्य्यन्त सुर सरित प्रवाहके समान प्रवाहित होती है। अतएव इश्वर की इच्छा से विश्ववर्त्ति जीवों के सत् प्रसङ्ग होता है, श्रीगुरुदेव के द्वारा उपदिष्ट सन् उपास्य अपने गुणों में उन जीवों को प्रवृत्त करने की इच्छा करते हैं, और जीव गुरूपदिष्ट मार्ग के अनुसार उसका अनु वर्त्तन करता है॥ भक्त तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम; कनिष्ठ, उन में अनुग्राही साधक मध्यम है। ईश्वर में भक्त में, मूढ़ व्यक्ति एवं शत्रु में जो जन क्रम से प्रेम, मैत्री, कृपा और अपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त हैं। इस प्रकार भक्तानुग्रह कातर श्रीहरि में वैषम्य दोष का प्रसङ्ग नहीं है।

श्रीहरि के अमल यशः का श्रवण प्रतिदिन चतुर्मास्य में मदात्ममुनि वृन्द के मुख से करने पर रजस्तम भयापहारक प्रेम भक्ति का आविर्भाव मुझ में हुई॥

ये सब अवला गोपीगण की मेरे विषय में ही कामनारही, वे सब मेरे स्वरूप की नहीं जानती थीं। तथापि मेरे सङ्ग प्रभाव से ही जार बुद्धि वेद्य होने पर भी परम ब्रह्म स्वरूप मुझ को प्राप्त किये थे॥

उभय प्रकार भक्ति द्वारा ही भगवत् प्राप्ति होती है। उभय की ही सार्थकता है। गति का प्राप्ति अर्थ है, अर्थशब्द का पुरुषार्थ अर्थ है। हि शब्द ऐश्वर्य माधुर्य्य दोनों का ही प्रामाण्य सूचक है। विधि भक्ति से ऐश्वर्यात्मक भगवान् की प्राप्ति, माधुर्य्य भक्ति से माधुर्य्यात्मक श्रीहरि की प्राप्ति होती है, किन्तु दोनों की प्राप्ति में तार तम्य अवश्यहै, क्योंकि दोनों साधनों में भिन्नता है। एकान्ती भक्तों के समीप श्रीभगवान निजइष्ट से अन्य गुणों का प्रकाश नहीं करते हैं।

काम, द्वेष, भय, स्नेह, तथा भक्ति द्वारा ईश्वर में मन को आविष्ट कर के अनेकों ने ईश्वर को प्राप्त किया है, काम भाव से गोपीगण, भय से कंस,

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३१

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथाभक्तिमतामिह ।।१०।९।२१

अनियमः सर्वेषामविरोधाच्छब्दानुमानाभ्यां ३।।३।३२

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ।।१२।३।५१
श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणंपादसेवनम्
अर्च्चनं वन्दनं दास्यंसख्यमात्मनिवेदनम्
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीत मुत्तमम् ।।७।५।२३-२४

द्वेष चैद्यादि नृपतिवृन्द, सम्वन्ध से वृष्णिगण, स्नेहसे पाण्डवगण, श्रीनारदादि मुनिगण भक्ति द्वारा श्रीहरि में आविष्ट चित्त होकर श्रीहरि को प्राप्त किए है, साधनानुसार प्राप्ति गें भेद है, आवेश अंश में समानता है।

अनन्तर रुचि भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शन करते हैं—विधि मार्ग उत्तम है, अथवा रूचिमार्ग? इस प्रकार होने पर विधिमार्ग की उपासना विधि द्वारा परिमार्जित होने पर विधि मार्ग ही श्रेष्ठ है" कथन के उत्तर में कहते हैं—रुचि मार्ग द्वारा श्रीहरि भजन कारी व्यक्ति श्रेष्ठ है, क्योंकि माधुर्य गुण स्वरूप श्रीभगवान् माधुर्य्य भक्ति द्वारा श्रीहरि भक्त के निकट में स्वयं वशीभूत होकर रहते हैं। इस सम्बन्ध में लौकिक दृष्टान्त द्वारा सुष्पष्ट करते हैं, जैसे स्वजनानुवृत्तिरसिक सर्वाधिक ममता सम्पन्ना हितकारी स्वजन द्वारा वशीभूत होते हैं, एवं उक्त जन सवजनसमक्ष में श्लाघनीय होता हैं, वैसे श्री हरि प्रीति रसिक है, प्रियभक्त द्वारा वशीभूत होकर प्रिय भक्त का सम्मान को वढ़ाते हैं, यद्यपि समस्त भक्तों के समीप में श्रीहरि वशीभूत होकर रहते हैं, तथापि माधुर्य्य भक्तों के निकट में वशीभूत होने की पराकाष्ठा है, श्रीशुकवेव ने कहा है, देहाभिमानी तापस आदि तथा निरभिमानी ज्ञानी प्रभृति श्री-भगवान् को सुख पूर्वक प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अर्थात् उन सव के पास प्रभु सुख पूर्वक अवस्थान कर नहीं पाते है, किन्तु गोपिकासुत भगवान् भक्त के समीप में निरन्तर सुख पूर्वक अवस्थान करते हैं।

श्रीहरि की उपासना एक अङ्ग से, अनेक अङ्गों से द्विविध होती है,

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।३।३।३२

एते वयं यस्य वशे महात्मनः स्थिताःशकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः
महानहं वैकृततामसैन्द्रियाः सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ५।१७।२३
नैवापयन्त्यपचितिं कवयोस्तवेश ब्रह्मायुषापिकृतमृद्धमुदः स्मरन्तः
योऽन्तर्वहि स्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्य्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं
व्यनक्ति ॥११।२९।६

इस का प्रदर्शन के लिए प्रकरण आरम्भ करते हैं—अथर्वो पनिषद् में कथित है " मुनिगण ब्रह्मा जी को कहे थे । अष्टादशाक्षर मन्त्ररूप ब्रह्म का ही ध्यान करें, भजन करें । जो इस प्रकार अनुष्ठान करता है, वह मुक्त हो जाता है, " इस वाक्य में संशय है कि—ध्यान आदि निखिल अंग मोक्ष का साधन है, अथवा एक एक अंग पृथक रूप से मोक्ष का साधन हैं ? जब सबका निर्देश के द्वारा ही मोक्ष को कहा गया है, तब समस्त समवेत अङ्गों का साधन से मुक्ति होगी । इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं, सब के अनुष्ठान से ही मोक्ष होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु प्रत्येक ही पृथक् साधन है, इस में अन्यान्य श्रुति-स्मृति के साथ पूर्वोक्त श्रुति का कोई विरोध नहीं है, श्रीकृष्ण कीर्त्तन से ही जीव भवबन्धन से मुक्त होताहै, तथा पर ब्रह्म का लाभ करता है, श्रीहरि के उद्देश्य में एक ही प्रणाम दश अश्वमेध यज्ञ से भी श्रेष्ठ है, दशाश्व मेधी पुनर्जन्म प्राप्त करताहै, और कृष्ण प्रणामीका पुन र्जन्म नहीं होता है, इस प्रकार ध्यान विधायक स्मृति के साथ भी कोई विरोध नहीं है । अविरोध स्वीकार न करने से विरोध होगा, अतएव ध्यानादि प्रत्येक साधन से ही अमृत लाभ होताहैं । "जो ध्यायति " यह श्रुति श्रवणादि नौ प्रकार के साधन का उपलक्षण है, अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन स्मरण, पाद सेवन, अर्च्चन, वन्दन से भी कोई साधन मुक्ति प्रदानमें समर्थ है । इस प्रकार जप और ध्यान परस्पर एकता वद्ध हैं, ।

ब्रह्मविद्या होने पर मुक्ति होती है, किन्तु सिद्धविद्य ब्रह्मरुद्र आदि देवताओं का चिरकालतक एक प्रपञ्चमें अवस्थान तथा भगवत् प्राप्ति कुल्यादि भाव देखने में आता हैं ? उस के उत्तर में कहते हैं—

ब्रह्म विद्या लाभ होने पर समस्त व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती हैं । किन्तु विद्या द्वारा जिनका सञ्चित कर्म नाश हो जाता है, क्रियमाण कर्म से विश्लेष तथा भोग के द्वारा शरीरारम्भ कर्म का क्षय हो गया है, उन की ही विद्या लाभ के अनन्तर मुक्ति होती है । जिन को वह नहीं हुआ है, उन को

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्य तद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ।३।३।३४

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्य्यङ्
न स्त्री न षण्डो न पुमान् न जन्तुः
नायं गुणः कर्म न सन्न चास-
न्निषेधशेषो जयतादशेषः ।८।३-२४
सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ।८।३।२६
एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्ग भिदाभिमानाः
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयोहरिराविरासीत् ८-३।३०

अधिकार पर्य्यन्त अवस्थान करना पड़ेगा। यहाँपर ज्ञातव्य यह है कि-अचिर अधिकारापन्न इन्द्रादि देवगण अधिकार के अन्त में चिराधिकारी ब्रह्मा में लोन होते हैं, अनन्तर ब्रह्मा का अधिकार समाप्त होनेपर वे विमुक्त होते हैं। "कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण" इत्यादि सूत्र में आगे यह विषय परिस्फुट होगा। श्रीभगवान् में उन सवका जो प्रतिकूलभाव देखने मैं आता है, वह उन की लीला पोषण के लिए ही उनकी इच्छानुसार होता है। अत दोषावह नहीं हैं, उनका विषयावेश भी आभास मात्र है, क्योंकि वे सव विद्या निष्ठ हैं। अतएव आधिकारी भिन्न तत्त्व विदों को विद्याधिगम से विमुक्त होती है।

हम सव और महदादि आप के अनुग्रह से ही ब्रह्माण्ड सृजन में समर्थ हैं। आप के वशमें स्थित होकरएवं आप के प्रदत्त अधिकारमें स्थित होकर हम सव अधिकारानुरूप कार्य्य करते है, जैसे लौकिक सूत्र से आवद्ध होकर पक्षीगण रहते हैं, वैसे हम सव आप की क्रिया शक्ति द्वारा यन्त्रित हैं।

आप की उपासना की वात तो दूर है, आप के उपकार को स्मरण आत्म निवेदन ही करना है, ब्रह्मविदगण आप को प्राप्तकर नहीं पाते हैं, आप गुरु रूप में अन्तर में और वाहर में स्थित होकर विषय वासना को विदूरित करते हैं, अनन्तर निज रूप की प्रकट करते हैं।

इस के वाद अस्थौल्यादि धर्मों का उपसंहार करते हैं, श्रुति में उक्त है

हे गार्गि ! वह अक्षर पुरुष अस्थूल ,अनणु, और अह्रस्व है। पराविद्या द्वारा उस अक्षर पुरुषकी प्राप्ति होतीहै, वह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण अचक्षु तथा अश्रोत्र हैं। संशय है—अक्षर शब्द द्वारा उक्त पर ब्रह्म विषयक स्थौ- ल्यादि निषेधक बुद्धि समूह उपासना में उपसंहार्य्य है, अथवा नहीं ? "समान एव चाभेदाद् " इस सूत्र में विग्रहात्मक ब्रह्म की उपासना निरुपित हुइ है। तादृश ब्रह्म में असम्भावना प्रयुक्त इन सब का उपसंहार नहीं हो सकता है„ इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—सूत्रस्थ " तु " शब्द पूर्वपक्ष निरासक है। अक्षर ब्रह्म सम्वन्धि अस्थौल्यादि बुद्धियों की ब्रह्मोपासना में उप संहार करें, कारण-सामान्येति। " सर्वे " वेदा यत् पद मामनन्ति" इस वाक्य से उपास्य ब्रह्म सर्वत्र एक रूप है, विग्रह में अस्थौल्यादि का भी कथन है। इस का भावार्थ्य-है-कि—ज्ञात्वा देवम् " इत्यादि श्रुति द्वारा ज्ञान से मुक्ति होती है, यह ज्ञान असाधारण रूप से ग्रहणीय है, साधारण रूप से नहीं। अन्यथा अति व्याप्ति होगी।

विभु ज्ञानानन्दाभिन्न विग्रह का अस्थौल्यादि गुण विशिष्टता के रूप जो ज्ञान है—वह ब्रह्म-स्वरूपाज्ञान है, और असाधारण है। कारण है कि— यहज्ञान ब्रह्म स्वरूप का ब्रह्मेतर पदार्थ का भेद है। इस प्रकार ब्रह्म विग्रह की निखिल हेय वस्तु से विशेषता सिद्ध हुई। अप्राकृत श्रीविग्रह में प्राकृत दोषगुण सम्भव नहीं है। कहा गया है कि--देवता, असुर, नर, पशु, पक्षी, स्त्री, नपुंसक, पुरुष, जन्तु गु कर्म, सत्, असत् कुछ भी नहीं है, वे स्वयं अशेष विशेष होकर भी निषेध का शेष हैं, गजेन्द्रने जव इस प्रकार के आविर्भाव की प्रार्थना की तव उनकी प्रार्थना से भगवान् श्रीहरि आविर्भुत हुए थे, अन्यथा गजेन्द्र के मन में ज्ञान मात्र का आविर्भाव होता। भगवान् के श्रीविग्रह में प्रपञ्च देवमनुष्य आदि का निषेध है, किन्तु उक्त रूप उन में प्रतीति भी स्वरूपनिष्ठ है, इस प्रकार ही प्रसङ्ग देखने मे आता है, गुण समूह प्रधान का अनुगमन करते है। ओपसद इस का दृष्टान्त है। ओपसद् अर्थात् कर्माङ्गभूत मन्त्र जिस प्रकार प्रधान कर्माका अनुगमन करता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् के गुण समूह प्रधान गुण के अनुगम करते हैं॥

जैसे " जामदग्न्येऽह्नीने पुरोडाशिनीयुपसत् स्वग्नेर्वेर्होत्र मित्यादि का: पुरोडाश प्रदान मन्त्रा सामवेद में पठित होनेपर भी यजुर्वेदीगण इन सव मन्त्रों का प्रदान मन्त्र का अनुगामी कर पाठ करतेहै। क्योंकि इससे पुरोडाश प्रदान कर्म होता कर्म होता हैं। अतएव प्रधान अक्षरके साथ, अन्यत्र पठित गुणों का सम्वन्ध है, विधि काण्ड में उक्त है " गुण मुख्य व्यति क्रम में तदर्थ त्वान्मुख्ये वेद संयोग:। इति मुख्य गुण का व्यतिक्रम होने पर तदर्थत्व प्रयुक्त के साथ वेद संयोग करना होगा॥

इयदामननात् ।३।३।३५

मद्धिष्णच दर्शनस्पर्श–पूजास्तुत्यभिवन्दनैः
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥३।२६।१६
यच्छौचनिःसृतसरित् प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्द्ध्नचधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनः शमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥३।२८।२२

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ।३।३।३६

ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयतेवहुधर्षिभिः ॥११।६।२१
ब्रह्मैक भाति सदसच्च तयो परं यत् ॥११।३।३७
श्रवणात् कीर्त्तनाद्धयानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥१०।७०।४३
यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥४।२६।४६

उक्त प्रकार विग्रत्वादि धर्म समूह की भाँति " सर्व कर्मा सर्वगन्ध " इत्यादि श्रुति से प्रतिपन्न सर्व कर्मत्वादि ब्रह्म में चिन्तनीय हो ? इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं। परमेश्वर का तादृश विग्रहत्वादि गुण वृन्द सर्वत्र अवश्म चिन्तनीय हैं। उस से उनका आभिमुख्य लाभ होता है। इस प्रकार गुण समूह से उनका अनुचिन्तन होता है। अतएव वह अवश्य कर्त्तव्य है। सर्व कर्मत्वादि सकल धर्म चिन्तनीय स्वरूप में अनुवर्त्तन करना चाहिए। अतएव वह चिन्तनीय नहीं है ॥

हमारे विग्रह का दर्शन स्पर्श पूजा स्तुति आभिवन्दन आदि से मेरी अर्च्चना करे। समस्त प्राणियों के प्रति सद्भावना के द्वारा सत्त्व गुण, एवं आसक्ति त्याग पूर्वक मेरी अर्च्चना करे।

जिन के चरणोदक से उद्भूत गङ्गासलिल को मस्तक में धारण कर शिव मङ्गल मय होगये हैं। ध्यानकारी के पाप पर्वत का नाशक वज्ररूप श्रीहरि के चरणार विन्द का अनवरत ध्यान करे।

अनन्तर स्वात्मकाधिष्ठानत्व धर्म का उपसंहार करते हैं। मुण्डक

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्।३।३।३७

त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते ।।१०।१४।२२

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः ।।१०।१३।५४

उपनिषत्में उक्तहै " जो सर्वज्ञसर्ववित् " जिन की महिमा इस पृथ्वी में दृष्ट हैं, वे आत्म प्रतिष्ठित संव्योम नामक दिव्य पुर में वास करते हैं " अन्त में भी कहा है—ब्रह्म ही यह विश्व है वरिष्ठ है " संशय हैं कि संव्योम शब्द से अभिहित ब्रह्मपुर सामर्थ्य ऐश्वर्य्यपर्यायी महिमा विशेष है-किम्वा विचित्र प्रासादिगोपुर प्राकारादि विशिष्ट पुरी विशेषहै ? भगवान स्वशक्तिमें अधिष्ठित हैं, इत्यादि श्रुति वाक्यसे उसकी आध्यात्मिक महिमा कहके स्थिर कियाजाता है, अतएव महिमा ही का पुरी रूपसे वर्णन किया गया है, महिमा ही संव्योम है' और यह अनन्त है। परमेश्वर विभु हैं सुतरां उनका अनुष्ठान सम्भव नहीं है। आकार त्रिभुति आदि समन्वित प्राकृतगुण विशिष्ट पदार्थ का अधिष्ठान होता है। जव भगवान अप्राकृत वस्तु हैं तव उनका अधिष्ठान कहाँ है, उन की महिमा हीं आधार है, इस पूर्व पक्ष का उत्तार में कहते हैं—स्वीय भक्तों की दृष्टि में भगवान् का अधिष्ठान रूप संव्योमपुर प्राकृत भूत निवासकी तरह प्रतीत होता है। जिस को वे वरण करते हैं, उसको प्राप्त करता है, संव्योम पुर स्थित समस्त वस्तु ब्रह्मात्मक अर्थात् विशुद्ध चित् स्वरूप होने पर भी पृथिव्यादि भौतिक वस्तु के सदृश प्रकाश मान ही हैं, उस पुर का सन्मुख आदि ही ब्रह्म रूप हैं विश्व ही ब्रह्म ही हैं, वरिष्ठ हैं, अतएव पुर ब्रह्मात्मकहैं, ब्रह्म समस्त रूप में स्फूरित होते हैं, मयूर पुच्छ के समान ब्रह्मविचित्र रूप से प्रतिभात होता है।

ऋषिगण एक अद्वितीय ब्रह्मको अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं। ब्रह्म ही सद् असत् एवं इस से अतिरिक्त रूप में प्रति भात होते हैं। श्रवण कीर्त्तन ध्यान से जव सव पवित्र हो जाते हैं तव हे ईश ! ब्रह्म धन मूर्त्ति आप का सन्दर्शन अभिलाषी व्यक्ति पूर्ण मनोरथ क्यों नहीं होगा।

भेद न रहने पर अधिष्ठान और अधिष्ठाता का भेद प्रतिपन्न नहीं होगा इस प्रकार कथन अयुक्त है, उपदेशान्तर के दृष्टान्त उक्त वाक्य का समन्वय करना होगा। जैसे " आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् " इस वाक्य में अभेद में भेद का कथन है, उस प्रकार विशेष पदार्थ के बलपर अभेद में भेद स्वीकार दोषा वह नहीं है। आप नित्य सुखवोध विग्रह है। सत्य, ज्ञान, अनन्त आनन्द मात्र ही मूर्त्ति समूह हैं॥

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ।३।३।३८

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद् दृशाम्
एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनाखिलान्
यस्य भाषा सर्वमिदं विभाति स चराचरम् ॥१०।१३।५३।५४

मैव हि सत्यादयः ।३।३।३६

सत्यं परं धीमहि ॥१।१।१
आत्मेश्वरोऽतर्क्य सहस्रशक्तिः ॥३।३३।३
सत्यं शौचं दयाक्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ॥१।१६।१७
एते चान्ये च भगवन् नित्यायत्नमहागुणाः
प्रार्थ्या महत्वमिच्छद्भिर्न वियन्तिस्म कर्हिचित्
तेनाहंगुण पात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम् ॥१।१६।३०-३१
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥२।२।२६

अनन्तर लोकों के उपास्य भाव में समता का प्रकाश करते हैं— " आत्मानमेव लोक मुपासीत् " इत्यादि श्रुति परमात्मा को लोक रूप से और लोक को पर मात्मा रूपसे उपदेश करतीहै, अतएव परमात्मा ही आत्म लोक तथा आत्मलोक ही परमात्मा-इस प्रकार के व्यतिहार से अभेद की प्रतीति होती है। जैसे " सत् पुण्डरोक नयन " आदि तथा साक्षात् प्रकृति पर यह आत्मा गोपाल " आदि श्रुतिगण विग्रह की परमात्मा रूप से तथा परमात्मा को विग्रह रूप से निर्देश करती हैं, उसी प्रकार उनको लोक सम्वन्धमें जानना होगा। अतएव आनन्द चिद्विग्रह श्रीहरि ही निज अचिन्त्य शक्ति द्वारा निज भक्त के निकट विचित्र तादृश लोक रूप को प्रकाश करते हैं, भक्तभिन्न अन्य के निकट नहीं अतः परमेश्वर के समान उनका धाम भी ध्येय वस्तु है ॥ समस्त ही मूर्त्तिमत् है, उस में तेजो विशेष है, उस को कहते हैं, सत्य ज्ञान अनन्त आनन्द रूप ही मूर्त्ति समूह है, विजातीय सम्भेद रहित है, सदा एक रूप मूर्त्ति समूह हैं, सत्य ज्ञानादि मात्र ब्रह्म स्वरूप ही मूर्त्ति समूह हैं, अतएव आत्मज्ञान रूप चक्षु द्वारा अज्ञात हैं, एवं उन की महिमा भी अस्पृश्य है। ब्रह्माजीने व देवकी ने पर ब्रह्म रूप में ही देखा है, जिन की शक्तिसचराचर उद्भाषित है।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।४०

अस्यैव भार्य्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥१०।५३।३७
एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि र्यथार्भकः स्वप्रतिविम्व विभ्रमः
॥१०।३३।१६
तत्राति शुशुभे ताभि र्भगवान् देवकीसुतः
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥१०।३३।६
तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो
योगेश्वरान्त हृदिकल्पितासनः
चकास गोपी परिषद्गतोऽर्च्चित
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपूर्दधत् ॥१०।३२।१४

अनन्तर पूर्व सिद्धान्त सुस्थिर करने के लिए विचार आरम्भ करते हैं- विशेष वोधक सकल वाक्य इस विचार का विषय है। जिन विशेष पदार्थ के द्वारा पर ब्रह्म श्रीहरि उनके धाम तथा उनके विग्रह से भिन्न प्रतीत होते हैं, वह सव विशेष मायिक हैं किम्वा अमायिक है? संशय है कि "नेह नानास्ति किञ्चन" "नेतिनेति' इत्यादि वेद वाक्यों के श्रवण से मायिक रूप से प्रतीत होते हैं—इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—'पराऽस्य शक्ति' इत्यादि "विष्णुशक्ति परा प्रोक्ता" इत्यादि श्रुति स्मृति में वह्निकी उष्णता के समान माया से भिन्न परा नाम्नी परमेश्वर की स्वाभाविकी अर्थात् स्व रूपानुवन्धिनी शक्ति का श्रवण होता है, इस शक्ति से ही सत्यादि विशेष की प्रतीति होती है।

परमेश्वर में समस्त धर्म स्वाभाविक है, सत्यादि गुण समूह भी परा शक्ति सम्भूत है, आदि शब्द से शौच,दया, क्षान्ति, सार्वज्ञय, सर्वैश्वर्य, आनन्द सौन्दर्य्य माधुर्य्य कारुण्य आदि जानना होगा।, भगवत् शब्द भी महा विभुति संज्ञक सर्व कारण पर ब्रह्म का वाचक है।

समस्त जीवों का ईश्वर अतर्क्य अनन्त शक्ति सम्पन्न है। सत्यादि श्रीनिवास अखिल गुणालय में नित्य रूप में विराजित हैं। आप सत्यात्मक हैं, मैं आप की शरणागत हूँ।

अनन्तर श्रीहरि में श्रीविशिष्टता रूप गुणका उप संहार विधान कहते

आदरादलोपः ।३।३।४१

श्रीर्यत् पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किलभृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षण कृतेऽन्यसुरप्रयास
स्तद्वद्वयश्च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥१०।८६।३७

हैं। यजुर्वेद में भगवान की " श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यौ " इत्यादि वाक्य से श्री तथा लक्ष्मी नामसे दो पत्नी कही गयी हैं। श्रीरमादेवी व लक्षी भागवती सम्पत्है, ऐसा भी कोई कहते हैं। प्रसिद्धि है कि—श्रीवाग् देवी और लक्ष्मी रमादेवी है, कमला पतये नमः रमामानस हंसाय गोविन्दाय नमोनमः " यहां पर संशय है कि श्रीप्राकृतत्त्व प्रयुक्त अनित्य है, अथवा पराशक्ति के कारण नित्या है ? " अर्थात: आदेशो नेति नेति " श्रुति वाक्य द्वारा परमात्मा में विशेष का निषेध होने के कारण उन में श्रीप्रभृति विशेष सम्भव नहीं है, किन्तु विशुद्ध सत्व मूर्त्ति भगवान् जब माया समन्वित होते हैं, तब उन में श्री का योग होता है, इस से उनकी श्रीशक्ति अनित्यहै, उस के खण्डन के लिए कहते हैं—'सैवेति ' पदका पूर्व से अनुवर्त्तन होता है। वह श्रीरूपा शक्ति पराशक्ति है। प्रकृति से अस्पृष्ट है, एवं परव्योम में निवास करती है; श्री हरि के प्राकट्य के साथ उनका भी प्राकट्य होताहै, और श्रीहरि की कामादि के विस्तार के लिये अनुगता होती है।

इस लिए श्रीभगवान् नित्य श्रीयुक्त हैं, काम शब्द का अर्थ शृङ्गाराभिलाष है, आदि शब्द्र से उस की अनुगत उन की परिचर्या गृहीत है। आय का अर्थ है प्राप्ति, तन का अर्थ है भक्त मोक्षानन्द विस्तारहै, इन दोनों कारणों से श्री का परत्व सिद्ध हैं, ' परास्य शक्तिः ' स्वाभाविकी शब्द द्वारा परमात्मा के साथ अभेद कथन होने के कारण पराविभुत्व सम्पन्ना है। ज्ञान कारुण्यादि रूप उक्ति से परामोक्षदा है। श्रीअनपायिनी शक्ति है। अतएव परा ही श्रीहै, सुतरां वह नित्या है।

श्रीकृष्ण की ही योग्या पत्नी रुक्मिणी है, एवं रुक्मिणी का पति श्रीकृष्ण है, रमेश श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरीयोंके साथ अशेष विशेष क्रीड़ा की एक वालक जैसे अपना प्रतिविम्वसे खेलताहै, श्रीभगवान ईश्वर गोपी परिषद् में उपविष्ट होकर असमोर्द्ध रूप को प्रकट किए थे।

यदि श्रीपराशक्ति ही है तव उस की भक्ति का विलोप की आपत्ति हो सकती है, क्यों भक्ति अपने में सम्भव नहींहै। इस पूर्व पक्ष की मीमांसा

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।३।३।४२

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः १०।२६।१३

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः

स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्यावद्धवाहुभिः १०।३३।२

रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया १०।३३।१६

स्विद्यन्मुख्यः कवररशना ग्रन्थयः कृष्णवध्वो

गायन्त्यस्तं तड़ित इव ता मेघचक्रे विरेजुः १०।३३।७

करते हैं, यद्यपि श्रीपराशक्ति है, परमेश्वर से अभिन्ना है, तथापि विचित्र गुणरत्नाकर परमेश्वर में उनका आदर अवश्यम्भावी होने से भक्ति विलोप होने की सम्भावना नहीं है। पूर्वोक्त श्रुति से श्रीदेवी की परमेश्वर में भक्ति देखने में आती है, " स्वयं श्रीदेवी तुलसी के साथ जिनके पाद पद्म का पराग की कामना करती है "।

रति विषयाश्रय भावमे आलम्वन विभावका भेद होने पर ही शृङ्गाराभिलाष सम्भव है, निर्भेद तत्त्वमें उसकी सम्भाव ना नहीं है, ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं-"उपस्थितम् पद में निष्ठाप्रत्यय भाववाच्य में हुआ है। शक्ति और शक्तयाश्रय में अभेद है, तथापि शक्ति का आश्रय पुरुषोत्तम रूप में और शक्ति श्रीरत्नस्वरूप में उपस्थित होने के कारण स्वात्मारामत्व के अनुगुण कामादि का उदय सिद्ध होता है। अकाम शब्द का अर्थ काम सदृश प्रेम है। आत्मानुभवलक्षण प्रेम से कामना कभी आत्मारामत्व और पूर्वत्व का अतिक्रम नहीं करती है, निज शक्ति श्रीके स्पर्श से अपार आनन्द आत्माराम का होता, परतत्त्व स्वप्राधान्यसे स्फूरित होकर पुरुषोत्तम, पराख्य शक्ति प्राधान्यसे धर्मादि संज्ञा, को प्राप्तकरतेहैं, पराशक्ति स्वयं ही कारुण्यादि धर्म होती है, शब्दाकार से स्फूरित होकर श्रीनाम; धरित्री रूप में धाम और ह्लादिनी सार सम्विदात्मक युवतीरत्नरूप में श्रीराधादि रूप में प्रकट करते हैं। श्री की धर्मादि रूपता अनादि सिद्धहै, अतएव भक्तगण परतत्त्व का चिन्तन श्रीसमन्वित ही करते हैं।

अधोक्षज प्रियागण श्रीपुरुषोतम को प्राप्त करेंगी। आश्चर्य नहीं है, अनुव्रत स्त्रीरत्नों के साथ श्रीगोविन्द ने रास क्रीड़ा का प्रारम्भ किया था। आत्माराम भगवान ने लीला पूर्वक स्त्री रत्नों के साथ रमण किया। श्रीकृष्णचन्द्र मेघस्वरूप एवं श्रीकृष्ण वधूगण विद्युत के समान प्रति भात होकर रास

तन्निर्द्धारणानियम स्तद्दृष्टेः पृथग् ह्यप्रतिवन्ध फलम्
।३।३।४३

एतेचांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ।।१।३।२८
अकामः सर्वकामो वा मोक्ष काम उदारधीः
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।।२।३।३०
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्
येऽप्यन्य देवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो
यथाद्रिप्रभवानद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो
विशन्ति सर्वतः सिन्धु तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः।।१०।४०।६-१६

लीला को शोभित किए थे ।

अथर्वशिर उपनिषद् प्रभृति से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण उपासना ही मुख्य है, यहाँपर संशय है--श्रीकृष्ण स्वरूप में श्रीहरि की उपासना नियत है, अथवा नहीं है,? अवधारण स्वारस्य के नियत है, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में करते हैं, श्रीकृष्ण की ही उपासना करें ऐसा कोई निर्द्धारित नियम नहीं है, अर्थात् श्रीकृष्ण रूपकी ही उपासना करें श्रीरामादि रूपकी न करें इस प्रकार का कोई नियम नहीं देखा जाता है, श्रीकृष्णत्व का अर्थ है, यशोदास्तनन्धय होकर भी विभु विज्ञानानन्द वस्तु, श्रुति में उपलब्ध है--त्रिशक्ति समन्वित परतत्त्व ही श्रीकृष्णहैं, वे रुक्मिणीं बलदेव प्रद्युम्न और अनिरुद्धके साथ लीला करते हैं, एक प्रणव चार अंशों से श्रीरुक्मिणी प्रभृति रूप में विराजित हैं । उक्त श्रुति में श्रीकृष्ण के आत्म भूत श्रीवलदेवादि का भी उन के उपास्यत्व प्रतीत ही रहा है, अतएव " कृष्ण एव " इस वाक्यान्तर्गत 'एव' शब्द अवधारणार्थ है, ऐसा वोलना विफल होता है, क्योंकि यहाँपर एव शब्द का अर्थ अन्यरूप है । 'अप्रतिबन्ध ' देवतान्तर के श्रेष्ठत्व निरास के द्वारा श्रीकृष्ण उपासना के प्रतिबन्ध को निवारण करना है ।। अतएव रुचि और शक्ति होने पर तादृश ब्यूह की उपासना कोई दोष नहीं है । उस के अभाव से केवल उनकी ही उपासना करें ।

ये सव पुरुष के अंश कलाहै, और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है । अकाम सर्वकाम; मोक्ष काम होने पर भी तीव्र भक्ति योग से पर पुरुष श्रीकृष्णाख्य परम पुरुष की उपासना ही करें ।।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।३।३।४४

मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ।११।१०।५
एवं गुरूपासनयैक भक्त्या ।।११।१२।२४
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्
न मर्त्यबुद्धयासूयेत सर्वदेवमयोगुरुः ११।१७।२७
शुश्रूषमाण आचार्य्यं सदोपासीत नीचवत् ।।११।१७:२६
व्यसन शतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकुत कर्णधराजलधौ ।।१०।८७।३३

लिङ्ग भूयस्त्वात्तद्धि वलीय स्तदपि ।३।३।४५

सर्व देव मय ईश्वर कृष्ण की उपासना सव ही जन करते है, जो भी व्यक्ति अन्य किसी मूर्त्ति में श्रद्धादि रखते हैं, वह भी आपका ही भजनकरता है, जैसे अद्रि से आगत मेघ पूरित नदी समुह स्वाभाविक समुद्र में प्रविष्ट होतीं है ।

अनन्तर गुरुगम्यत्व गुण का उपसंहार करते हैं, विद्या प्रकरण में सुनने में आता है—जो गुरु में इष्ट देवता के समान ही भक्तिरखता है, उस के हृदय में ये सव अर्थ उदय होते हैं। जो आचार्य की सेवा करते हैं; वे ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, ब्रह्म को जानने के लिए गुरु के निकट गमन करें " यहाँ संशय हैं, कि गुरु के निकट शास्त्र श्रवण करने से फल लाभहै, किम्वा गुरु कृपा से ज्ञान लाभ है ? श्रवण से फल होता है, इस प्रकार के वचन से गुरु प्रसाद की कोई अपेक्षा नहीं हैं,, इस सिद्धान्त का उत्तर में कहते हैं—

जिस प्रकार गुरु प्रसन्न होकर ब्रह्म प्राप्ति के हेतु रूप श्रवणादि साधन को प्रदान कहते हैं, उसी प्रकार गुरु प्रसाद से ही भगवत् प्राप्ति रूप फल लाभ होता है। केवल श्रवणादि मात्र से फल लाभ नहीं होता है, फल गुरु अनु ग्रह की अपेक्षा करता है, भगवान् स्वयं ही आचार्य की सेवा करने को कहते हैं। अतएव गुरु प्रसाद के साध श्रवणादि साधन से ब्रह्म प्राप्ति होती है।

मदात्मक मदभिज्ञ शान्तगुरु की उपासना करें इसप्रकार गुरु उपासना रूप भक्ति से कर्माशय को छेदन करें। मेरे को ही आचार्य जाने, असूया न करे गुरु सर्व देवमय हैं। शुश्रूपा रत होकर सदा दासवत् उपासना करें।

गुरु चरण की उपासना को छोड़कर कर्णधार विहीन नाव में स्थित वणिक के समान गति होती है ।।

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपसमाश्रयम्
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदोहरिः ॥११।३।२१–२२

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ।३।३।४६

न्यस्तक्रीड़नको वालो जड़वत् तन्मयस्त्वया
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेदजगदीदृशम्
आसीनः पर्य्यटन्नश्नन् शयानः प्रपिवन् ब्रुवन्
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्द परिरम्भितः ॥७।४।३७–३८
गत्यनुरागस्मित विभ्रमेक्षितै र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदारमापतेस्ता स्ताविचेष्टाजगृहुस्तदात्मिकाः
॥१०।३०।२
इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातरः
लीलाभगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१०।३०।१४

अनन्तर अपनी चेष्टा बलवती है अथवा गुरुकृपा वलवती है ? इस संशय होने पर प्रयत्न हीन व्यक्तिके लिए अन्य प्रसाद कार्यकर नहीं होता है, सुतरां निज प्रयत्न ही बलवान् है। इस के उत्तर में कहते है। शास्त्र में गुरु प्रसाद को ही वलवान कहा गया है, सत्यकामने ऋषभादि के समीप में ब्रह्म विषयक-अनेक वाक्य श्रवण करने के वाद " भगवांस्त्वेव मे कामं ब्रूयात् " इत्यादि से उन की प्रसन्नता की प्रार्थना की थी। उप कौशल ने भी अग्नि के निकट अनेक उपदेश ग्रहण करने पर भी परिशेष में उनके प्रसाद की भिक्षा की थी। अतएव गुरु प्रसाद ही वलिष्ठ है। इस प्रकार गुरु प्रसाद वलिष्ठ होने पर अपनी चेष्टा का शैथिल्य करना अनुचित है। पूर्वोक्त " यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ" श्रोतव्योमन्तव्यः " इत्यादि वाक्य से गुरुकृपा तथा श्रवणादि दोनों की आवश्यकता है। स्मृति में भी कहा है कि यद्यपि गुरुप्रसाद बलवत्तर हैं तो भी मोक्ष सिद्धि के लिए श्रवणादि चेष्टा की आवश्यकता है। उत्तम श्रेय जिज्ञासु व्यक्ति शब्द ब्रह्म पर ब्रह्म पर ब्रह्म में निष्णात एवं उपासना रत गुरुकी शरणागत हो जाय, एवं अमायासे अनुवृत्ति कर भागवत धर्म शिक्षण करे, उनकी सन्तुष्टि से श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं।

अतिदेशाच्च ।३।३।४७

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इवद्विज
साधुभि र्ग्रस्तहृदयो भक्तै र्भक्तजनप्रियः
नाहमात्मानमाशास्ते मद्भक्तैः साधुर्भिविना

साधन एवं गुरुकृपा सहकृत गुणादि विशिष्ट भगवान् की उपासना ही मुक्ति फलदाता है, इस विषय में विरोधीवाक्योंके द्वारा समाधान करके उक्त मतको पुष्ट करते हैं। गोपाल तापनी में उक्त है, कि--एक समय मुनिगण के द्वारा " सर्वाराध्यत्वं प्रभृति गुण विशिष्ट कोनहै„ ? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित हुआ, ब्रह्माजीने उस के उत्तर में कहा "श्रीकृष्ण ही तादृश गुणशाली हैं, ऐसा कहकर उन की प्राप्ति साधन एकमात्र भक्तिको ही कहा था। और भी कहा मैं गोपाल हूँ" इस प्रकार चिन्तन करें, इस प्रकार चिन्तन से मुक्ति होगी। यहाँपर ' सो मैं हूँ" इस प्रकार अभेदाभास प्रतीत होता है, संशय है कि— अभेद भावना स्वरूपगत ऐक्य विषयक है, अथवा भक्तिका प्रकार विशेष है? अभेद शब्द से स्वरूपगत अभेद की प्रतीति होती है। इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—उक्त अभेद भावना पूर्व कथित भक्तिका ही विकल्प अर्थात् प्रकार विशेष है, प्रकरण बल से यह प्राप्त है। भक्ति का अर्थ भगवान् का भजनहै, ऐहिक और पारत्रिक निखिल उपाधि निरसन द्वारा भगवान् में मन लगाना ही भजनहै, यह ही निष्काम कर्म हैं॥ उपसंहार में " सच्चिदानन्द एक रस भक्ति योग में अवस्थित है, इस प्रकार उक्ति है, अतएव वह भक्ति का प्रकार विशेष है, अर्थान्तर नहीं है। परिचर्य्या--अर्च्चनादि क्रिया मानस अनुस्मरण के तुल्य वह मैं हूँ' भावना भक्ति का प्रकार विशेष है। अनुराग और भय से गाढ़ आवेश होनेपर "वहमैं हूँ' इस प्रकार एकात्मभाव होताहै॥

अभेद वोधक वाक्य समूह ब्रह्मायत्त अर्थात् ब्रह्म के अधीन होने के कारण ब्रह्म अभिन्न इत्यादि ब्रह्मायत्त वृत्ति के द्वारा भेद में अभेद वुद्धि का निर्णय करते हैं। प्रह्लाद तन्मय होकर खेलते थे, कृष्ण ग्रह गृहीतात्मा होकर अनुसन्धान रहित हो गये थे।

गोविन्द परिरम्भित होकर स्वाभाविक क्रियाओं में आवेश नहीं रहा है। गति अनुराग आदि से आकृष्ट चित्र होकर गोपीगण तदात्मा होकर श्री कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण किये थे।

कृष्णान्वेषण कातर गोपीगण तदात्मा होकर भगवानकी लीलाओं का अनुकरण करने लगीं॥

श्रियश्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषांगतिरहंपरा ।।९।५।६३।६४

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।९।४।६८

विद्यैव तन्निर्द्धारणात् ।३।३।४८

एवं गुरूपासनयैक भक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः
विवृश्चय जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्
।।११।१३।३४

विद्याविद्येममतनु विद्ध्युद्धवशरीरिणाम्
मोक्षवन्ध करी आद्य मायया मे विनिर्म्मिते ।।११।११।३
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ।।११।११।४

'सोऽहं' इस प्रकार भाव भक्ति का ही प्रकार विशेष है, इस में पर–अपरात्मक स्वरूपैक्य ज्ञान अर्थात् परमात्मा जीवात्मा ऐक्य रूप ज्ञान नहीं है। इस में अन्य हेतुका प्रदर्शन करते हैं—

तापनी में प्रसङ्ग है कि--भगवान् ने ब्रह्मा से कहा है पद्मयोने ! तुम जिस प्रकार पुत्रों के साथ प्रीति पूर्वक अवस्थान करते हो। रुद्र जिस प्रकार निज गणों से नियत अवस्थान करते हैं, मैं भी उस प्रकार निज प्रिय भक्तों के साथ नियत अवस्थान करता हूँ ।। यहाँ भगवान् का भक्त साहित्य प्रदर्शित है, 'च' कार से मेरा प्रिय भक्त मेरा ही नित्य ध्यान कर मोक्ष लाभ करता है, मैं उसको आत्म पर्यन्त दानकरता हूँ ।। इत्यादि वाक्य का ग्रहण हुआ है ।। यहाँ नित्य प्रियत्व, स्वात्मदान, आदि भक्त सम्बन्ध में कहे गये हैं। स्वरूप का ऐक्य होने पर इस प्रकार भक्ति असम्भव है। अतएव वह भक्ति का प्रकार विशेष है। अतएव गुरु कृपा सहकृत श्रीभगवान् की उपासना से ही विमुक्ति होती है, इस प्रकार सिद्धान्त से कोई हानि नहीं है।

मैं भक्त पराधीन हूँ। मैं भक्त जन प्रिय हूँ। और साधुगण मेरे हृदय पर अधिकार करकेहैं। मद्भक्त साधुको छोड़कर मैं आत्मा की स्पृहा नहीं करता हूँ अनन्या गति सम्पन्ना लक्ष्मीको भी नहीं चाहता हूँ साधुगण मेरा हृदय है, और मैं साधु का हृदय हूँ। वे सब मुझ को छोड़कर अपर कुछ भी नहीं जानते हैं, और मैं भी उन सबकी छोड़कर अपर कुछ भी नहीं जानता हूँ ।।

दर्शनाच्च ।३।३।४९

भिद्यते हृदय ग्रन्थि शिछद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥१।२।२१

श्रुत्यादि बलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।५०

शास्त्र ज्ञान पूर्वक उपासना को विद्या करते हैं, उस से ही मुक्ति होती है, इस का विश्लेषण करते हैं—। " तमेवविदित्वा अति मृत्युमेति " उनको जानने से ही मुक्ति होती है, गति के लिए और मार्ग नहीं है " यहाँपर संशय यह है कि–कर्म किम्वा विद्या–कर्म उभय, किम्बा केवल ही विद्या ही मोक्ष का हेतु है ? विद्या इस कर्मका शेष भाग है, अतएव कर्म से पृथक् वस्तु नहीं है, पक्षी दोनों पक्षों के साहाय्य से आकाश में उड़ते है, वैसे कर्म और विद्या उभय साधन से मुक्ति होती है, केवल विद्या से मुक्ति होती है, इसका निश्चय कैसे सम्भव है, इस का समाधान करते हैं—

" तु " शब्द शङ्का निरास के लिए है। विद्या ही मोक्ष का हेतु है। कर्म नहीं है, उभय मिलकर भी नहीं है, विद्या शब्द से ज्ञान पूर्वक भक्ति का वोध होता है, विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत इस ज्ञान भक्ति उभय स्थल में विद्या शब्द का प्रयोग किया है„ विद्या कुठारेण शितेन धीरः राजविद्या राजगुह्यम् " इत्यादि। अतएव विद्या शब्द कौरवशब्द के समान है, उक्त शब्द दोनों का वोधक है। मीमांसा शब्द से कर्म ब्रह्म उभय मीमासाका ग्रहण होता है, उसी प्रकार तन्त्र से ज्ञान भक्ति उभय का ही वोध विद्या से होता है।

विद्या एवं अविद्या मेरी तनु हैं, विद्या से मुक्ति होती है, अविद्या से वन्ध होता है। मेरा अंश जीव का वन्ध अविद्या से होता है, मुक्ति विद्या से ही होती है "।

वह मोक्ष विद्या द्वारा वह साक्षात्कार से ही होता है। इस का निरुपण करतेहैं। मुण्डकोपनिषद्में उक्तहै-भगवान् साक्षान्कार होनेपर हृदय की ग्रन्थि अर्थात् उस का जीव न से रस प्रवणता का भेदन हो जाताहै समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है, तथा सञ्चित प्रारब्ध उभय प्रकार के कर्म के कर्म का क्षय होता है

भगवद् भक्ति योग से मन प्रसन्न होता है, और मुक्त सङ्ग का ही ज्ञान होता है, ज्ञान होनेपर चित् जड़ रूप अहङ्कार नष्ट होता है, अतएव असम्भावनादि रूप संशय भी नष्ट हो जाता है, अनारब्ध मुलक कर्म समूह भी नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकार ही ईश्वर साक्षान् कार का फल है।

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते
बन्धोऽस्याविद्ययानादि विद्यया च तथेतर ॥११।११।४

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥१०।१४।४

अनुबन्धादिभ्यः ।३।३।५१

रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा
न च्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्य्यै विना महत्पादरजोऽभिषेकम्
॥५।१२।१२

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एवच
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ११।१२।१-२

कर्म से मुक्ति होती है, अथवा कर्म ज्ञान दोनों से मुक्ति होती है—इस प्रकार परस्पर विरोधी वाक्यों का समाधान कैसे होगा ? उत्तरमें कहते हैं—विद्या ही मुक्ति का हेतु है, कर्म ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है—इस वाक्य के साथ पूर्वोक्त वाक्य का विरोध नहीं है। क्योंकि श्रुति वलीयसीहै, श्रुति में उक्त तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति उन को जानने से ही मुक्ति होती है। है। आदि शब्द से लिंगतथा युक्ति का समुच्चय है। इन्द्रने ब्रह्मा के समीप में उपस्थित होकर कहा कर्म धन आदिअन्य किसीसे सुखनहीं मिलताहै। अत एव तत्व उपदेश कीजिये" सूत्रोक्त 'च' शब्द द्वारा विद्या से ही समस्त कर्म्म निर्म्मूल होते हैं, इस प्रकार सिद्धान्त का संग्रह हुआ है. । अतएव विद्या ही मोक्ष का हेतु है ॥

ममांश जीवका बन्ध अविद्या से एवं विद्या से मोक्ष होताहै । हे विभो भक्ति विना ज्ञान भी नहीं हो सकता है। अभ्युदय अपवर्ग स्वरूपों का एक मात्र उत्स भक्ति हैं, जैसे सरोवर निखिल निर्झरोंका उत्स है, जोजन आप की भक्ति को छोड़कर केवल आत्मबोधके लिए चेष्टा शील होता है, वे जन केवल क्लेश के भागी बनते हैं, जैसे तण्डुल के लिए अन्तः करणहीन धान्य राशिको कूटने पर चावल तो निकलता है नहीं परन्तु क्लेश ही होता है।

प्रज्ञान्तर पृथक्त्ववत् दृष्टिश्च तदुक्तम् ।३।३।५२

ज्ञान मात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥३।३२।२६

अनन्तर सद् गम्यत्व गुण का उपसंहार प्रदर्शन करते हैं, " अतिथि देवो भव " इस प्रकार तैत्तिरीयक उपनिषत् में उक्त है। यहाँपर संशय है सदुपासना मुक्ति का कारण है अथवा नहीं ? गुरु प्रसाद सहित ईश्वर उपासना से ही मोक्ष सम्भव होने पर सत् की सेवा की आवश्यकता ही क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—अनुबन्ध शब्दका अर्थ है--महदुपासना निर्वन्ध हैं। देव भाव से उस की सेवा कर्त्तव्य है। उन के अनुग्रह से ही मोक्ष होता है। तत्त्वविद्गण कहते हैं—हे रह गण ! तपस्या, ईज्या, सन्यास, वेदपाठ, जल अग्नि और सूर्य्य की पूजा के द्वारा जो फल लाभ नहीं होता हैं, वह केवल सज्जन के पादरज के अभिषेक से लाभ हो जाता है। भगवान् उद्धव जी से कहा है—सर्व सङ्गच्छेदनकारी सत् सङ्ग जिस प्रकार मुझ को वाध्य करता है उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म स्वाध्याय, तपस्या, त्याग, इष्टा पूर्त्त, दक्षिणा व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ समूह, नियम, यमादि वाध्य नहीं कहते हैं।

यहाँपर श्रीभगवान् ने स्वयं ही सत्सङ्ग को ही अन्तरंग साधन कहा है, आदि शब्द से तीर्थ सेवा एवं दूसरे की निन्दा भी निषेध है, और भी उक्त है, श्रीभागवत् में श्रद्धायुक्त सेवाभिलाषी पुरुष की पुण्य तीर्थ वास से महत् सेवा द्वारा वासुदेव की कथा में रति होती है,हरि सर्व देवेश्वर तथा आराध्य हैं, किन्तु ब्रह्म शिवादि की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। यहाँपर कहना है कि—गुरु और सत् प्रसङ्ग लाभ में भगवान् का अनुग्रह ही कारण है, अतएव भगवान् की कृपा को ही मोक्ष का हेतु कहना उचित है। समस्त प्रवृत्ति भगवान् को ही हेतु करती है। परन्तु तच्छ्रुतेः। सूत्र में निर्णय हुआ है ॥ अतएव देशिकादि अनुग्रह को मुक्ति का कारण कहना अयुक्त है।

उस के उत्तर में कहतेहैं--यद्यपि भगवान्‌की इच्छा कार्य मात्र के प्रति कारणहै, तो भी गुरु प्रसाद को अवश्य ही कारण मानना होगा " कृत प्रयत्ना पेक्षस्तु " इत्यादि सूत्र में निर्णय हुआ है। और भी भक्ताधीन श्रीहरि निज अनुग्रह शक्ति को प्रायः भक्तों को प्रदान कर देते हैं। अतएव अनुग्रह विषय में साधुओं का स्वातन्त्र्य ही स्वीकार्य हैं, साधुगण के द्वारा अनुगृहीत जन में भगवान् अपने अनुग्रह का प्रकाश करते रहतेहैं " यह सब वाक्य द्वारा सब समाधान तथा वैषम्यादि का निवारण होता है।

" यथा क्रतु " इत्यादि श्रुति वाक्य में संशय है—गुरु प्रसन्नता के

ज्ञान योगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥३।३२।३२
तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥३।३२।२२

न सामान्यादप्युपलब्धे मृत्युवन्न लोकापत्तिः ।३।३।५३

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ॥
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधो ऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥१०।२।३२

साथ ब्रह्मोपासना का निज तारतम्य के अनुसार फल तारतम्य होगा अथवा नहीं ? निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति " वाक्य में विशुद्ध होकर परमसाम्य प्राप्ति के श्रवण में फल का कोई विशेष नहीं देखा जाता है, अतएव उस के तारतम्य सम्भव नहीं है, नानाविध मार्गों के द्वारा यदि किसी एक नगर में गमन किया जाता है तो जो व्यक्ति जिस मार्ग से गमन किया है, उस का जो दर्शन है, अन्य मार्ग में गमन करने वाले के दर्शन से कुछ विशेष नहीं है, अत एव उपासना विशेष में ब्रह्म प्राप्ति रूप फल में कोई विशेष नहीं है ! इस प्रकार संशय का उत्तर देते हैं—" विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत " इस वाक्य में दो प्रज्ञाव्यक्त हो रही हैं, एक शाब्दी, दुसरी उपासना उस के भेद के अनु सार उपासक का भी प्राप्य साक्षात् का भेद होता है, इस लिए ही वेद में क्रतु के अनुसार फल का भेद कहा गया है, अतएव उपासना के अनुसार भगवद्दर्शन को भी उसीप्रकार मुक्ति रूप जानना चाहिए । साम्य और पारम्य नैरञ्जन्यांश में है अर्थात् उपासक का उपासना की निर्म्मलत्वादि के अनुसार उसका फलसिद्ध होगा ।

एक ज्ञान स्वरूप भगवान ब्रह्म परमात्मा ईश्वर पुरुष आदि रूप उपा सना की विविधता के कारण दृष्ट होते हैं । अतएव सर्व भावसे ईश्वर का भजन करो तद गुणाश्रय भक्ति के द्वारा भजनीय पदाम्बुज का भजन करो ।

पुनर्वार आशाङ्का करतेहैं—विद्या के विना दर्शन नहीं होता है, और दर्शन के विना विमुक्ति नहीं होती है, यह दोनों ही अयुक्त हैं, भगवान् प्राकट्य के समय विद्याशून्य व्यक्तिने भी भगवन् दर्शन किया था, और ज्ञानलाभ करने के बाद भी मुक्ति नहीं हुई है । इस प्रकार संशय निरास के लिए कहते हैं—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।३।३।५४

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥१०।२।३३
यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव
न्ननपगतान्तकादनधिरूढ़पदाद्भवतः ॥१०।८७।३९

सूत्रस्थ अपि शब्द अवधारणात्मक हैं, सामान्यात् साधारण से मृत्यु होनेपर जैसे मुक्ति नहीं होती है, वैसे सामान्य रूप दर्शन (उपलब्धि) से मुक्ति नहीं होती है, सामान्य दर्शन से स्वर्गादि फल होता है, जैसे विद्याधर व नृग का हुआ था। स्मृति कहती है सामान्य दर्शन से लोकादि प्राप्त होती हैं। और मुक्ति जनक विशेष दर्शन से मुक्ति होती है। दर्शन दो प्रकार है-आवृत तथा अनावृत है, पुण्याधिवय हैं, प्रथम दर्शन हैं, उस से स्वर्गादि प्राप्ति होती है। अन्तिम दर्शन होनेपर अर्थात् विद्या के द्वारा लिङ्ग देह नाश होनेपर परम प्रियत्व धर्म युक्त श्रीभगवान् का दर्शन होता है। चक्र स्पर्श से असुरों का लिङ्गदेह नाश हो जाता है, और असुरों की मुक्ति होती है, दृष्टि भी उन्मुक्त होती है। नहीं तो अनेक वाक्यों का विरोध होगा।

त्वदीय जनगण कभी पतित नहीं होते है, यदि कहे कि जो जन विवेक द्वारा मुक्त हुआ है, उन के लिए भगवद् भजन करना आवश्यक नहीं है, भगवत् भजन को छोड़ कर कोई भी मुक्ति प्राप्ति नहीं करतेहैं, वे केवल आभिमानिक मुक्त होते हैं, क्योंकि वे सव श्रीभगवत् के प्रति भक्तिभाव नहीं रखते हैं, अत एव बुद्धि शुद्ध न होने के कारण अनेक क्लेश द्वारा मोक्ष के निकट तक पहुंच जाते हैं, प्रभु चरणों के प्रति आदर भाव न होने के कारण विघ्नों से अभि भूत होकर संसार वासना को प्राप्त करते हैं। लिङ्ग शरीर को विनष्ट करने वाली एक मात्र श्रीप्रभुभक्ति है।

भक्ति से ही मुक्ति होतीं है, इस को दृढ़ करने के लिए कहते हैं--मुण्डक में है, आत्मलाभ प्रवचन मेधा, श्रवण से नहीं होताहै, किन्तुवह श्रीप्रभु जिसको अङ्गीकार करते हैं, उसे ही अपलभ्य होते हैं, यहाँपर संशय है; वरण ही

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५५

उदर मुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धति हृदयमारुणयो दहरम्
तत उदगादनन्त तवधाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥१०।८७।८१

मुक्ति के लिए यदि कारण है तो विद्या की कोई आवश्यकता । नहींहै ? इस पूर्व पूक्ष का निरास के लिए कहते हैं ।—

भक्ति लाभ होने पर ही मुक्ति होतीहै, वरण शब्द भक्ति प्रेरणा प्रापक है, भक्ति श्रीभगवान को वशीभूत करती है, जो दुश्चरित अशान्त असमाहित है और जिस का मनस्थिर नहीं है वह प्रज्ञान से श्रीपरमेश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता है सदाचार निरत जितेन्द्रिय व्यक्ति श्रीहरिको प्राप्त करता है, इस प्रकार वचन से क्रम पूर्वक साधन का संकेत है,. क्रम इस प्रकार हैं--प्रथम सत् प्रसङ्ग और साधुसेवा, उस से निजस्वरूप भगवत् स्वरूप के साथ सम्वन्ध ज्ञान, भगवत् इतर वस्तुमेंवितृष्णा अनन्तर भगवद् भक्ति , उस से प्रिय रूप से प्रभु को वरण इस के अनन्तर उन का स्वाक्षात् कार होता है ।

आप के भक्तगण उस प्रकार संसार आवर्त्त में पतित नहीं होते हैं, आप के साथ वे सौहार्द्द वद्ध हृदय होतें हैं । और विघ्नों के शिर पर पैरधर कर वे विचरण करते हैं ।

यदि कामवासना को हृदय से विदूरित नहीं करते हैं, तव विस्मृत कण्ठ मणि के समान वे सव आप को प्राप्त न होकर वञ्चित हो जाते हैं,

दास्य सख्यादि भावद्वारा प्रारम्भ से ही परमव्योम में अनेक सुकृति मान व्यक्ति गण हरि की उपासना करते हैं, और वहाँपर उन का दर्शन भी करते हैं, शान्त भावा क्रान्त कोई कोई व्यक्ति जाठरादि मेंउन की उपासना करते है, यहाँपर विचार्य्य विषय है कि जाठरादि में श्रीहरि उपास्य है अथवा नहीं ? जाठरादि प्राकृत है, प्राकृत में उपासना सम्भत नहीं है, किन्तु अप्रा कृत परम व्योम वैकुण्ठ में श्रीहरि नित्य विराजित है, अतएव वहाँ उनकी उपासना नित्य कर्त्तव्य है, इस प्रकार पूर्व पक्षका उत्तर प्रदान करते हैं । कोई कोई शाखाध्यायी शरीर में अर्थात् जठर में हृदय में एवं ब्रह्म रन्द्र में आत्म रूपी श्रीविष्णु की उपासना करना कर्त्तव्य मानते हैं । उक्त स्थानोंपर उन की सत्ता है, "गृह कोण में यदि मधु प्राप्त हो तो पर्वत में जाने की आवश्य कता क्या है"

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ।३।३।५६

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वंयज्ज्ञानमद्वयं
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानितिशब्द्यते ॥१।२।११
त्वं भक्तियोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथोननुनाथ पुंसाम्
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥३–९।११

श्रीमद्भागवतमें उक्तहै, हे अनन्त ! स्थूल वुद्धि युक्त व्यक्तिगण ऋषि वत्म में तथा नाड़ी पद्धति हृदय दहर में आप की उपासना करते हैं। और जो उस से उन्नत होकर आप के श्रेष्ठ धाम परव्योम को प्राप्त होते हैं, उनको पुनर्वार प्रपञ्च में आकर जन्म मृत्यु प्रवाह में पड़ना नहीं होता है।

यथा क्रतु इस वाक्य में माधुर्य्य एवं ऐश्वर्य्य गुणक उपासना कहीगई है। "तेन प्राप्तिश्च तत्तद्गुण स्वरूपेण" छन्दत उभयाविरोधात्" येदोनों सूत्रों में साधु संगानुयायिनी ईश्वर कल्पना से माधुर्य्य ओर ऐश्वर्य के अनुसार जीवों की प्रवृत्ति तथा प्राप्ति के भेद का वर्णन है, यहाँ संशय है कि–जिस उपासना के द्वारा जिस गुणके साथ स्वरूपका ध्यान किया जाता है, उस के द्वारा उस स्वरूप की प्राप्ति होती है ? अथवा ध्यान गुण से अरिरिक्त स्वरूप की प्राप्ति होती है ? ध्येय वस्तु एक होनेके कारण उभय प्रकार के ध्यानमें ध्यात गुण से अतिरिक्त स्वरूप की प्राप्ति होती है, इस प्रकार निश्चय होनेपर उत्तर करते हैं—शंकाच्छेद के लिए सूत्रस्थ 'तु' शब्द है, ध्यान से अतिरिक्त गुण की प्राप्ति नहीं होती है, केवल ध्येय गुण की ही प्राप्ति होती है, जिस प्रकार ध्यान किया जाता है, प्राप्ति में उसी प्रकार उदय होता है, अतिरिक्त गुण की सत्ता ध्येय में हीने पर भी ध्यानानुरूप ही गुणका प्रकट होताहै। इस प्रकार क्रतु के अनुसार फल" इस श्रुति वाक्य की भी सङ्गति होती है।

एक अद्वय ज्ञान तत्त्व ही साधक के साधन तारतम्य से त्रिविध रूपमें प्रति भात होता है।

हे नाथ ! तुम भक्त के हृदय सरोज में निरन्तर निवास करते रहते हो, शास्त्रानुसारि दृष्टिसे ही तुम अवगत होते हो, हे उरुगाय ! जो भी व्यक्ति जिस प्रकार भावयुक्त वुद्धि से तुम्हारी उपासना करता है उस के समीप में तुम उपासना के अनुसार ही अपने को प्रकट करते हो।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५७

यजन्ते विततैर्यज्ञै र्नानारूपामराख्यया ॥१०।४०।५
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहु मूर्त्येकमूर्त्तिकम् ॥१०।४०।७
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्
येऽप्यन्य देवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥१०।४०।६
सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्च्चनम्
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ।१०।२२।२५

मन्त्रदिवत् वाविरोधः ।३।३।५८

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः
नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलयाकृताः ॥८।३।२२
मनोवचोभ्यामनुमेय वर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥१०।२।३६
शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्

उस प्रकार सङ्कल द्वारा जब प्रवृत्ति होती है तब प्राप्ति भी संकल्पानु सार भी होती है, दृष्टान्त से परिस्फुट करते हैं—

यज्ञांग समूह उस ऋत्विक् का नियत कर्त्तव्य यजमानके द्वारा अध्वर्य्यु होता उद्‌गाता और ब्रह्मा के इच्छानुसार वरण किया जाता है। अववन्धन का अर्थ नामकरण है। अध्वर्य्यु आपको वरण करता हूँ। इस प्रकार है। यहाँपर जिस प्रकार यजमान की इच्छा ही कर्म भेद से दक्षिणा भेद में प्रवृत्ति के लिए कारण है। उसी प्रकार सकल जीवों की इच्छानुसार माधुर्य्य एवं ऐश्वर्य्य स्वरूप में उपासना की प्रवृत्ति है।

अनेक देवतारूपों में आप की उपासना लोक करते रहते हैं। अनेक मूर्त्तियों में आप ही मूल केन्द्र स्वरूप एक मूर्त्ति हैं. अतएव अनेक रूपों गें आप की उपासना लोक करते रहते हैं। सर्वदेवमय ईश्वर आप की लोक इच्छानु रूप उपासना करते हैं, जैसे मेघ से जल प्राप्त कर नदी समूह सागर में मिलित होते हैं।

जो जन जिस प्रकार सङ्कल्प से मेरी अर्च्चना करता है, वह उस रूप से ही फल प्राप्त करता है, इस लिए आप की आराधना का फल भी अनुरूप अवश्य ही मिलेगा।

नामानि रूपानि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वचरणारविन्दयो
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥१०।२।३७

भूम्नः क्रतुवत् ज्यायस्त्वम् तथाहि दर्शयति ।३।३।५६

स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्
नामरूपक्रियाधत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥२।१०।३६

स सर्वधी वृत्यनुभूत सर्व
आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत
नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः ॥२।१।३९

इस के वाद उद्धव आदि के विभिन्न ऐश्वर्य माधुर्य भाव दर्शन से असन्तुष्ट होकर समाधान के लिए उदाहरणान्तर प्रस्तुत करते हैं। मन्त्र के समान उस उस विषयक भक्ति प्रवर्त्तन के लिए उस प्रकार संकल्प जानना होगा। जिस प्रकार एक ही मन्त्र अनेक कर्म में कभी दो कर्मों में कभी एक कर्म में प्रयुक्त होता है, ठीक उसी प्रकार उद्धव आदि की ऐश्वर्य्य माधुर्य विषयक भक्ति के प्रवर्त्तन के लिए कभी ऐश्वर्य कामना ऐश्वर्य में प्रवृत्ति होती है, कभी तो माधुर्य कामना से माधुर्य में प्रवृत्ति होती है। आदि शब्द से काल कर्मका ग्रहणहै, जिस प्रकार एक ही काल कभी कुसुम पत्रादि का कभी निष्पत्रता का तथा कभी वाल्यका और कभी तारुण्य का कारण होताहै, उस प्रकार जानना होगा। इस से विरोध का सामञ्जस्य होता है, उपासक जिस गुण से जिस स्वरूप की उपासना करता है, उस गुण की मोक्षमें स्फूर्त्ति होती है, अत चिन्तित गुण से अरिरिक्त गुण का संक्रमण नहीं होता है।

अपनी रुचि के अनुसार उपासना के लिए एक होकर भी अनेक रूपों में आपप्रतिभातहैं, नामरूप भेदसे ब्रह्मादि अनेक देवता तथा चर अचर समस्त वस्तु दृष्ट हैं, वे सव ही आप की स्वरूप शक्ति से ही हुई है, मन और वाणियों के अगोचर आप है तथापि भावानुरूप भक्ति योग द्वारा आप प्रत्यक्ष होते हैं।

आप के नाम रूप समूह मङ्गलमय हैं, इन सव के श्रवण ग्रहण स्मरण चिन्तन कर जो भी व्यक्ति आप की उपासना करता है, वह भक्ति योग में आविष्ट चित्त होने पर पुनर्वार संसार में पतित नहीं होता है।

अनन्तर कुछ विषयों पर विचार किया जारहा है। " जो एक होकर

नाना शब्दादि भेदात् ।३।३।६०

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिरित्येषु केशवः
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ।।११।५।२०

विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात् ।३।३।६१

बह्वाचार्य्यविभेदेन भगवन् समुपासते ।।१०।४०।७

अनेक रूप में प्रकाशित होतेहैं, अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म" यह सव श्रुति प्रसिद्ध है, वैदुर्य मणि के समान परस्पर विलक्षण अनेक रूप श्रीभगवान के हैं। वह एक होकर भी वहु होते हैं। प्रकार अनेक होने पर गुण भी अनेक होगा। इस में संशय है कि समस्त उपासना में स्वरूप गत और गुणाति वहुत्व का चिन्तन करना है, अथवा नहीं, समस्त उपासनामें आनन्द की अपेक्षाहै, और एक वस्तु में वहुत्व का विरोध सुस्पष्ट होने पर वहुत्व चिन्ता अयुक्त है, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं--सर्वत्र वहुत्व चिन्तनीय है, परमेश्वर में वहुत्व गुण समस्त गुणों में श्रेष्ठहै, ज्योतिष्टोमादि क्रतु जैसे आरम्भ से अवभृत स्नान पर्यन्त समस्त क्रतु विभाग में अनुवर्त्तन होकर ज्येष्ठ है, वैसे ईश्वर का यह भूमा गुण सकल गुणों में अनुस्यूत होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है। भूमा ही सुख स्वरूप है, अल्प में सुख नहीं हैं। अतएव आनन्द आदि के साथ भूमा का अविच्छेद्य सम्पर्क होने के कारण इस भूमा के विना कर्म का नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा ।।

एक ब्रह्म ही वाच्य वाचक रूप में अवस्थित हैं, नाम रूप क्रिया आदि भी आप ही हैं।

आप आत्मा के समान सव के द्रष्टा हैं, अतएव उन आनन्द निधि का ही भजन करे अन्यत्र आसक्त होने पर संसार संक्रमण अनिवार्य होगा।

अधुना उन सव वहु रूपों में उपासना एकविध है अथवा अनेक विध है, इस प्रकार सन्दह में निर्णय है कि उपास्य स्वरूपमें अभिन्न होने के कारण उपासना एक प्रकार ही है, इस कथन के उत्तर में कहते हैं—उन सव रूपों में उपासना भी अनेक विध है, रूप भेद से उपासना भी पृथक् पृथक् है, क्यों कि शब्द से ही वैसा अर्थ प्राप्त होता है। उपास्य वाचक नृसिंह आदि शब्द मन्त्र आकार कार्य वैलक्षण्य होने के कारण स्वरूप गत एकता होने पर भी उपासना में भेद भी स्वाभाविकहै, स्मृतिमें उक्त है--भगवान् केशव की सत्य-त्रेता-द्वापर और कलि इन युग भेद मे अनेक संज्ञा होती है, नाना वर्ण, रूप आकार में विविध विधान से पूजित होते हैं, अतएव पूजा विभिन्न है।

सर्वएव यजन्तित्वां सर्वदेवमयेश्वरम्
ये ऽप्यन्यदेवता भक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ।।१०।४०।६

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्।३।३।६२

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्

श्रीं नृसिंहादि पुरुषोत्तम रूप की उपासना अनेक प्रकार है, यह पूर्वमें कहा गया है, अनन्तर उन सव रूपों की उपासना मिलित रूपसे होगी अथवा विकल्प रूप से, इस प्रकार जिज्ञासा में उत्तरहैं—उनसव की समुच्चयरूप से ही उपासना उचित है, उस कथन के उत्तर में सिद्धान्त करते हैं। उन सव स्वरूपों की उपासना अनुष्ठान में विकल्प है। कारण उपासना में फल एक रूप है। जिस प्रकार सत् प्रसङ्ग के अनुसार भगवत् संकल्प से जिस प्रकार उपासना लब्ध होती है, वह रूप ही अनुष्ठेय है, अन्य उपासना की आवश्य कता नहीं है। समस्त उपासना का मोक्ष साक्षात् लक्षण फल एकरूप है। एक अनुष्ठान से उक्त फल प्राप्त होनेपर अन्य अनुष्ठानकी आवश्यकता ही क्या है? यद्यपि "तद्विदुषाम्" इस सूत्रमें यह विषय कहागयाहै तो भी दृढ़ता के लिए पुनर्वार कहा गया है। अतएव इस में पुनरुक्ति दोष नहीं है। विभिन्न आचार्यों के उपदेश के अनुसार उपासना विभिन्नता होती है, सर्वदेव मय आप की उपासना सभी व्यक्ति करते हैं।

श्रीनृसिंह आदि स्वरूपों की उपासना एकान्त भक्त के लिए नित्य है, अनन्तर कीर्त्ति--लोक--जय सम्पत्ति फल हेतु जो सव ब्रह्मार्च्चना की वार्त्ता वृहदारण्यकोपनिषद् में उक्त है, उन सव का अनुष्ठान कर्त्तव्य है, अथवा नहीं? इस प्रकार संशय में कहना है कि विकल्प ही अनुष्ठेयहै, इस के उत्तरमें कहते हैं—कीर्त्ति आदि के हेतु उपासना काम्य है, इस में भगवद् साक्षात् कार की अपेक्षा नहीं है, कामना के अनुसार फल भेद भी है, अतएव स कामी उपासक कामनानुसार ही उपासना कर सकते हैं, कामना न होने पर उन सव की उपासना नहीं करनी चाहिए। मुमुक्षु कभी सकाम नहीं होताहै, यहि कभी कामना का उदय हो तो भी श्रीहरिकी ही उपासना करें. श्रीहरि उसकी वह फल प्रदान करेंगे।

स्मृति में उक्त है—एकान्त उक्त अथवा सर्वकाम भक्त ही हो वह तीव्र भक्ति योग द्वारा एकमात्र श्रीहरि की आराधना करें। इस से यज्ञीय उपासना की व्याख्या सुस्पष्ट हुई है। पूर्णानुमान सोपाधिक है।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ।३।३।६३

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम् ।।३।२८।३१

शिष्टेश्च ।३।३।६४

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्तिः
ध्यायेत् स्वदह्लकुहरेऽवसितस्य विष्णो
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ।।३।२८।३३

अंगी गुणों का ध्यान प्रसङ्ग समाप्त के अनन्तर अङ्ग गुण ध्यान का विचार प्रारम्भ करते हैं; भगवत्तत्व ही नित्य अंगी है और गुण समूह नित्य अंग हैं, यहाँपर अङ्गी शब्दसे श्रीविग्रह स्वरूप और अंग शब्दसे उनके मुखादि को जानना होगा ।

श्रीगोपाल तापनी में उक्त है " तमेकं गोविन्दं, " नमो विश्वरूपाय अनन्तर मुख नेत्रादि सकल अंङ्गों में मन्द हास्य और कृपादृष्टि प्रभृति गुणों का निर्देश है। यहाँपर अवयवावयवी दोनों का कथन समान रूप से हैं। यहाँपर संशय है कि मुखादि अंग के मन्द हास्यादि गुणों का पृथक् चिन्तन उचित है अथवा नहीं है ।

अङ्गि गुण ध्यान द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होने से पृथक् रूप से अंग गुणका चिन्तन का प्रयोजन क्या है। विशेष फल न होने के हेतु उसका ध्यान नहीं करना चाहिए। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—जो गुण जिस गुण का आश्रय है उस अंग में उस गुण का चिन्तन करना उचित है, मुख में मन्दहास्य और प्रिय भाषण नेत्राम्बुज में कृपावीक्षण प्रभृति अवश्य चिन्तनीय है।

श्रीहरि के अवलोकन का ध्यान अनवरत निर्मल मन से करें उनका अवलोकन अधिक कृपापूर्ण हैं,, तापत्रय का उपशमक है, स्निग्ध स्मित एवं विपुल प्रसाद युक्त है।

स्तुति के अन्त में " मैं " जिस प्रकार उनकी स्तुति के द्वारा आराधना करता हूँ उस प्रकार तुम सब पञ्चपद का जप तथा श्रीकृष्ण का ध्यान कर संसार से उद्धार हो जाओगे " इत्यादि रूप में शिष्यों के लिए इनसब अंग

समाहारात् ।३।३।६५

अपीव्यदर्शनं शश्वत् सर्वलोकनमस्कृतम्
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ।।३।२८।१७
कीर्त्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम्
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ।।३।२८।१८

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ।३।३।६६

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपम् ।।१०।८।३०

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ।।३।२८।२१

गुणोंका ध्यान करने का उपदेश होनेके कारण उसका वहाँपर चिन्तन करना कर्त्तव्य है।

मन्दहास का ध्यान कथनानन्तर स्फुट हास का ध्यान कहते हैं। श्री विष्णु के प्रहसित का ध्यान करें। किस प्रकार है, अति मनोरम है, ध्यान के विना ही हृदय में निविष्ट हो जाता है, सौन्दर्य्य का भी वर्णन करते हैं। अधिक रूप से अधर ओष्ठ की कान्ति द्वारा अरुणीभूत हो गयाहै, दन्त पङ्क्ति जिस हास में इस प्रकार शोभा हुई है। भक्त द्वारा मन को उन में अर्पण कर हृदय में सर्वदाध्यान करो और मन को विचलित न करें।

"यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" यहाँपर केवल कृपादृष्टि ही प्रदर्शित हुई है, यहाँ अन्य कोई उपदेश नहींहै, अतएव उससे भिन्न अन्यकिसी गुण का चिन्तन न करे। इस के उत्तर में कहते हैं। यहाँ एकमात्र गुणकी उक्ति से अन्य गुण का उपसंहार किया गया है। तृतीय सूत्र से "न" कार का अनुवर्त्तन हुआ है, अतएव उक्त श्रुति की न्यूनता नहीं होती है।

अति सुन्दर कैशोर में स्थित भक्तानुग्रह कातर कीर्त्तनीय पवित्र यशा पुण्य श्लोक को यश प्रदान कारी श्रीप्रभु के समस्त अङ्गों का ध्यान करे जब तक मन चञ्चल नहीं होता है।

उक्त स्थल में ही उक्त गुण का चिन्तन आवश्यकहै; इस प्रकार आक्षेप करते हैं, ब्रह्म के सकल अङ्गों में सकल गुणों का चिन्तन करें, क्योंकि श्रुति में उनके सर्वतोभावेन पाणि पादादि का उल्लेख है। "सर्वतः पाणिपादं" स्मृति में भी उक्त है, परमेश्वर के सकल अंगों में सकल इन्द्रियों की वृत्ति है,

न वा तत् सहभावाश्रुतेः ।३।३।६७

यच्छौचनिसृतसरित् प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्द्ध्नचधि कृतेन शिवः शिवोऽभूत्
ध्यातु मंनः शमल शैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥३।२८।२२

दर्शनाच्च ।३।३।६८

हासं हरेरवनताखिल लोकतीव्र
शोकाश्रु सागरविशोषणमत्युदारम्
सम्मोहिताय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥३।२८।३२

※ इति तृतीयाध्यायास्य तृतीयः पादः समाप्तः ※

उन के सकल अङ्ग ही जगत् के सृजन दर्शन पालन और लयसाधन करते हैं ।

ध्वान्तागार में मणिगण युक्त अङ्ग ही प्रदीप का कार्य करता है । श्री हरि के चरणार विन्द का ध्यान करे जो ध्वज वज्र अङ्कुश आदि चिह्नों से सुशोभित हैं,और नख ज्योति से जो ध्यानकारी के हृदयान्धकार को विदूरित करते हैं ॥

इस का निरसन करते है, सूत्रस्थ "च" शब्द अवधारण अर्थका प्रकाशक है । श्रीभगवान के सकल अंगोंमें सकल गुणों का चिन्तन करना आवश्यक नहीं है । जिस अङ्गमें जिस गुण का उल्लेखहै वहाँ पर उस का ही चिन्तन करे अपर गुण का नहीं । " सर्वतः पाणि पादं " श्रुति सर्वेश्वरत्व प्रतिपादक हैं ।

जिन के चरणारविन्द से निःसृत गङ्गाजल से श्रीशिव भी पवित्र हो जाते है,एवं ध्यान कारीके हृदय स्थितअन्धकारको वज्रकी भांति जो विनाश करते हैं, इस प्रकार श्री भगवान के चरणारविन्द को ध्यान करे ।

विशेष कर श्रीभगवान के मुखार विन्द में ही मन्द हास्यादि का वर्णन दृष्ट होता है । अतएव वह ही स्वीकार्य है ।

श्रीहरि के हास्य नम्र व्यक्तियों के शोक को विदुरित करते हैं, एवं शोकाश्रु सागर को भी सुखा देतीहैं. उनके मनोहर भ्रूमण्डल का ध्यान करें, जो मकरध्वज को मोहित करने के लिए सदा जागरुक हैं ।

इति श्रीमत् कृष्ण द्वैपायन कृत ब्रह्मसूत्रस्य भागवतभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादः समाप्तः

* अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः *

——**——

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायणः ।३।४।१

यत् कर्मभि र्यत् तपसा ज्ञान वैराग्यतश्चयत्
योगेन दानधर्म्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तोलभतेऽञ्जसा
स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ।।११।२०।३२:३३
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत् स्त्रियः सत् पतियथा ।।९।४।६६

पूर्वपाद में ध्यान उपासनादि शब्द वाच्य ब्रह्म विद्या का सपरिकर प्रदर्शन हुआ है, सम्प्रति इस पाद में उस विद्या का स्वातन्त्र्य, कर्मानधीनत्व, अनधिकारी त्रिविधत्व ये सव अर्थ प्रतिपादित होंगे। क्रतुभेद से अर्थात् सङ्कल्प भेदसे विद्यार्थी तिन प्रकार होतेहैं, कुछ व्यक्ति लोक वैचित्री दर्शनेच्छु होकर परिनिष्ठा के साथ वर्णाश्रम धर्म का आचरण करते हैं, जो लोक संग्रह की अभिलाष से इन सव धर्मों का आचरण करतेहैं वे परिनिष्ठित हैं, ये दोनों आश्रमी हैं, इस से अतिरिक्त अनाश्रमी है, जो जन्मान्तरीय आचरित धर्मों से तथा सत्य तप जप आदि से विशुद्धान्तः करण होतेहैं, वे निरपेक्ष हैं वे आश्रम शून्य होते हैं। इस प्रकार स्वनिष्ठ परिनिष्ठित, निरपेक्ष रूप में अधिकारी तीन प्रकार हैं।

श्रुति में उक्त है " आतमविद् शोक से मुक्त होता है " " ब्रह्मविद् पर तत्त्व का लाभ करता है " अक्षर पुरुष को ज्ञात होने पर इच्छानुरूप फल मिलता है "।

यहाँपर संशय है कि विद्या मोक्षका हेतु है अथवा स्वर्गादि का हेतु है? विद्वान् व्यक्ति की अन्यत्र अभिलाष नहीं होती है एतत् निवन्धन विद्या केवल मोक्ष का हेतु है, इस प्रकार कथन का उत्तर देते हैं—श्रीवादरायण के मत में विद्या से ही सकल पुरुषार्थ का लाभ होता है, पूर्वोक्त श्रुति समूह इस विषय में प्रमाण है, श्रीहरि विद्या द्वारा प्रसन्न होकर भक्त को आतमदान करते हैं। कर्द्दमादि के तुल्य फलान्तर की स्पृहा होनेपर कर्म परिकर रूपसे उस विद्या द्वारा उक्त फल को भी प्रदान करते हैं।

कर्म तप ज्ञान वैराग्य योग दान धर्म एवं अपर श्रेयस्कर साधनों से सत्त्वशुद्धि रूप जो कुछ प्राप्त करना है, वे सव ही मेरी भक्ति से मेरे भक्त प्राप्त

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ।।११।१८।४४
भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः।।११।१८।४५

करलेते हैं, यदि स्पृहा हो तो स्वर्ग अपवर्ग वैकुण्ठ धाम आदिकी भी प्राप्ति हो जाती है, किन्तु भक्त की इच्छा। इस विषय में होती ही नहीं।

भक्ति निवन्धन में भक्त के समीप में वशीभूत होकर रहता हूँ जैसे सत् स्त्रीगण के समीप में सत्पति वशीभूत होकर रहता है।

इस स्थल पर जैमिनी जी का कथन है कि—उपासक जीव उपास्य विष्णु एवं यजमान अपन स्वरूप एवं उभय का सम्वन्ध को शास्त्र से अवगत होकर शास्त्रोक्त तद आराधनात्मक कर्म में प्रवृत्त होताहै, वह उक्त कर्म द्वारा कल्मषों से निवृत्त होकर अदृष्ट निबन्धन स्वर्ग मोक्ष रूप फल को प्राप्त करता है। अतएव विद्या का कर्मशेष हेतु उस में जो फल श्रवण है वह पुरुषाकार से उत्पन्न निवन्धन पुरुषार्थ वादही है। पुरुष सम्वन्धी अर्थवाद को पुरुषार्थ वाद कहा जाता है, जिस प्रकार " यस्य पर्णमयी जुहू इत्यादि फल श्रुतिद्रव्य में, ' यदाङ्क्ते ' चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते " यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म्म वा एतत् यज्ञस्य " इस प्रकार फल श्रुति अर्थवाद है वैसा ही विद्या में जो फल श्रुति है वह अर्थवाद मात्र है। यह जैमिनि जी का मत है। जैसा कहा गया है—

द्रव्य संस्कार कर्मों में परार्थ रूप में जो फल श्रुति है, वह अर्थवाद है, यावज्जीवं गृहिधर्मान् यज्ञादीननुतिष्ठतः शमदमाद्युपेतस्य ब्रह्म प्राप्तिः श्रूयते, आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य इत्यादिना ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते" जीवित पर्यन्त यज्ञादि गार्हस्थ्य कर्मका अनुष्ठान कारी एवं आत्म शुद्धि के लिए शम–दमादि आचरण करने वाला व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति होती है, आचार्यकुल से वेद अध्ययन कर " इत्यादि वाक्य से आरम्भ कर वह ब्रह्म लोक प्राप्त होता है, उस की पुनरावृत्ति नहीं होती हैं, इत्यादि कथन से स्पष्ट होता है। स्मृति में भी उक्तहै वर्ण आश्रमाभिहित सदाचार द्वारा परम पुरुष विष्णु की आराधना होती है। भगवत् परितोष का अपर मार्ग नहीं है। इस से कर्म का अनुष्ठान सुव्यक्त है। तो भी कर्म–परित्याग सूचक जो भी वाक्य देखे जाते हैं वे सब कर्मासमर्थ पङ्गु अलस अन्य विषयक है।

आचारदर्शनात् ।३।४।३

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्ध-ध्वंसन परानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेनपरिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्द्धनो महतां महीतलमनुशशास ॥५।१।२३

तच्छ्रुतेः ।३।४।४

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः
स्मृतश्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥७।११।७
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गो ऽर्पितमीश्वरे
नैष्कर्म्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥११।३।४६

इस प्रकार वर्णाश्रम धर्माचरण का फल वर्णन करते हैं,, अनन्य रूप से जो व्यक्ति स्वाधिकारोचित आश्रम धर्म द्वारा मेरी आराधना नित्य रूप से करताहै, एवं सर्व प्राणियोंमें मेरा समान आदर भाव रखताहै, वह मेरी दृढ़ा भक्ति को प्राप्त करता है, हे उद्धव अनपायिनी भक्ति द्वारा सर्वलोक महेश्वर सर्वोत्पत्तिलयस्थान एवं सर्वकारणस्वरूप मुझ ब्रह्म को भी प्राप्त करता हैं।

वक्ष्यमाण दृष्टान्त से भी आत्मविद्या कर्म का ही अङ्ग है, यह प्रतीत होता है। " जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" यक्ष्यमाणो हवैभगवन्तोऽहमस्मि " इस प्रकार विद्यानिष्ठ व्यक्तियों का भी कर्म आचरणदृष्ट होता है, वृहदारण्यकोपनिषद् में उक्त है विदेहराज जनकने वहुदक्षिणा युक्त यज्ञद्वारा भगवान् यज्ञ पुरुष की अर्च्चना की । यदि केवल विद्या द्वारा पुरुषार्थ सिद्ध होता है, तो उनका कर्म में प्रयास नहीं होता। अक्के चेन्मधु विन्देत नियम से उक्तार्थ सिद्ध होता है।

जिज्ञासा हुई कि महाभागवत प्रियव्रत की गृहधर्म में निष्ठा क्यों हुई थी ! इस का उत्तर देते हैं, जिस श्रीप्रभु से ही आपने कर्माधिकार प्राप्त किया था, जिन के श्रीचरण का ध्यान से जगत बन्धन विदूरित होता है, उन चरण युगल का अनवरत ध्यान से रागादि मल भी विदुरित हो गया था इस प्रकार शुद्धान्तःकरण होने पर भी सुमहान् ब्रह्मादि पुज्य व्यक्तियों के आदेश पालन रूप मानवर्द्धन कारी आप थे। और कर्माधिकार में नियुक्त होकर महीतल का पालन पोषण किये थे।

समन्वारम्भणात् ।३।४।५

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्ति सूरयः ११।४।४३
परोक्ष वादो वेदोऽयं वालानामनुशासनम्
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ११।४।४४
नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्यो र्मृत्यु मुपैति च ११।४।४५

" तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाच " वृहदारण्यक के संवाद से विद्या का कर्म शेषत्व अर्थात् कर्माङ्ग सुनने में आता है।

धर्म में प्रमाण प्रदर्शन के लिए कहते हैं, धर्म का मूल अर्थात् प्रमाण ही श्रीभगवान् हैं, एवं वेद विद् गण की स्मृति ग्रन्थ भी प्रमाण हैं, जिस धर्म से आत्मा एवं मन प्रसन्न होता है वह ही धर्म है। याज्ञवल्कयने कहा है श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् सङ्कलजः कामो धर्ममूल मिदं स्मृतम्। श्रीमनुमहाराज ने भी कहा है—

वेदोऽखिलधर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥

सर्वं वेदमय भगवान श्रीहरि ही धर्म का एकमात्र मूल प्रमाण है, एवं वेद विद्गण की स्मृति ग्रन्थ भी प्रमाण है, एवं शास्त्रोक्त आचरण से आत्म प्रसन्न होना भी धर्म का स्वरूप है, आसक्ति परित्याग पूर्वक वेदोक्त कर्माचरण ईश्वर को अर्पण करके करने पर इष्ट सिद्धि होती है, फल कथन केवल कर्म के प्रति रुचि उत्पादन के लिए ही होता है।

वृहदारण्यक में उक्त है " तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च" विद्या और कर्म का साहित्य के विना फल नहीं होता है।

वेद अतिगहन है, विहित कर्म निषिद्ध कर्म, विकर्म विगत कर्म विहिताकरण, ये तीन ही लौकिक नहीं है केवल वेद से ही जानना होगा। वेद ईश्वरात्मक है, ईश्वर से ही उत्पन्न है, अपौरुषेय है, पुरुष वाक्य में अर्थ वोध अभिप्राय से ही होता है, अपौरुषेय वाक्य में पौर्वापर्य्य तात्पर्याविधारण से ही अर्थवोध होताहै, अतएव अर्थवोध दुष्कर ही होताहै। विद्वान् का भी उस में मोह होता है ॥

स्वयं अजितेन्द्रिय जीव यदि वेदोक्ति के अनुसार आचरण न करे तो कर्म आचरण के अभावरूप विकर्म से मरणानन्तर पूनर्वार मृत्यु

तद्वतो विधानात् ।३।४।६

लब्धानुग्रह आचार्य्यात् तेन सन्दर्शितागमः
महापुरुषमभ्यर्च्चेत् मूर्त्त्याभिमतयात्मनः ।।११।३।४८
वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् ।।६।७।३२

नियमाच्च ।३।४।७

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ।।११।४।४५
तावत् कर्माणि कुर्वीत ।।११।२०।६

अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैव दर्शनात् ।३।४।८

को प्राप्तकरेगा । श्रुति, मृता पुन मृ त्युमापद्यन्ते अर्द्यमानाः स्वकर्मभिः ।।

ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा दर्श पौर्णमासयोस्तं वृणीते, तैत्तिरीयक में उक्तहै ब्रह्मिष्ठ ब्रह्म ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण को ही दर्श पौर्ण मास यज्ञ में ब्रह्मा रूप में वरण करें । ब्रह्म ज्ञान द्वारा ही जव ऋत्विक् कर्म में अधिकार होता है तव कर्म का अङ्ग विद्या है ।

आचार्य से अनुग्रह प्राप्त करने के वाद उन के दर्शित शास्त्र विधि के अनुसार अभीप्सित श्रीप्रभुकी अर्च्चना करे-ब्रह्मिष्ठ ब्राह्मण उपाध्याय को गुरु रूप में वरण करता हूँ ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ईशावास्योपनिषत् में कथित है कि कर्म करते करते शतवर्ष जीवित काल अतिवाहित करे । अत एव विद्वान् व्यक्ति यावज्जीवन पर्यन्त कर्मानुष्ठान करे, इस प्रकार अनुशासन देखने में आता है, अतएव कुत्रचित् कर्म त्यागका उपदेश देखकर विधानऔर त्याग का विकल्प पक्ष स्वीकार कर जो प्रश्न उठसकता है, वह भी निरस्त हुआ है, कर्मत्याग विषयक वचन पङ्गु अन्ध आलस्य परायण व्यक्ति के लिए हैं । वीरहा वा एष देवानां योऽग्नि मुद्वासयते इस वचन द्वारा तैत्तिरियकोपनिषत् में कर्म त्याग का निषेध दृष्ट होता है ।।

स्वयं अज्ञ और अजितेन्द्रिय होकर जो जन कर्माचरण न करताहै, वह मृत्यु के पश्चात् पुनर्वार मृत्युको प्राप्त करताहै, कर्मानाचरण रूप विकर्म उस को परित्याग नहीं करेगा ।। तव तक सभी वेदोक्त कर्माचरण करते रहना चाहिये ।।

प्रोक्तेन भक्ति योगेन भजतो मासकृन्मुनेः
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयिहृदिस्थिते ॥११।२०।२६
यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्
योगेन दान धर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥११।२०।३२
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तोलभतेऽञ्जसा
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदिवाञ्छति ॥११।२०।३३
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता
मत् कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥११।२०।६

तुल्यं तु दर्शनम् ।३।४।६

तपस्विनोदानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।

विद्या कर्माङ्ग होने के कारण उस का स्वतन्त्र रूप में फल साधनत्व नहीं है, पूर्वपक्ष में इस सिद्धान्त होने पर उसका निराकरण के लिए सिद्धान्त सूत्र कहते हैं—सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष व्यावर्त्तक है। कर्म से विद्या अधिक है, एवं कर्म फल प्राप्ति के लिए विद्या की ही अपेक्षा है, यह मत श्रीवादरायण का ही है। इस प्रकार सिद्धान्त अमूल नहीं है, वृहदारण्यक में उक्त है तैमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेना नाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनि र्भवत्येवेत्यतमेव" इस प्रकार कर्म का विद्या को विद्याफल रूप से विधान किया गया है। इस विद्या की उत्पत्ति के वाद कर्म के परित्याग करने का विधान भी है। विद्या उत्पत्ति के पश्चात् कर्म की सार्थकता नहीं है। कर्म विद्या का साधनहै। विद्या उस का फल है। साधन से फल श्रेष्ठ होने के कारण कर्म से विद्या श्रेष्ठ है।

भक्ति अन्य निरपेक्ष निवन्धन भक्तियोग ही श्रेष्ठहै, अपर समूह साधन भक्ति सापेक्ष ही है। इस का प्रदर्शन करते हैं; कर्म, तीर्थयात्राव्रत प्रभृति श्रेयः साधन समूह द्वारा वाञ्छनीय सत्त्व शुद्धयादि भक्ति योग से अनायाम से ही प्राप्त होने हैं। स्वर्ग अपवर्ग वैकुण्ठ भी प्राप्त होते हैं, यदि वाञ्छा हो तो, किन्तु भक्त की वाञ्छा ही नहीं होती है।

काम्य कर्मतव तक ही करना आवश्यक है, जवतक कर्म फल में निर्वेद नहीं होता है, अथवा मेरी कथा श्रवण आदि के प्रति श्रद्धा नहीं होती है।

विद्वान् प्रकाण्डों का कर्माचार दर्शन से विद्या को जो कर्माङ्ग रूप में

क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ॥२।४।१८

आसार्वत्रिकी ।३।४।१०

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ११।२०।७
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥११।२०।८
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता
मतकथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥११।२०।९

कहा गया है, उस का निरास करते हैं। कर्माङ्ग की सम्भावना के निरास के लिए सूत्र में 'तु' शब्द का उपन्यास है, विद्या का कर्म के अङ्गत्व में भी समान प्रमाण देखाजाताहै, एतद्ध स्मवैपूर्वोविद्वांस आहुऋषयःकारयेयाःकिमर्था वयम् अध्येष्यामहे किमर्थावियं यक्ष्यामहे एतद्ध स्मवै पूर्व्वे विद्वांसोऽग्नि होत्रं, जुह ूवां चक्रिरे एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणा याश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ' इस वाक्य में विद्यानिष्ठ के लिए कर्म त्याग का विधान देखने में आता है,। विद्वानों का कर्माचरण लोकों को आचरण कराकर चित्त शुद्धयुक्त करने के लिए ही है। अधिकार भेद से आचरण भेद है।

भक्ति शून्य के प्रति समस्त साधन विफल ही होता है। तपस्वी दान शील व्यक्ति, मनस्वी योगिजन, सुमङ्गल सदाचार परायण व्यक्ति मन्त्रविद व्यक्ति कर्म काण्ड परायण जन गण भी श्रीविष्णु के प्रति समर्पण रूप भक्ति की सहायता को छोड़कर क्षेम को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उन सुभद्रश्रवा श्री विष्णु को प्रणाम हो।

विद्या का कर्माङ्गत्वपोषक श्रुति विद्यमान होने पर भी वह श्रुति सार्वत्रिकी नहीं हैं। सकलविद्याविषयकनहीं है, किन्तु उद्गीथ विद्या विषय पर है अतएव विद्या की कर्माङ्गता नहीं है।

श्रेयः प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म, भक्ति ये तीन योग हैं। इस के अतिरिक्त श्रेयः साधन कुछ भी नहीं है। इनसव में अधिकारी भेद है, उस का वर्णन करते हैं, इनमें से जो व्यक्ति दुःख वुद्धि से कर्म फल का त्याग करता है. एवं उस के साधन भूत कर्म का भी परित्याग करता है, वह ही ज्ञान योग

विभागः शतवत् ।३।४।११

एवमेतान् मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः
क्षेमं विदन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥११।२०।३७
य एतान् मत्पथो हित्वा भक्ति ज्ञान क्रियात्मकान्
क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणै र्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः
विपर्य्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥११।२१।१-२

का अधिकारी है, अनिर्विण्ण दुःख बुद्धि शून्य कामना पुर्ण व्यक्ति के लिए कर्म योग है, किसी प्रकार अनिर्वचनीय भाग्योदयनिबन्धन यदि श्रीहरि कथा श्रवण प्रभृति में श्रद्धा होती है, एवं कर्मयोगमें निर्विण्ण एवं अतिशय आसक्ति भी नहीं होती है, तब वह भक्ति योग का अधिकारी होगा ।

जब तक कर्म फलमें निर्वेद नहीं आताहै तब तक ही काम्य कर्मानुष्ठान यथावत् करे, अथवा श्रीहरि कथा प्रभृति में यदि श्रद्धा नहीं होती है, तब ही काम्य कर्मानुष्ठान यथावत् करे, श्रीहरि कथा श्रवण प्रभृति में श्रद्धा होने पर काम्य कर्म परित्याग पूर्वक श्रीहरि भक्ति का ही अनुष्ठान करे ।

'तं विद्या कर्मणि " यहाँपर विद्याकर्म कृत फलारम्भ का सुस्पष्ट विभागहै, विद्या एक फल का आरम्भ करतीहै, तो कर्म अपर फलका आरम्भ करता है, जैसे एकसाथ धेनु और छाग का विक्रेता ने शत मुद्रा प्राप्त किया है, यहाँपर धेनु और छाग के विक्रय लब्ध मूल्य शत मुद्रा में अवश्य विभाग जानना होगा । जैस धेनु के लिए नवति मुद्रा एवं छाग के लिए दश मुद्रा उभय के जोड़ से ही शत मुद्रा होते हैं, वैसे ही विद्या और कर्म का उल्लेख एकसाथ होने पर भी विद्याका फल निःश्रेयस प्राप्ति एवं कर्म का फल संसार प्राप्ति है ।

काम्य कर्म निष्ठा की निन्दा करने के उद्देश्य से मुक्ति मार्ग का उप संहार करते हैं, जो जन मेरी प्राप्तिका उपाय स्वरूप भक्तिमार्ग का अवलम्बन करता है, वह क्षेम को प्राप्त करता है, अर्थात् काल माया रहित मेरा स्थान को प्राप्त करता है, जिस को परम ब्रह्म नाम से कहा जाता है ।

इस प्रकार गुण दोष व्यवस्था के लिए योग त्रयको कहा, वहाँपर ज्ञान भक्ति सिद्ध के लिए कुछ भी गुण दोष नहीं है, कर्म निष्ठ के लिए यथाशक्ति नित्य नैमितिक कर्म सत्त्वशोधक होनेके कारण गुणहै, उस का सम्पादक होने के कारण प्रायश्चित्त भी गुण है तदकरण निषिद्ध करण मलीन अन्तः करण

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२

तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ।।१।२।१२
वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् ।।६।३।३२

के कारण दोष है। विशुद्ध सत्त्व के लिए ज्ञाननिष्ठ के लिए ज्ञानाभ्यास गुण है, एवं भक्तिनिष्ठ के लिए श्रवण कीर्त्तनादि भक्ति ही गुण है, । इस के विरुद्ध सर्वकुछ ही उभय के लिए दोषावहहै, जो जन सिद्ध भी नहीं है, और साधक भी नहीं है, किन्तु केवल काम्य कर्म प्रधान है, उस के लिए अनेक गुण दोष है, प्रथम उस अति वहिर्मुखगण की निन्दा करते हैं, मदुक्त मार्ग को छोड़करकेवल क्षुद्र अस्थिर प्राणदेह वायुइन्द्रिय आदि में जोप्रीतियुक्त होता है, वह ही संसार को प्राप्त करता है, निखिल गुण दोष युक्त होने के कारण नानायोनि में भ्रमण करता है। कुछव्यक्ति उक्त कर्म सेवन के वाद भी गुण दोष युक्त नहीं होते हैं, इस प्रकार वैषम्य नहीं है, जैसे अग्नि से कोई दग्ध होताहै, और कोईदग्ध नहींहोताहै, ऐसा नहींकहा जाताहै, अधिकार भेद से ही गुण दोष है, वस्तु निष्ठ गुण दोष नहीं है।

विद्वान व्यक्ति को ही वरण किया जाता है, अतएव विद्या कर्मका अङ्ग क्यों नहीं होगा। इस के उत्तर में कहते हैं—यहाँपर वेदाध्ययन मात्रनिष्ठ को ही ब्रह्मवित् जानना होगा, किन्तु ब्रह्मज्ञ को ब्रह्मा रूप में वरण नहीं है, अतएव विद्या कर्माङ्ग नहीं हो सकती है। ब्रह्मिष्ठ ब्रह्म शब्द वेद पर है, पर तत्त्वार्थक नहीं है, नैष्कर्म्य होने पर ही पर तत्त्वार्थक ब्रह्म शब्द होता है, अत एव अविकृत शब्द रूप वेद को ज्ञात होकर सर्वदा जो जन अध्ययन ही करता है, उस से कुछ भी नहीं चाहता है। उसके ब्रह्मिष्ठ कहा जाता है, कर्मस्तुति के लिए ही विद्वान को ब्रह्मिष्ठ नाम से कहा जाता है। अध्ययन रत का ही कर्म में अधिकार है, ज्ञानवान का नहीं ऐसा कहा नहीं जा सकता है। अज्ञान के लिए ब्रह्मपद नहीं होता है, अध्ययन ही अर्थ वोध कारकहै, अतएव वेदान्त अर्न्तगत उपनिषत् ज्ञानवान व्यक्ति का भी कर्म में अधिकार होने के कारण विद्या कर्म का अङ्ग क्यों नहीं होगा? उत्तरमें कहते हैं—शब्दार्थ ज्ञानवान् को ही ब्रह्मविद् कहा नहीं जाता है, किन्तु ब्रह्मानुभव वाले को ही ब्रह्मज्ञ कहा जाता है। जैसे मधु मधुर है, इस प्रकार शब्द ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति कभी भी मधुरता का अनुभव नहीं कर पाता है, अन्यथा मधु शब्द से उस की मत्तता अवश्य होगी, किन्तु मधुपान से ही मधुरत्व का ज्ञान होता है, शाब्द वोध से

नाविशेषात् ।३।४।१३

एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणं
ज्ञानं यत् तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥१।५।३३–३५

मधुरत्व का वोध नहीं होता है, इसलिए जव श्रीनारद जीने पुछा, तुम जो जानते हो कहो, उत्तर में कहा मैं ऋग्वेदादि का ज्ञाता हूँ, ब्रह्मज्ञ नहीं हूँ। इस प्रकार मन्त्रविद् एवं ब्रह्मविद् में अन्तर है। अतएव शब्द ज्ञान से अन्य ही उपासना है।

भक्ति अनुभव पदवाच्या विद्या ही पुरुषार्थ हेतु हैं, तैत्तिरीयकोपनिषद् में उक्त है—वेदान्त विज्ञान से अर्थ निश्चयकारी सन्नयास योग द्वारा शुद्धान्तःकरण यति सकल अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। शाब्दज्ञान वैराग्य के समान विद्या का परिकर है, किन्तु विद्यानहीं है। श्रद्धा सम्पन्न मुनिगण ज्ञान वैराग्य से युक्त श्रुत गृहीत भक्ति द्वारा आत्मामें आत्म दर्शन करते हैं॥

भक्ति काय वाक्य और मन का व्यापार रूप है। उन में से मन के व्यापार रूप ध्यानसे अनुभव स्वरूप हो सकता है किन्तु काय व्यापार अर्च्चनादि तथा वाक्य व्यापार जपादि किस प्रकार अनुभव रूप हो सकते हैं? उत्तर में कहते हैं। भक्ति ह्लादनी सार समवेत सम्बित् रूपा है। श्रुति में उक्त है-- सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोग में ठहरते हैं" भक्ति को सच्चिदानन्द स्वरूप न कहने से उक्ति के द्वारा भगवद् वशीकारत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। वास्तविक भक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप होकर भी भक्तके शरीरादि के साथ तादात्म्यापन्न होकर आविर्भूत होती है तथा यथोचित कार्य सम्पादन करती है, ज्ञानानन्द विग्रह में कुन्तलादि अंग प्रत्यङ्ग रूप दैहिक स्वरूप की भाँति जानना होगा श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात् इस न्याय के अनुसार अलौकिक अचिन्त्य विषय में तर्क का निषेध हुआ है।

यावज्जीवं विदुषः कर्मानुष्ठानं तथाश्रुत्वा नियन्तुमशक्यम्। अतः अविशेषात्। जिस प्रकार यावज्जीवित काल पर्यन्त कर्मानुष्ठान की श्रुति है उस प्रकार कर्म के त्याग सम्वन्ध में भी श्रुति है, अतएव पूर्वोक्त श्रुति द्वारा कर्मानुष्ठान का विधान करना ठीक नहीं हैं। कर्म धन प्रजा और त्याग द्वारा अमृत लाभ नहीं होता है, इस वचन से उक्त श्रुति का वैशिष्ट्य नहीं होता है, आश्रय भेद से उभय श्रुति की व्यवस्था है, इस प्रकार समस्त काम्य कर्म

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्
यो जागर्त्ति शयानेऽस्मिन् नायं तं वेद वेद सः
आत्मावास्य मिदं विश्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।८।१।६-१०
अथाग्र ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे
ईहमानोहि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते
ईहते भगवानीशो नहि तत्र विसज्जते
आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनु तम् ।।८।१।१४—१५

कामकारेण चैके ।३।४।१५

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्टा स गुणः परिकीर्त्तितः
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ।।११।२१।२
यथाग्निसुसमृद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्
तथा मद् विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ।।११।१४।१६

संसृति का हेतु है, वह कर्मयदि श्रीभगवत् पर हो तो संसृति का नाशक होता है ।। भक्ति योगसमन्वितभगवत्परितोष के लिए जो कर्म अनुष्ठित होता है, उस से ज्ञान का आविर्भाव होगा ।।

उक्त प्रकार वाद को निरास कर सिद्धान्त करते हैं। सूत्रोक्त 'व' शब्द अवधारण अर्थ में है। यावज्जीवनकर्मानुष्ठान का विधान विद्याकी प्रशंसा के लिए ही है, ईशावास्य श्रुति प्रकरण से इस प्रकार संगति होती है, विद्या की महिमा ऐसीहै कि यावज्जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान से भी वह कर्मानुष्ठान विद्वान् व्यक्ति को लिप्त नहीं कर सकता है. एवं त्वयि नान्यथेऽतोऽस्तीति वाक्य शेष से इस प्रकार वोध हो रहा है।

अतएव विद्या का कर्माङ्गत्व निरस्त हुआ है ।।

इस प्रकार विद्या का स्वातन्त्र्य निर्देश के अनन्तर उस की महिमा द्वारा आतिशय्य कहते हैं, वाजसनेयक में उक्त है—वहाँपर विद्या विशिष्ट का यथेष्टाचार है,, अथवा नहीं, इस प्रकार संशय में कहा जाता है, यथेच्छाचार होनेपर विहित त्याग से प्रत्यवाय की सम्भावना है, अतएव यथेच्छाचार नहीं हो सकता है, इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं—ज्ञानी व्यक्ति लोकानुग्रह के लिए

उपमर्द्दं च ।३।४।१६

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनोश्वरे ॥१।२।१८
यथाग्नि सुसमृद्धार्च्चिचःकरोत्येधासि भस्मसात्
तथा मद्विषयाभक्ति रुद्धवनांसि कृत्स्नशः ॥११।१४।१८

ही कर्मानुष्ठान करते हैं, दोषगुण से निवृत्ति प्रवृत्ति नहीं होती है। इस लिए उनकी महिमा श्रुति कहती है, अतएव कामचार में भी प्रत्यवाय का स्पर्श नहीं होगा।. ब्राह्मण शब्द का अर्थ है ब्रह्मानुभवी। यहाँपर विहित कर्मानुष्ठान से गुण सम्बन्ध नहीं है, और विहित कर्म त्यागसे भी दोष सम्बन्ध नहीं है, पुष्कर पत्र में वारि विन्दु के समान ब्राह्मण में कर्म का संश्लेष नहीं हीता हैं, प्रदीप्त वह्नि में तृणमुष्टि के समान दोषभी भस्मीभूत हो जाता हैं। अतएव ब्राह्मण पुरुष प्रभाव सम्पन्न है।

निज निज अधिकार में निष्ठा ही गुण है, इस का विपर्य्यय ही दोष है, जैसे सुन्दर प्रज्ज्वलित वह्नि तृण राशिको भस्मीभूत कर देतीहै, वैसे मेरी भक्ति समस्त पापों को विनष्ट कर देती है।

उक्त विषय को स्पष्ट रूप से कहते हैं—"भिद्यते हृदय ग्रन्थि " यह श्रुति, यथैधांसि समृद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्ज्जुन " ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा " यह स्मृति विद्या द्वारा समस्त कर्म विनाश का संवाद कहती है, अतएव विद्या का आतिशय्य सुसिद्ध होता है, यहाँ अर्द्धभुक्त कर्म का भी जव विनाश हो जाता है, तव उत्तर कालीन विहित कर्म त्याग से दोष की सम्भावना ही नहीं है, शङ्का हो सकती है कि भोग के विना कर्म का विनाश स्वीकार नहीं है, तव उक्त सिद्धान्त कैसे ग्राह्य होगा ? उत्तर देते हैं यद्यपि समस्त कर्मदहन करने की शक्ति विद्या में वर्त्तमान हैं, तथापि सत् सम्प्रदाय प्रचार के लिए ईश्वरेच्छासे देहारम्भक कर्म्म को विद्या ज्वलाती नहीं वह भी दग्ध पट को भाँति विद्वान का अनुसरण करता है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म भोग से नाश होता है, इस सिद्धान्त का समन्वय हुआ है, आगे कहेगें " अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः इस सूत्र में इस विषय को विस्तृत रूपमें कहेंगे।

विद्या का फल कहते हैं„ हृदय रूप ग्रन्थि--अर्थात् चित् जड़ात्मक अहङ्कार नष्ट हो जाता है, अतएव असम्भावनादि रूप सकल संशय भी नष्ट हो जाते हैं। अनारब्ध फलक कर्म समूह भी नष्ट हो जाते हैं, आत्मा में स्वरूप भूत ईश्वर का साक्षात्कार से ही उक्त अवस्था होती है।

उद्ध्र्वरेतःसु च शब्दे हि ।३।४।१७

बुधोवालकवत् क्रीड़ेत् कुशलो जड़वच्चरेत्
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्य्यां नैगमश्चरेत् ॥११।१८।२६

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ।३।४।१८

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्
धावन निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥११।२।३५

जिस प्रकार प्रज्ज्वलित हुताशन काष्ठ राशि को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार मेरीभक्ति प्रारब्धाप्रारब्ध समस्त कर्मोंको विनष्ट करदेती है।

परिनिष्ठित व्यक्ति में उर्द्धरेता यतियों की विद्योपत्ति में यथेच्छ कर्मा चरण शास्त्र में कहा गया है, अतः विद्या स्वतन्त्रा है, वृहदारण्यक श्रुति भी इस प्रकार है, " तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य वाल्येन तिष्ठासत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनंच मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः " अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति क्विया सम्पन्न होने पर काम्य कर्मा चरण इच्छानुरूप कर सकते हैं। निर्विद्य शब्द का अर्थ है, लब्ध होकर। गीता में भी उक्त है—विद्वान् लोक संग्रह के लिए असक्त भाव से कर्मानुष्ठान करें। यहाँपर समाधान के लिए ऐसा कहना उचित है कि प्रतिष्ठा सम्पन्न गृहस्थ लोक में आदर्श आचरण स्थापन करने के लिए ईश्वर इच्छानुसार विहित कर्म का अनुष्ठान करेंगे॥ गीता का उक्त वचन भी प्रतिष्ठा सम्पन्न गृहस्थविषयक है। अतएव यति के लिए स्वेच्छा से काम्य कर्मानाचरण से प्रत्यवाय नहीं होता है, क्योंकि विद्या की महिमा इस प्रकार है।

वुध विवेकवान होकर भी वालकवत् मान अवमान विवेकशून्य आचरण करे, कुशल निपुण होकर भीं जड़वत् फलानुसन्धान रहित होकर आचरण करें विद्वान् पण्डित होकर भी उन्मत्तवत् लोकरञ्जन चेष्टारहित आचरणकरें। वेदनिष्ठ होकर भी अनियताचार के समान आचरण करे।

उक्त श्रुति का अर्थ जैमिनि मत से प्रदर्शित हो रहा है, जैमिनि जी का कथन है—नियम से ही विहित कर्म का स्वेच्छा से आचरण ही कामचार है, क्यों कि श्रुति स्वयं ही विद्वान के लिए कर्मानुष्ठान का विधान देती है, एवं अनुष्ठान की निन्दा भी करती है। सुतरां विद्वान कर्मत्याग करेंगे यह विधिवाक्य नहीं है।

इस का भावार्थ इस प्रकार है, कुर्वन्नेवेह कर्माणि इत्यादि श्रुति वाक्य

अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१६

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यम्
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ।।११।५।४१

से विद्वानों का कर्मविधान तथा वीरहा व '' इस श्रुति से कर्म त्याग की निन्दा होने के कारण कर्म त्याग में विधि कदापि नहीं हो सकती है। युगपद् विधान और त्याग सम्भव नहीं है, दोनों परस्पर विरुद्ध है। त्याग विषयक वाक्य निर्विषय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वह सव वाक्य पङ्गु अन्ध वधिर अलस आदि अशक्ति विषयक है। अतएव विद्वान के लिए श्रौत स्मार्त्त कर्म अङ्गीकार पूर्वक जो काम चार शब्द का व्यवहार है वह त्यागार्थ में संगत नहीं हो सकता है।

मनु आदि के मुख से वर्णाश्रमादि धर्म कथन के पश्चात् अति रहस्य भागवत धर्म स्वमुख से ही कहते हैं, सुख पूर्वक आत्मलाभ के उपाय ही भागवत धर्म है, सुखद धर्म का स्वरूप कहतेहैं, जिस का आश्रय लेने पर कर्मज्ञान योग के समान अपने मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है, और भी निमील्य नेत्र से धावित होनेपर भी इस भागवत धर्म में स्खलित नहीं होता है, निमीलन शब्द का अर्थ अज्ञान है। न जान कर भी। श्रुति स्मृति उभेनेत्रे विप्राणां परिकीर्त्तिते। एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः। जिस प्रकार पद न्यास स्थान को अतिक्रम करके शीघ्र अन्यत्र पदन्यास क्रिया को धावन कहा जाता है, इस प्रकार कुछ कुछ परित्याग कर अति शीघ्रानुष्ठान ही धावन है, उस प्रकार आचरण करने पर भी प्रत्यवायी नहीं होगी। फल से भी वञ्चित नहीं होगा। ब्राह्मणादि में उक्त धर्म का अनुष्ठान किसी अंश में न करने पर भी भागवत धर्म श्रवणकीर्त्तन करने पर ही उन सबका फलप्राप्तहो जाता है।।

जैमिनि मुनि के अनुसार उक्त श्रुतिका अर्थ प्रदर्शन के पश्चात् निज मत में इच्छानुसार काम्य कर्म करण की अनुज्ञाका प्रदर्शन करते हैं–अनुष्ठेय कर्म इच्छानुसार कुछ करणीयहै कुछ नहीं है, यह वादरायण मानतेहैं; क्योंकि साम्यश्रुति के कारण है। " केन स्यात् येन स्यात् तेनेदृशः '' इत्यादि श्रुति में येन केन प्रकार से वृत्ति हो—वह ज्ञानी का साम्य सुनने में आता है, जैमिनि ऋषि के मत में सर्वाचरण पक्षमें समानोक्ति अनुवाद मात्र है, क्योंकि विहित कर्म के आचरण में सव का ही साम्य सम्भव होता है, किन्तु कुछ कुछ

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०

ज्ञान निष्ठोविरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥११।१८।२८
शौचमाचमनं स्नानं नतु चोदनया चरेत्
अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥११।१८।३६

परित्याग के स्वीकार में असम्भावना निवृत्त्यर्थ प्रयुक्त समानोक्ति उपपन्न होती है।

कर्म परामर्श का स्वनिष्ठ विषय होने का अविज्ञ पक्ष में वीरघात श्रुति उपपन्न होती है। अतएव विधिपक्ष परिहृत हुआहै। उक्त त्याग श्रुति को अशक्त विषयिणी नहीं कह सकते, क्योंकि वेद में नहीं है। और भी " न कर्मणा न प्रजया " इत्यादि श्रुति में जो कुछ कहा गया है, वे सव मुक्ति का असाधक होने के कारण त्याग कियागया है।

भक्त विधि निषेध अधिकार से मुक्त हो जाता है, एवं पूर्णकाम होता है, इस का विवरण देते हैं—अभक्त गण जिस प्रकार कुटुम्व पञ्चयज्ञ देवता प्रभृति के ऋणी होते हैं, भक्त उस प्रकार इस सव कर्त्तव्य के समीप ऋणी नहीं होते है, अभक्त इन सव के किङ्कर होतेहैं इस लिए उक्त करणीय अवश्य ही करना आवश्यक है, स्मृति कहती है, हीन जाति परिक्षीणमृणार्थं कारये दिति " किन्तु उस प्रकार ऋणी नहीं है, कौन इस प्रकार अधिकार में आता है ? उत्तर में कहते हैं—जो जन वासु देव ही सकल है—इस प्रकार वुद्धि से प्रेरित होकर सर्व भाव से श्रीमुकुन्द की शरण लेता है, साथ ही पूर्वोक्त कर्त्तव्य को भी परित्याग करता है।

" केनस्यात् " इत्यादि विधि ज्ञानिविषयक है, धारणवत् उसे धारण के समान ही जानना होगा॥ यथा त्रैवर्णिक को वेद धारण विधि देखने में आती है, तथा " केनस्यात् " इत्यादि श्रुति में उक्त यथेच्छ कर्म का आचरण परिनिष्ठित ज्ञानियों के लिए विहितहै। यह कथन अशक्त पक्ष में नही है, स्मृति में उक्त है—ज्ञानी व्यक्ति शौच आचमन—स्नान प्रभृति समस्त कर्म, विधि अनुगत होकर न करे, ईश्वर की भाँति लीला से अथवा इच्छा पूर्वक ही करे॥

एवं वहूदकादि धर्म के पश्चात् परम हंस धर्म को कहते हैं, वहिर्विषय में जो जन विरक्त होकर मुमुक्षु होकर ज्ञान निष्ठ है, अथवा मोक्ष के प्रति भी अपेक्षा रहित मद् भक्तहैं, वह सलिङ्गान्–त्रिदण्डादि सहित आश्रय एवं आश्रमोचित धर्म को भी परित्याग कर एवं उस विषयों में आसक्ति को भी परित्याग

स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१

बुधो वालकवत् क्रीडेत् कुशलो जड़वत् चरेत्
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्य्यां नैगमश्चरेत् ।।११।१८।२९
नोद्विजेत जनाद्धीरो जनांचोद्विजयेन्नतु
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्यते कञ्चन
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्य्यान्न केनचित् ।।११।१८।३१

भाव शब्दाच्च ।३।४।२२

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तोवानपेक्षक:
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ।।११।१८।२८

कर स्वाधिकारोचित (यथोचित) धर्म का आचरण करें, धर्म का अत्यन्त त्याग का विधान ही नहीं है, अग्रिम ग्रन्थ में धर्म का विधान यथावत् है, "अक्रियत्वस्य" इस श्लोक में आगे कहेंगे। पूर्व से इस में विशेष कथा हुई है ? विशेष कहते है, विधि किङ्कर होकर कर्म करना ही यहाँपर निषिद्ध है। इस का ही परिस्कार रूप में कहते हैं, शौच आचमन प्रभृति स्वाभाविक रूप में ही करे जैसे समस्त, मैं ईश्वर होकर अनायास लीला पूर्वक करता हूँ ।।

उक्त विषय में आक्षेप करके समाधान करते हैं—ज्ञानी के लिए उक्त विधि के अधीन न होना स्तुति मात्र है, यह विधि नहीं है, जिस प्रकार प्रीति पात्र को कहीं पर नियोग करते हैं, कहीं पर कहते हैं, यथेष्ट करो, किन्तु स्वेच्छाचारी-होकर आचरण का विधान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञानि के लिए भी कर्म विधि स्वीकृत है, इस प्रकार कथन समुचित नहीं है, क्योंकि ज्ञानि के लिए जो विधि शास्त्र है, उस से ज्ञानि का अपूर्व होता है। ब्रह्मनुभवि के लिए यथेष्ट कर्माचरण अपूर्व विधि के अन्तर्गत है, स्तुति मात्र नहीं है।

विवेकवान् होकर वालक के समान माना मान शून्य होकर कार्य करें, कुशल निपुण होकरभी जड़वत् आचरणकरें अर्थात् फलानु सन्धान रहित होकर कर्त्तव्य करें। विद्वान पण्डित होकर भी उन्मत्त वत् लोकरञ्जनेच्छा छोड़ कर कर्त्तव्य करें, वेद निष्ठ होकर भी अनियत आचरण कारी के समान आचरण करे ।।

आत्म दृष्टि से ही सर्वत्र व्यवहार करे, लोकों से उद्विग्न न होवे, लोकों को उद्वेग प्रदान न करें। परुष वाक्य निन्दादि सहन करे, किसी का अवमानन न करे। देह को उद्देश कर किसी से भी वैरभाव न रखें।

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम्
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥११।१८।३५

पारिप्लवार्था इतिचन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्
एतावान् सर्व वेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥११।४२।४३

मुण्डकोपनिषत् में कथित है " प्राणोह्येषसर्व भूतै विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी, आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेव ब्रह्म विदां वरिष्ठः इस में भाववाचक ' रति ' शब्द का प्रयोग है, भाव, रति प्रेम, एक पर्य्याय वाची शब्द है, भावार्थ यह है कि ब्रह्मरत परिनिष्ठित ज्ञानी का यावत् कर्मा नुष्ठान में अवसर नहीं रहनेके कारण केवल लोक संग्रह के लिए किञ्चित् कर्म का अनुष्ठान विहित है, अतएव ब्रह्म विद्या स्वतन्त्र हैं ।

वह ूदकादि के धर्म वर्णन के पश्चात् परमहंस धर्म कहते हैं, सार्द्धदश श्लोक के द्वारा, वहिर्विरक्त मुमुक्षु होकर जो जन ज्ञाननिष्ठ है, अथवा मोक्ष के प्रति भी अनादर है, ऐसा जो मद् भक्त है, वह सलिङ्ग त्रिदण्डादि सहित आश्रम धर्म को त्यागकर उस की प्रति आसक्ति को छोड़कर यथोचित धर्मा आचरण करे, आत्यन्तिक धर्म त्याग का विधान इस से नहीं हुआ है, अग्रिम वाक्य में धर्माचरण के लिए सुस्पष्ट विधान हैं, तव आश्रम धर्म के अनन्तर प्राप्त इस धर्म में विशेष ही क्या है, उस को कहते हैं-अविधि गोचरोचरेत् विधि का अधीन होकर न करे। अग्रिम वाक्य में इस विषय का परिष्कार हुआ है, शौचमाचमनं स्नानं नतु चोदनया चरेत्। तव क्या मिष्टान्नादि वर्ज्जन करना उचित है ? कहते हैं, किसने कहा है, कि परमहंस होने पर मिष्टान्न निषिद्ध है, किन्तु सव कुछ ही करे, किन्तु शास्त्रानु कूल ही करे। यदृच्छा क्रम से जो भी उपलब्ध है, वैसा ही अन्न, वास, शय्या प्रभृति ग्रहण करें॥ स्वाभाविक रूप से विधि निर्देश द्वारा नहीं ॥

अनन्तर प्रकरणान्तर द्वारा संशय उठाकर समाधान करतेहैं—"अथह याज्ञवल्कचस्य द्वे भार्य्ये बभूवतु मैत्रेयी च कात्यायनी च" भृगुर्वै वारुणि र्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति " प्रतर्दनो हवै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं

तथाचैकवाक्यतोपबन्धात् ।३।४।२४

एतावान् सर्व वेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥११।२१।४३

धामोपजगाम" "जानश्रुति र्ह पौत्रायणः श्रद्धादेवो बहुदायी बहुपाक्य आस" ये सब उपाख्यानस्य श्रुति द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया गया है। वे सब श्रुति परिप्लवार्थ है, अर्थात् अस्थिरार्थ हैं किम्वा ब्रह्मविद्या प्रतिपादिका हैं, सकल उपाख्यान ही अस्थिर अर्थयुक्त अर्थात् संशय को प्रकाश करते हैं, अत पारिप्लवार्थ है। कथन में शब्दमात्र का प्राधान्य होने के हेतु तथा अर्थ ज्ञान में शब्द मात्र का प्राधान्य होने के हेतु आख्यान युक्त ब्रह्मविद्या मन्त्रार्थ वाद की तरह अप्रयोजिका मात्र है। अतएव ब्रह्म विद्या के कर्म शेषत्व का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है, सुतरां उस का प्राधान्य विदूरित हो जाता है, कारण कर्म की सिद्धि नहीं होती है, इस प्रकार पूर्वपक्ष असंगत है। कारण यह है कि वेद में पारिप्लवार्थ का निर्देश कर इस से प्रकरण का प्रारम्भ कर प्रथम दिवस में वैवस्वत मनु राजा, द्वितीय दिवस में इन्द्र वैवस्वत राजा तृतीय दिवस में वैवस्वत राजा, इत्यादि विशेष विशेष आख्यान कहे गये थे। यहाँ सामान्य रूप से समस्त आख्यान का ग्रहण करने पर दिनविशेष में आख्यान विशेष की विधि अनर्थक हो जाती है। अतएव सर्वशब्द एक प्रकरण पठित उपाख्यान पर जानना चाहिए सुतरां सकल वेदान्त आख्यान अस्थिरार्थ नहीं हैं।

वेद अर्थ से भी दुर्ज्ञेयत्व है, कर्मकाण्ड में विधि वाक्य द्वारा किस का विधान करते हैं, देवता काण्ड में मन्त्र वाक्य द्वारा किस का आचरण करते हैं, ज्ञान काण्ड में किस का अनुवाद कर विकल्प करते हैं, इस प्रकार इस के हृदय को मुझ को छोडकर कोई भी नहीं जानते हैं, तव कृपया तुम ही इस विषय को कहो, कहते हैं, मुझ यज्ञरूप का विधान करते हैं, देवता रूपमें मुझ को वर्णन करते हैं, मुझ से पृथक् नहीं, आकाशादि रूप को भी मुझ से पृथक् रूप से वर्णन नहीं करते हैं। क्यों इस प्रकार वर्णन करते हैं, ? उत्तर में सर्व वेदार्थ संक्षेप में कहते हैं—

इस प्रकार समस्त वेदार्थ है। वेद परमार्थ रूपमें मुझ को प्रतिपादन करने के लिए नाना वस्तु का निषेध करतेहैं। जैसे अङ्कुर में जो रस विद्य मान वह ही समस्त शाखाओं में हैं, उसी प्रकार प्रणव के अर्थ जो परमेश्वर है, उनका ही विस्तार स्वरूप समस्त वेद काण्ड शाखाहै, अन्य कुछभी नहीं हैं॥

वेदान्तोपाख्यानसमूह पारिप्लवार्थ न होने से ही विधि वाक्य समूह

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५

नालं द्विजत्वं देवत्व मृषित्वं वासुरात्मजा
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न वहुज्ञताः ।।७।७।५१
न दानं न तपो नेज्या न शौचा न व्रतानि च
प्रीयते ऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विड़म्बनम् ।७।७।५२

सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतिरश्ववत् ।३।४।२६

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतत्
वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।।
आख्याहि विशेश्वर विश्वमूर्त्ते
त्वद्भक्तियोगञ्च महद्भिमृग्यम् ।।११।१६।८

एक वाक्य होकर अर्थ वोध के योग्य हो जाते हैं। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इत्यादि वाक्य सन्निहित वाक्य के साथ एक वाक्यतापन्नहै। सोऽरोदीत् यह वाक्य भी सन्निहित कर्म विधि की स्तुति रूप है ।। अस्थिरता नहीं हैं। भावार्थ इस प्रकार है—विद्यास्वतन्त्रा है, और पुरुषार्थ प्रदान में भी स्वाधीन है, सुमहान् व्यक्तिगण अत्यधिक प्रयास द्वारा भी इस में प्रवृत्त होते हैं। प्ररोचन उपाख्यान भी प्रज्ञावर्द्धनार्थ है, अतएव गुरुसेवारत पुरुष ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रुति का अनुग्रह है। अतएव विद्या स्वतन्त्राहै।

अतएव विद्या का स्वातन्त्र्य प्रति पादन होने के कारण फल प्रदान में भी विद्या के लिए यज्ञादि कर्म की अपेक्षा नहीं हैं, इस प्रकार ज्ञान कर्म का समुच्चय भी निरस्त हुआ है।

द्विजत्व देवत्व ऋषित्व सौभाग्य वहुज्ञता प्रभृति श्रीहरि की प्रसन्नता के लिए सहायक नहीं हैं, दान, तप, यज्ञादि कर्म, शुद्धि व्रतादि भी श्रीहरि प्रसन्नता के लिए योग्य नहीं है, किन्तु श्रीहरि एकमात्र निष्काम भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, और सव नटन मात्र ही है।

विधि के सामर्थ्यादि कथन के पश्चात् उस के अधिकारी का लक्षण प्रारम्भ करते हैं। वृहदारण्यक में तमेतं वेदानु वचनेन" तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरत स्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" वृहदारण्यकोपनिषत् में इस प्रकार उक्ति है। इस में यज्ञादि शमादिक विद्याङ्ग रूप प्रतीति होती है, दोनों की आवश्यकता है अथवा नहीं ? इस संशय में " आचार्य

शमदमाद्युपेतस्तु स्यात् तथापि तु
तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।३।४।२७

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्त्तिनि
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणेमुनयोऽल्पभाषिणि
।.१।५।२४

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग् देहचेतसाम्
नह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्नभवेद् यतिः ।।११।१८।१७

वान् पुरुषोवेद " इस वचनसे गुरूपसत्ति द्वारा हीं विद्या की उत्पत्ति होतीहै, अतएव उभय का प्रयोजन नहीं है ।।

इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—स्वफल दान में विद्या स्वतन्त्र होने के कारण, निज उत्पत्ति में भी अपर की अपेक्षा नहीं रखती है । जिस प्रकार गमन में अश्व की अपेक्षा है, किन्तु गति निष्पत्ति होनेपर किम्वा ग्राम प्राप्ति होने पर उसकी अपेक्षा नहीं होतीहै, वैसे ही विद्या में फल प्राप्तिके पश्चात् यज्ञादि की अपेक्षा नहीं रहती है ।।

हे विश्वश्वेर आप निश्चित विशुद्ध ज्ञानरूप वैराग्य विज्ञानयुत्त पुराण भक्ति योग की वर्णनाकरें, जिसे महद् गण (ब्रह्मादि महद् गण) अन्वेषण ही करते रहते हैं ।।

यदि यज्ञादि द्वारा ही विद्या प्राप्ति होती है, तो शम दम आदि साधनों की आवश्यकता ही नहीं होगी ? इस के उत्तर में कहते हैं—सूत्रस्य " तु " द्वय निश्चय तथा शङ्काच्छेद के लिए है, यद्यपि यज्ञादि द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण व्यक्ति का विद्या सम्भव है, तथापि विद्यार्थी शम दमादि की अवश्य अपेक्षा करें, क्योंकि शम दमादि विद्या के अंग हैं । विद्यार्थी शम दमादि सम्पन्न होकर विद्या अध्ययन करें, इस विधान से विहितका अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य रूप में आता है, वाक्य में स्थित होने के कारण दोनों का ही अनुष्ठान अवश्य प्राप्त है, यज्ञादि वहिरङ्ग है, और शम दमादि अन्तरङ्ग साधन है, आदि पद से पूर्वोक्त सत्यादि का ग्रहण होताहै, इस से अधिकारी का लक्षण सुब्यक्त हुआ है ।

श्रीनारद जी कहते हैं कि—विद्या लाभ के समय मेरी समस्त चपलता दूर हो गई थी, मैं दान्त—नियतेन्द्रिय था, क्रीड़नक में मेरीआसक्ति नहीं थी, मैंने क्रीड़ा साधन को छोड़दिया था । शुश्रूषारत भी था, और सर्वथा मुनियों

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३।४।२८

त्वयोपभुक्त स्रग्गन्ध वासोऽलङ्कारचर्च्चिताः
उच्छिष्ट भोजिनो दासास्तवमायां जयेमहि ।।११।६।४६
यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम्
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ।।११।१८।३५

अबाधाच्च ।३।४।२९

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्ज्जयंश्चरेत्

के अनुकूल आचरण परायणथा, और इससमय उनकी कृपासे विद्यालाभ हुआ, मौन वाणी का संयम; अनीहा देह का काम्य कर्मत्याग। चित्त के लिए प्राणायाम, यह आन्तर साधन है, हे अङ्ग ! उद्धव ! इस का यह सवमें वाणी देहचित्ताका संयम नहींहै, वह केवल दण्ड ग्रहणसे यति नहीं हो सकता है।

अनन्तर विद्वानों का निषिद्धाचार का निवारण करते हैं। श्रुति में उक्त है, "यदि ह वा अप्येवंविन्निखिलं भक्षयीतैवमेव सभवतीति" विद्वान् व्यक्ति निखिल वस्तु का भक्षण करें इस प्रकार संवाद है, संशय यह है कि उक्त वाक्यसे उनके सर्वान्न भोजनमें विधि कही गईहै, किम्वा यह अभ्यनुज्ञा मात्र है? प्रमाणान्तर द्वारा सर्वान्नभोजन की अप्राप्ति के कारण इसे अपुर्व विधि कही जा सकती है, इस पूर्वपक्ष का उत्तर प्रदान करते हैं। सूत्रस्थ "च" शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है, वह विधि नहीं है, अनुज्ञा मात्र है, क्योंकि अन्न के अभाव में प्राणत्याग की सम्भावना के स्थानपर सर्वान्न भोजन दृष्ट होता है, छान्दोग्य में इस विषय की एक आख्यायिका है। एकदा चाक्रायण नामक ऋषिने प्राण की रक्षा के लिए चाण्डाल के उच्छिष्ट कुल्माष का भोजन किया था, किन्तु उसका प्रदत्त जलपान नहीं किया, कारण जल सर्वत्र मिलता ही है। अपर दिवस भी निज उच्छिष्ट भुक्तावशेष का पुनर्वार भोजन किया था। अन्यत्र भी इस की व्याख्या इसी रीतिसे होगी

उद्धव जीने श्रीप्रभु से कहा—हम सव दास हैं, तुम्हारे उपभुक्त स्रक् गन्ध–वस्त्र--अलङ्कार से अलङ्कृत होकर ही तुम्हारी माया को पराजित करेंगें, हम सव दास हैं, प्रभु के उच्छिष्ट से हो अपना निर्वाह करना दास का एकान्त धर्म है।

यदृच्छा से ईश्वरेच्छा से प्राप्त वस्तु को ही ग्रहण करें, श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ अन्न जव जैसा मिले ग्रहण करे, इस प्रकार से ही वस्त्र शय्या को भी ग्रहण करे।

सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता
वहि र्जलाशयं गत्वा तत्रोदस्पृश्य वाग्यतः
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥११।१८।१८-१९

अपिस्मर्य्यते ।३।४।३०

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम्
तत्त्वं विमृश्यते तेनतद्विज्ञाय विमुच्यते ॥११।१८।३४

शब्दश्चातो कामचारे ।३।४।३१

क्वचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा
क्वचिद् भूरि गुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित्
श्रद्धयोपहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्ज्जितम्
भुङ्क्ते भूक्त्वाथ कस्मिंश्चिद्दिवानक्तं यदृच्छया ॥७।१३।३८

आपत् काल में सर्वान्न भक्षण में अनुमति है, ज्ञानी का चित्त स्वभावत निर्मल होने के कारण उक्त कर्म में वाधा नहीं है, भिक्षा ब्राह्मण गृह में ही करे असम्भव होनेपर उत्तरोत्तार चारों वर्णो में ही भिक्षा करें, किन्तु अभिशप्त तथा पतित को छोड़कर ही भिक्षा करें। यहाँपर विशेष लाभ होगा अथवा युक्ति वैराग्य द्वारा कौशल पूर्वक जनानुराग वृद्धि पूर्वक उसके गृह में भिक्षा न करें। ग्राम के वाहर जलाशय के समीप में जाकर जल प्रोक्षण से भोज्य को शोधन पूर्वक विष्णु ब्रह्म अर्क एवं भूतो को भोज्य द्रव्य प्रदान कर स्वयं भोजन करें।

स्मृति में भी इस प्रकार अनुमति है, पद्म पत्र में जल जिस प्रकार लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार विपत् काल में सव के लिए सवका अन्न भोजन की अनुमति है, किन्तु सर्वदा नहीं, अतएव उस विषय में अनुमति मात्र ही है, किन्तु विधि नहीं है, क्योंकि प्रतिषेध शास्त्र भी विद्यमान है।

प्राण धारण करना एकान्त आवश्यकहै, प्राणधारणसे ही तत्त्व विचार एवं ग्रहण सम्भव है, एवं तत्त्व को ज्ञात होनेपर ही मुक्ति होगी।

आपत् काल में सर्वान्नभक्षण की अनुमति है, आपत् काल के विना निषेध है, छान्दोग्य में उक्त है—आहार शुद्धि से सत्त्व शुद्धि, सत्त्वशुद्धि से ध्रुवानुस्मृति तथा उस से समस्त बन्धनसे मोक्ष होताहै,, अतएव आपद् काल में सर्वान्न भोजन हेतु तद् व्यतिरिक्त काल में यथा शास्त्र आचरण ही करे।

सन्तोष के साथ ही आचरण करे, भूरि स्वल्प स्वादु अस्वादु अतीव

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।३।४।३२

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञमजितेन्द्रियः
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे
नैष्कर्म्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ।।११।३।४४-४५

सहकारित्वेन च ।३।४।३३

वर्णाश्रमवता धर्म एष आचार लक्षणः
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः
इतिस्वधर्मनिर्णिक्तसत्वो निर्ज्ञातमद्गतिः
ज्ञानविज्ञान सम्पन्नो नचिरात् समुपैति माम् ।।११।१८।४६–४७

गुण युक्त, गुण हीन, श्रद्धा से प्रदत्त श्रद्धा हीनसे प्रदत्त दिवस में अथवा रात्रि में यदृच्छा क्रमसे जब जैसा प्राप्त होवे भोज्य पदार्थ का ग्रहण करें।

पूर्व सन्दर्भ में स्वनिष्ठादि भेद से तीन प्रकार विद्वानों का प्रदर्शन हुआ है, अधुना उन सव के मध्य में लब्ध विद्यका वर्णाश्रमाचार किस प्रकार होगा उस की व्यवस्था के लिए प्रकरण का प्रारम्भ करते है। प्रथम स्वनिष्ठ को परीक्षा की जाती है, " पश्यन्नपीममात्मानं कुर्य्यात् कर्माविचारयन् यदात्मनः सुनियत मानन्दोत्कर्षमाप्नुयात् कौषारव श्रुति में उक्त है कि आत्मज्ञानप्राप्त करने पर भी अविचारसे कर्म करें, उससे आनन्दकी वृद्धि होगी "। यहाँपर संशय है, कि—लब्ध विद्य स्वनिष्ठ अधिकारी का कर्म कर्त्तव्य है किम्वा नहीं नहीं ? फल की प्राप्ति होने पर साधन में निवृत्ति हो जाना लोक प्रसिद्ध है। अतएव कर्म कर्त्तव्य नहीं है। इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं, सूत्रस्थ अपि शब्द कर्म समुच्चय के लिए है, अतएव स्वाधिकारोचित वर्णाश्रम कर्म समूह का आचरण करना कर्त्तव्य है। उस से विद्या की वृद्धि होती है, विद्या वृद्धि के लिए ही कर्माचरण विहित है।

स्वयं जीवअज्ञ है, और यदि वह वेद के कथनानुसार आचरण न करें तो कर्माकर्मका निर्णय ही नहीं होगी। फलतः कर्म करने परभी संसार अवश्य होगा। वेदोक्त कर्म ही करे आसक्ति को छोड़ दें और ईश्वरे के प्रति कर्म अर्पण करे, फल के प्रति लोलुपता वर्जन कर कर्माचरण करे, फल श्रुति कर्माचरण में प्रवृत्ति के लिए वर्णित है।

सर्वथापि तत्र वोभय लिङ्गात् ।३।४।३४

तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च

विद्या उत्पन्न होने के पश्चात् पुनर्वारं कर्माचरण का विधान होने से ज्ञान कर्म का समुच्चय ही अभिमत है ? उत्तर में कहते हैं, ज्ञान कर्म का समुच्चय की प्राप्ति नहीं है। उक्त समस्त कर्म विद्या के सहकारि रूप में अनुष्ठेय है। मुक्ति साधन रूपमें काम्य कर्म अनुष्ठेय नहींहै, तमेव विदित्वा' इस श्रुति में ज्ञान का प्राधान्य स्वतन्त्र रूप में उक्तहै। कथित है कि स्वनिष्ठ व्यक्ति प्रथम परमात्मा को उद्देश्य करके स्वकर्म का अनुष्ठान करता है। परमात्मा के उद्देश्य से आचरित कर्म के मध्य में कमलनालस्थित तन्तु के समान विद्या की उत्पत्ति होती है, अनन्तर उक्त विद्या की अभिवृद्धि के लिए पुनर्वार कर्म समूह अनुष्ठित होते हैं, विद्या के साथ विरोध न होने से इन सव उत्तर वर्त्ती कर्म का विनाश नहीं होता है; किन्तु स्वर्गादि फल प्राप्त कराने के लिए ही विद्या कर्मों की रक्षा करती है, "पुरुष के तादृश कर्मों का क्षय नहीं होता है, यह कथन वृहदारण्यका है, स्वर्गादि फलोत्पादक कर्म होने पर भी वे सव काम्य कर्म नहीं है। क्योंकि स्वनिष्ठ व्यक्ति कामना से कर्मानुष्ठान नहीं करता है, वह ब्रह्म प्राप्ति के समय ही स्वर्गादि का भी अनुभव करता है, जैसे ग्राम गमन के समय तृण का भी स्पर्श होता है। वैसे स्वर्गादि सुख का भी अनुभव होता है। स्वर्गादि गत आनन्द का अनुभव कराकर विद्या ब्रह्म पद प्राप्त कराती है। " तं विद्या इस श्रुति का अभिप्राय भी वैसा ही है।

कारण स्वनिष्ठ का संकल्प ही वैसा होता है, और निरपेक्ष की परीक्षा के लिए कभी कभी स्वर्ग का आस्वादन भी विद्या कराती है, ज्ञानी समस्त देवता है" श्रुति का कथन भी इस प्रकार है। इस से तदधिगम न्याय का भी विरोध नहीं होता है, कारण वह न्याय स्वनिष्ठ पर है, विद्या परिनिष्ठ के प्रारब्धांश को छोड़कर स्वर्गादि फल प्रद पुण्यांश अर्थात् प्रारब्धांश कर्म का नाश कर देती है। अतएव विद्या स्वतन्त्र रूपसे फल हेतु है, और कर्म उस का सहकारी मात्र ही है।

उक्त क्रमसे स्व धर्म निष्ठ व्यक्ति सत्त्व शुद्धि को प्राप्त कर मुझ को सार रूप से जानना है; एवं ज्ञान विज्ञान सम्पन्न होकर सत्त्वर मुझ को प्राप्त करता है। वर्णाश्रम धर्माचरणकारी के ये सव आचार लक्षण है, वे सव जव मद् भक्ति (पितृलोक प्राप्ति लक्षण है। युक्त होकर अर्थात् मुझ में स्व कर्म फल अर्पण कर कर्माचरण करने पर मुक्ति भागी होते हैं।

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्
याहि सर्वात्मभावेन मया स्याऽह्यकुतोभयः ॥११।१२।१४-१५

अनभिभवं च दर्शयति ।३।४।३५

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकम्
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥१।८।३६

अनन्तर परिनिष्ठित की परीक्षा करतेहैं," आत्मक्रीड़ आत्मर तिःक्रिया वान् " इत्यादि श्रुति वाक्य सुस्पष्ट हैं, यहाँपर परिनिष्ठित के लोक संग्रह के लिए वर्णाश्रम कर्म तथा प्रीत्यर्थ कर्त्तव्य रूपसे प्राप्त श्रवणादि भगवद्धर्म प्राप्त हो रहे हैं, युगपद् उभय की प्राप्ति से संशय होता कि वे दोनों कर्म क्रमसे अनुष्ठेय है, अथवा प्रथम का परित्याग कर उत्तर का अनुष्ठान होगा ? युगपत् अनुष्ठान असम्भव होने के कारण तथा विहितों के त्याग से दोषापत्ति निवन्धन अनुष्ठान का निर्णय सुस्थिर नहीं होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं—

सूत्रस्थ अपि अवधारणमें है, स्वधर्मानुरोध को परित्याग पूर्वक सर्वदा भगवद्धर्म का अनुष्ठान करना परिनिष्ठित का कर्त्तव्य है, स्वधर्म पालन गौण रूप से अर्थात् भगवद्धर्म के अविरोध से कर्त्तव्य है। श्रुति स्मृति उभय का भी यह उपदेश है। " तमेवैकं जानथ इत्यादि श्रुति लिंग है, श्रीगीता में भी उक्त है, हे पार्थ ! जिन्होंने दैवी प्रकृतिका आश्रय कर जन्म लिए हैं, वे समस्त महात्मा मुझे समस्त भूतों का आदि और अव्यय जानकर अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं, वे सर्वदा मेरा कीर्त्तन करते हैं। तथा दृढ़व्रत होकर मेरा भजन करते हैं, भक्ति पूर्वक नमस्कार करने हैं, और नित्य युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं।

जब मेरा भजन का प्रभाव ही है, तव तुम श्रुति एवं स्मृति के अधिकार को छोड़कर मेरी शरण ग्रहण करो, अथवा विधि निषेध को परित्याग कर मेरी शरण ग्रहणकरो। मेरे से ही तुम अकुतोभय हो जाओगे। प्रथम मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु " इसके द्वाराकर्म कर्त्तव्यहै; यह कहे थे। इदानीं सव कुछ छोड़ कर मेरी शरण ग्रहण करो। यह कहते हैं।

अन्य समर्थक सिद्धान्त कहते हैं। " सर्वं पाप्मानं तरति, " नैनंपाप्मा तरति, सर्वं पाप् मानं तपति, नैनं पाप्मातपति " इस प्रकार वृहदारण्यक

अन्तराचापि तु तद्दृष्टेः ।३।४।३६

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥११।१२।१-२

श्रुति द्वारा परिनिष्ठित व्यक्ति के श्रीभगवत् कथा श्रवणादि के प्रमाण से स्वाश्रमकर्म के अनाचरणसे कोई त्रुटिनहींहोतीहै, इसप्रकारस्थिति परिनिष्ठित की है, अतएव स्वाश्रम विहित धर्म का परित्याग करके भी श्रीभगवद्धर्म्म का अनुष्ठान कर्त्तव्य हैं। श्रीविष्णु पुराण में वर्णाश्रमाचारवता " इत्यादि वाक्य द्वारा ऐसी प्रतीति होती है कि वर्णाश्रमाचार विशिष्ट परिनिष्ठित अधिकारी के लिए भगवत् सन्तोषार्थं श्रीभगवद् आराधना और उस के उपयोगी कर्म करना एक मात्र उपायहैं, भगवद् आराधना काम्यकर्म से भिन्न है, श्रीविष्णु पुराण के इस प्रकरण में प्रथम इस प्रकार प्रसङ्ग है, भरत राजा केवल यज्ञे शाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव प्रभृति श्रीभगवत नाम ही ग्रहण करते थे, स्वप्न में भी अपर वार्त्ता नहीं करते थे। एवं श्रीभगवद् आराधना के उपयोगी समित पुष्प कुश प्रभृति का संग्रह करते थे, आप निःसङ्ग थे एवं काम्य कर्म का अनुष्ठान भी नहीं करते थे, इस से श्रीभरत राजा की श्रीभगवत् आराधना में निष्ठा परिव्यक्त हुई है।

परमानन्द स्वरूप से भिन्न अज्ञान रूपी अविद्या है इस से देहाभिमान होने के कारण उस के लिए काम्य कर्माचरण होता है, और क्लेश से क्लिष्ठ भी होते हैं, इस से मुक्त होने के लिए विज्ञजन श्रीभगवन्नाम गुण लीलाप्रभृति का श्रवण मनन कीर्त्तन करते रहते हैं, इस प्रकार अनुष्ठान का फल कहते हैं, तुम्हारे चरित्र का श्रवण करते है मनन करते हैं, गान करते हैं, अपर जन गान करने पर श्रवण एवं समर्थन करते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः अनवरत करते रहतेहैं, इस प्रकार व्यक्ति भवप्रवाहोपशमक तुम्हारे पदाम्बुज के दर्शन अचिर समय में ही करते हैं।

इस प्रकार आश्रम में विद्याएवं विद्या प्राप्ति के अनन्तर उस का अनुष्ठान भी सुविशद् वर्णित हुआ सम्प्रति निराश्रम निरपेक्ष उनदोविषयों का विचार प्रदर्शित हो रहा है, वेद में निराश्रम गार्गी ने ब्रह्मविद्या प्राप्ति के पश्चात् याज्ञवल्कच जी जो प्रश्न किए थे उस विषय में संशय होता है कि निराश्रम में विद्या सम्भव है अथवा नहीं ? विद्योत्पत्तिके हेतु आश्रम धर्म है, और उस धर्म का एकान्त अभाव निराश्रय में दृष्ट होता है, इस

अपि स्मर्य्यते ।३।४।३७

पिवन्ति ये भगवत आत्मन सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।२।२।३७
कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित्
पिवन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहं भृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ।।१०।८३।३
रहूगणैतत् तपसा न याति, विनामहत्पादरजोभिषेकम् ।५।१२।१२

पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—अन्तरा चापितुतद्दृष्टेः" सूत्रस्थ 'तु' शब्द कर्माग्रह निरासार्थ है, चकार निश्चयार्थक है। अन्तरा–आश्रम धर्म न होने पर भी स्वभावतः विरक्त जनोंका पूर्वजन्म अनुष्ठितधर्म तथा सत्य तप जपादि के द्वारा परिशुद्धता निबन्धन विद्या का उदय होता है। गार्गी का ब्रह्म भी इस रीति से ही हुआ था, इस का अभिप्राय यह है कि जन्मान्तरीय धर्मों की फलोत्पत्ति के पूर्व देह पतन होने के कारण फल सम्वन्ध नहीं होता है। पर जन्म में इन धर्मों के द्वारा विशुद्ध चित्तों के सत् सङ्ग मात्र से ही विराग के साथ विद्या का आविर्भाव होता है।

सत् सङ्ग रूपा भक्ति मुझको जिस प्रकार अवरुद्ध करती है, वैसा योग तत्त्वविवेक अहिंसादि धर्म, वेद पाठ, तपस्या, सन्नयास, इष्टापूर्त्त इष्ट अग्नि होत्रादि पूर्त्त कूपादि निर्म्माण ।।

दान, एकादश्यादि उपवास देवपूजा, रहस्य मन्त्र प्रभृति मुझ को वशी भूत करने में असमर्थ है। सत् सङ्ग समस्त सङ्गापहारक हैं, एवं मुझ को वशीभूत करने में समर्थ भी हैं ।।

बलवान सत्सङ्ग से कषायपाक होने पर ही विद्या का आविर्भाव होता है ।।

सूत्रस्थ आप शब्द समुच्चयार्थक है। जो जन आत्मा रूप अति प्रिय श्रीहरि की चरित कथामृत को गाढ़ कर्ण से पान करता है, वह मलीन वासना से मुक्त हो जाता है, एवं श्रीविष्णु पदको प्राप्त करताहै, महत के मुख निःसृत श्रीहरि के कथा मृत को जो व्यक्ति पान करता है, वह देह निर्माता श्रीप्रभु के

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८

सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत् कामाय ते ऽनघ !
मत् कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्
सत् सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढ़ा मतिः
हित्वा वद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि
मति र्मयि निवद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्
प्रजासर्ग निरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥१।६।२३-२४-२४

अतस्त्वितरत् ज्यायो लिङ्गाच्च ।३।४।३६

नाहमात्मनमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना
श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा ॥८।४।६३
मत् सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम्
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥८।४।६७

प्रति विमुखता से मुक्त हो जाता है। हे रहूगण विद्या प्राप्ति महत् सेवा के विना नहीं होताहै, तप, वैदिक कर्म सत् कर्म, वेदाभ्यास, एवं उपासना प्रभृति से भी विद्या नहीं होती है, केवल महत् पादरजोभिषेक से ही विद्या होती है,

निरपेक्ष सज्जन के सङ्ग से श्रीहरि के विशेष अनुग्रह होता है, और विद्या लाभ भी सुलभ होता है, गीता में उक्त है--जो जन मच्चित्त एवं मद् गत प्राणहोकर साधुसंग द्वारामेरी कथा का कीर्त्तनकर प्रसन्नहोतेहैं, सतत मत् परायण भजन कारी उन को मैं अपना विद्या योग प्रदान करता हूँ। जिस से वे मुझ को प्राप्त होते है, इस प्रकार श्रीभगवान् के श्रीमुखनिःसृत वाणी से निरपेक्ष अधिकारी को साधुसङ्ग से भगवत् कृपा तथा विद्यालाभ सुलभ होता है, साधुसङ्ग निवन्धन नैरपेक्ष्यत्व भी सुव्यक्त है ॥

मुझ को सकृत् क्यों दर्शन दिया ? उत्तर में कहते हैं—सकृत् दर्शन प्रदान इस लिए हुआ कि मेरे प्रति तुम्हारे अनुराग वढ़ेगा, मेरी कामनासे ही हृदयस्थ व्यक्तिगत कामना विदूरित होती है। स्वल्प काम सत् सेवा से मेरे प्रति दृढ़ामति हुई है, इस अवद्य लोक को परित्याग कर तुम मेरा किङ्कर हो जाओगे, प्रलय में भी इस मति का विलोप नहीं होगा, और मेरे अनुग्रह से निरन्तर मेरी स्मृति रहेगी ॥

आश्रमी याज्ञवल्कय प्रभृति है, और निराश्रमी गार्ग्यादि है, ये दोनों

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपा भावेभ्यः ।३।४।४०

नैरपेक्षं परं प्राहुर्निःश्रयसमनल्पकम्
तस्मान्निराशिषो भक्ति निरपेक्षस्य मे भवेत्
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्
एवमेतान् मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ११।२०।३५-३६-३७

ही विद्यावान् है इन के मध्य में साश्रम श्रेष्ठहै अथवा निराश्रम ? इसप्रकार संशय उत्पन्न होनेपर कहा जाताहैं कि वैदिकाश्रम धर्म सम्पन्न होने के कारण एवं ब्रह्मरत होने पर भी साश्रमी गण ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च शङ्का निरासार्थ सूत्रस्थ तुशब्द है; च शब्द-अवधारणार्थ है, अतएव साश्रमी से अन्य निराश्रमी ही श्रेष्ठ है कारण विद्या साधन के उपयोगी है. क्योंकि लिङ्गात याज्ञवल्कय से गार्गी के विद्याधिक्य के दर्शन के कारण साश्रम से निराश्रम का आधिक्य अवश्य ही स्वीकार करणा होगा। इस का अभिप्राय यह है कि अनादि प्रवृत्तिशोल जीवों की प्रवृत्ति संकोच के लिए शास्त्रद्वारा आश्रम धर्मका विधान होता है। अतएव शास्त्रका तात्पर्य आश्रम प्रवर्त्तन में नहीं है, किन्तुप्रवृत्ति सङ्कोच के लिए है। समस्त प्रवृत्ति ब्रह्मरति प्रतिबन्धिका होतीहै, जो व्यक्ति उपक्षीण वृत्ति के है, अर्थात् जिसकी प्रवृत्ति क्षीण हो गई है, तथा जो ब्रह्म क रत है, उनका आश्रम धर्म से कोई लाभ नहीं है। अतएव निराश्रम ही श्रेष्ठ है, अतएव जाबालोपनिषत् में क्रम पूर्वक आश्रम का विचार कर विरक्त के लिए उस का निषेध किया है, एवं साम्बर्त्तक प्रभृति के लिए--ब्रह्मकरत केलिए सन्नयास त्याग का ही विधान किया है., अनाश्रमी तु न तिष्ठेतु दिन मेकमपिद्विजः अर्थात् अनाश्रमी होकर एकदिन भी विप्र न रहे वहसव विधान साधारण मनुष्य के लिए है।

श्रीहरि कहते हैं, कि मैं अपने को नहीं चाहता हूँ। किन्तु मेरे भक्त साधुको ही चाहता हूँ ।। आत्यन्तिक श्री को भी नहीं चाहता हूँ। इस सव से साधुभक्त ही श्रेष्ठ हैं, ये सव मेरी सेवा से ही पूर्ण होते हैं, सालोक्यादिकुछ भी नहीं चाहते हैं, अपर स्वर्गादि की तो वात ही क्या है वे सव तो काल कवल में जाते हैं।।

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्तियत्
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ।।७।१५।३५

पुनर्वार अशङ्का करते हैं कि—ब्रह्मरत निरपेक्ष व्यक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित हुई है, किन्तु उनकी श्रेष्ठता सम्भव नहींहै, क्योंकि विधि पूर्वक गृहादि परित्याग कारी व्यक्तिके लिए गृहादि आश्रमका पुनर्वार ग्रहण करना निन्दनीय है, श्रेष्ठ वैदिक धर्मका विधिवत् परित्याग करने के अनन्तर महत्व होने पर यदि पुनर्वार उसको ग्रहण करे तो निरपेक्ष आश्रममें विक्षेप उत्पन्न होगा अतएव एक निष्ठ होना असम्भवहै, और निरपेक्ष आश्रम की श्रेष्ठता भी नहीं रहेगी। स्वनिष्ठ प्रभृति व्यक्ति स्वाश्रमोचित कर्माचरण द्वारा शुद्ध चित्त होकर श्रीहरि स्मरण कर सकते हैं, अतएव आश्रम धर्म ही श्रेष्ठ है, इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर उत्तर में कहते है--तद् "भूतस्यत्तु" सूत्रस्थ 'तु' शब्द शङ्काच्छेद के लिए है वास्तविक ब्रह्मनिष्ट व्यक्ति के लिए अन्यत्र तृष्णा की सम्भावना ही नहीं हैं, अतएव ब्रह्मनिष्ठा की प्रच्युतिभी नहीं होगी„ इस विषय में जैमिनि तथा वादरायण के कथन हैं, भी उक्त प्रकार ही है। नियम„ अतद्रूपता, और अभाव के कारण ही उक्त श्रुति का स्वारस्य होगा। जो किसी आश्रम को स्वीकार ही नहीं किया है, और जो आश्रम को ग्रहण करने वाद भी गृहको विधिवत् परित्याग किया वे ही पतित होंगे। नियम, अतद्द्रूपता और अभाव यो तीनों ही प्रच्युति का वाधक है। निरपेक्ष अधिकारी के सकलइन्द्रिय परतत्त्वमें ही रतहैं, उनकी तद्रूपता अर्थात् ब्रह्मभिन्नअन्यविषय में बासना शून्यता है; गार्गी प्रभृति निराश्रम अधिकारीका पुनर्वार आश्रमका अभाव है। स्मृति में कथित है—कामादि के द्वारा अनाविद्ध प्रशान्त-समस्त वृत्तिशाली, ब्रह्मसुख स्पर्श कारी चित्त कभी विक्षिप्त नहीं होता है। यद्यपि जैमिनी कर्मपर है, तो भी नैरपेक्ष श्रुति से भीत होकर पूर्वजन्मानुष्ठित कर्म द्वारा निष्कलमष व्यक्ति के जन्मावधि नैरपेक्ष्य को स्वीकार करते हैं।

नैरपेक्ष्य ही परम उत्कृष्ट महत् निःश्रेयस फल साधन है, विद्वान् वृन्द के यह मत है, मेरी भक्ति निराशिष है, और निरपेक्ष भी प्रार्थना कारण की अपेक्षा नहीं रखते है। मेरे विषयक भक्ति ही निराशिष होती है। इसप्रकार व्यक्ति के लिए पुण्य पाप प्रभृति नहीं होते है, वे सव गुण दोषों से मुक्त होते हैं। निरस्त रागयुक्त जन ही साधु पदवाच्य होते है, अतएव वे समचित्त होते हैं। एवं परतत्त्व का भी साक्षात् कार करतेहैं, काम्य कर्म निष्ठा की निन्दा करते हुए कहते है, जो जन मदुक्त उपायों का अनुष्ठान करता है, वह मङ्गल का अधिकारी होता हैं, एवं मेरे सान्निध्य को प्राप्त करता है।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात्।३।४।४१

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥११।१४।१४
निष्किञ्चना मय्यनुरक्त चेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते
यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥११।१४।२७

साम्प्रतं स्वनिष्ठ से भी निरपेक्ष का श्रेष्ठत्व कहतेहैं—" सर्वं ह पश्यति इस श्रुति में विद्या से स्वर्ग प्राप्ति संवाद है, इन्द्रादि लोक प्रसक्त व्यक्ति के लिए ब्रह्म निष्ठता की हानि अवश्य ही होगी, इस कथन के उत्तर में कहते हैं " नचाधिकारीकमपि " सूत्रस्थ ' च ' शब्द अवधारणार्थक है, और अपि शब्द ' ऐहिक सुख समुच्चय में हैं ॥ आधिकारिक इन्द्रादि पद ब्रह्म निष्ठ के लिए आकाङ्क्षित नहीं है, कारण पतन की सम्भावना है, आब्रह्म भुवन से समस्त लोक के पुनरागमन ही होताहै, श्रीगीता की उक्ति उक्त प्रकार है, अत एव आरम्भ से ही उस में उन की स्पृहा नहीं रहती है, न महेन्द्र धिष्णचं " इत्यादि वचन भी इस में प्रमाण है. अतएव विद्या की महिमा निबन्धन किसी किसी भक्त उक्त भोग की अनुवृत्ति होने पर भी उन में उनकी इच्छा नहीं रहती है, अतएव ब्रह्मरति का विच्छेद नहीं होताहै, इसप्रकार सिद्धान्तही है।

अकिञ्चन दान्त समचित्त शान्त एवं मुझ को प्राप्त होकर ही सन्तुष्ट मानसके लिए सर्वथा ही परिपूर्णता रहती है, उस परिपूर्णताकी व्यक्त करते हैं पारमेष्ठ्य ब्रह्मलोक रसाधिपत्य पातालादि के स्वामित्व, अपुनर्भव मोक्ष को मुझ को छोड़कर नहीं चाहते हैं,, कारण मैं ही उन के प्रेष्ठ हूँ। मेरे भक्त के सुख को कौन वर्णन कर सकता है कारण वह स्वयंवेद्य एवं निरुपम है, निष्किञ्चन मुझको छोड़करअपरमें स्पृहा शुन्य, महान्तनिरभिमान है। अनालब्धधियः विषय से अस्पृष्ट चित्त उपरोक्त एक एक के प्रति कारण एवं कार्य रूप में स्थित हैं। इस प्रकार मत् सम्बधि सुखके सेवन मेरे भक्त जन कहते रहते हैं। वे ही केवल इस के अनुभवी है, मोक्ष आदि की उनकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है, केवल प्रीति पूर्वक मेरी सेवा करते हैं, इस को निरपेक्ष सुख

उप पूर्वमपित्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ।३।४।४२

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्
मत् पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसह्य
समाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३।२५।३४
अथो विभूतिं मम माययाचिता
मैश्वर्य्यमष्टाङ्ग मनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते हि लोके ॥३।२५।३७

बहि स्तूभयथा स्मृतेराचाराच ।३।४।४३

कहते हैं। इस के अनुभव उन सब को छोड़ कर अपर का नहीं है।

अनन्तर परिनिष्ठित से भी निरपेक्ष का श्रेष्ठत्व प्रदर्शन करते हैं। सूत्रस्थ अपि अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है, और विपरीत भावना निरसन के लिए 'तु' शब्दका प्रयोग हुआ है। एके--आथर्वणिक गण कहते हैं कि निरपेक्ष के समीप में उपासना ही अभीष्टहै उक्त भाव उनका स्वाभाविक है, भोजन जैसे प्राणिमात्र के लिए स्वाभाविक है, भक्ति ही भजन है, उस के द्वारा श्रीहरि की प्राप्ति होती है, और उस से अनन्त सुख का उदय होता है। और भी कहते हैं कि—भगवान के सकल भक्त किसी किसी स्थान में श्रीहरि की उपासन करें उसी स्थान में भगवान से प्रदत्त भोगों का वे भोग करते हैं, भगवान् जिस प्रकार त्रिपाद विभूति का आनन्द भोग करते हैं, उस प्रकात भक्तगण अप्राकृत अनन्द का भोग करते हैं। स्मृति में इस का विशद् विवरण है॥

भक्त का श्रेष्ठत्व प्रति पादन करते हैं, कुछ भक्त मुक्ति को नहीं चाहते हैं, वे मेरे पाद सेवन में रत रहते हैं, और मेरा उल्लास कर आचरण ही करते हैं। परस्पर अत्यन्त आसक्ति समापन कर मेरा गुणानुवाद ही करते है, अविद्या निवृत्ति के पश्चात् सत्य लोकगत सम्पत्ति सुख अणिमादि सिद्धि भक्ति के पश्चात् धावमान होने पर भी वे स्पृहा नहीं रखते, यहाँतक वैकुण्ठ स्थित भोग सम्पत्तिकी भी इच्छा नहीं रखतेहैं, तथापि वैकुण्ठ लोकमें समस्त सुख को प्राप्त करते ही हैं।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्
हरिरभसाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
सभवति भागवतप्रधान उक्तः ।११।२।५५
निरपेक्षं मुनि शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्
अनुव्रज्याम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रि रेणुभिः ॥११।१४।१६

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४

न कर्हिचित् मत्परा शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥
इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम्
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतो मुखम्
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान् मृत्यो रति पारये ।।३।२५।३८-४०

उन सब भक्तों की सालोक्य सामीप्य लक्षणामुक्ति अयत्न सिद्ध होती है, इस प्रकार उक्त स्थल में हेत्वन्तर का प्रदर्शन करते हैं—'बहिस्तूभयथा' सूत्रस्थ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है, प्रपञ्च में स्थित होकर भी भक्तगण प्रपञ्च के बाहर रहते हैं, क्योंकि जिन भक्तों ने प्रेम रज्जु द्वारा श्रीभगवान के पाद पद्म को आवद्ध किया है; भगवान उस को कभी भी परित्याग नहीं करते हैं, एवं वह ही भागवत प्रधान है। ये सब शास्त्र वाक्य से मणि सुवर्ण के समान श्रीभगवान एवं भक्त का परस्पर संश्लेष होता है, एवं भक्तों के साथ श्रीहरि का ऐसा आचरण भी दृष्ट होता। श्रीभगवान् ने स्वयं ही कहा है-मैं मेरे निरपेक्ष मौन, शान्त, निर्वैर समदर्शी भक्त का सदा अनुगमन करता हूँ। उक्त हेतुद्वय से श्रीहरि एवं उनके भक्त इन दोनों में अन्तर में एवं वाहर में परस्पर एक अपर के साथ सर्वथा अभिन्न संश्लिष्ट होकर रहते हैं। वास्तविक श्रीभगवान का वैमुख्य ही संसार का हेतु है, अतएव साम्मुख्य के द्वारावैमुख्य का नाश हो जाता है, अतएव सालोक्यादि मुक्ति स्वतः सिद्धा है।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।३।४।४५

अहं भक्त पराधीनो ह्य स्वतन्त्र इव द्विज
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैं र्भक्तजनप्रियः ॥
मयिनिर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनः
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः
सत्पतिं यथा ॥६।४।६३।६६

भक्त की ब्रह्मलोक पर्यन्त सुख की वितृष्णा रहती है, यह कहा गया है, सम्प्रति इस जगत के सुख में भी उनकी वितृष्णा होती है, इस को कहते हैं, 'भत्तासिन् भ्रियमाणो विभाति' तैतिरीयक श्रुति में उक्त है भगवान् भर्त्ता होकर भी पोष्य के समान प्रतिभात होते हैं, संशय है कि निरपेक्ष की देह यात्रा का निर्वाह स्व प्रयत्न से अथवा ईश प्रयत्न से होताहै ? भगवान् भक्त के लिए प्रयत्न करे, भक्त की यह वाञ्छनीय नहीं है। अतएव निजप्रयत्न से शरीर यात्रा का निर्वाह होता है, इस प्रकार पूर्व पक्ष का खण्डन करते हैं, स्वामिनः स्वामी सर्वेश्वर से उनकी देहयात्रा निष्पन्न होती है। क्योंकि फल श्रुतेः अर्थात् भगवान स्वयं संभर्त्ता हैं, यह आत्रेय का मत है। गीता मेंउक्त है, जो जन मुझ की अनन्य भाव से चिन्ता करता है एवं उपासना भी करता है, उस का योग क्षेम का वहन मैं ही करता हूँ। मत्स्य कूर्म विहङ्गम जिस प्रकार दर्शन ध्यान स्पर्श से अपत्य का पोषण करते हैं, मैं भी उसी प्रकार अपने भक्त का पोषण करता हूँ। इस वाक्य से इस प्रकार प्रतीति होती है, देह यात्रा के लिए भक्तों का अपना प्रयास अनावश्यक है, यह स्थूल वाक्य है, क्योंकि उस विषय में उनकी इच्छा दिखाई नहीं देती, और सत्य सङ्कल्प श्रीभगवान का उस के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं होता है, श्रीभगवत् सेवा द्वारा स्वदेह यात्रा निर्वाह करना भक्त का अभिप्राय है, और यह ही श्रुत्युक्त फल है, इस लिए ही श्रुति में भ्रियमाण शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार भक्त की स्थिति होनेपर भोक्ता एवं भोग्य का विनाश ही होगा। अतः कहते हैं, शान्तरूपो शुद्ध सत्त्व रूप वैकुण्ठ में मेरा भक्त कभी भी भोग हीन नहीं रहता है, काल भी उनको ग्रास नहीं करताहै, इस में कारण है कि जिन के मैं स्नेह का विषय हूँ प्रिय, आत्मा सुत सखा गुरु दैव एवं इष्ट पूज्य हूँ॥

एकान्त भक्त को ही मैं इस प्रकार गति प्रदान करता हूँ। परलोक एवं इहलोक, आत्मा शरीर और शरीर सम्बन्धि पुत्र कलत्र धनादि, एवं

श्रुतेश्च ।३।४।४६

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्
अनुब्रज्याभ्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥११।१४।१६
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः । ११।१४।५५

सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।३।४।४७

अन्यान्य परिग्रह को छोड़कर जो अनन्य भावसे मेरा भजन करता है, उनको ही संसार से उद्धार करता हू ।

श्रीहरि उन एकान्ति भक्त के भर्त्ता हैं, दृष्टान्त द्वारा इस का प्रतिपादन करते हैं । 'आर्त्विज्यमिति' सूत्रस्थ इह शब्द सादृशार्थक है, ऋत्विक् के कर्म के समान ही श्रीहरि भक्त परिपोषण करते हैं । कारण वे भक्ति द्वारा श्रीहरि को वशीभूत करलेते हैं,, 'हि' शब्द कारणार्थक है, स्मृति में कथित है, तुलसी पत्र अथवा स्वल्प मात्र जल प्रदानसे ही भक्त के समीप में श्रीभगवान आत्म विक्रय कर देते हैं, ऋत्विक् जिस प्रकार दक्षिणा द्वारा यजमान के समीप में अपने को दे देता है उसी प्रकार भक्त के समीप में भगवान् आत्म विक्रय करदेतेहैं. औडुलोमि निर्गुणवादी होने के कारण भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं किया है, अतएव निरपेक्ष भक्त श्रेष्ठ है,

अस्वतन्त्रा व्यक्ति के समान ही मैं भक्त पराधीन हू मैं भक्त जनप्रिय हू । और साधु भक्तों ने मेरे हृदय पर अधिकार जमा लिया है ।

समदर्शी साधुगण मुझ को प्राण अर्पण करदेते हैं, और सत् स्त्री पति को जिस प्रकार वशीभूत करती है, उस प्रकार ही भक्तगण मुझ को वशीभूत करते हैं ।

'यां वै काञ्चन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति होवाचेति तस्मादु हैवं विदुदगतो ब्रूयात् कं ते काममागायनि'' स्मृति में ऋत्विक द्वारा अनुष्ठित कर्म फल यजमानगामी होताहै देखा जाताहै, यजमान दक्षिणाद्वारा ऋत्विक को वशीभूत करता है, श्रीभगवान भक्ति वश है, अतएव ऋत्विक् जिस प्रकार यजमानका पोषण करताहै, उस प्रकार श्रीभगवान भी भक्तका कर्मकरते हैं ॥

निरपेक्ष मुनिशान्त निर्वैर समदर्शन भक्तका मैं अनुसरणकरताहूँ पवित्र होने के लिए, प्रणय रशंना द्वारा ही श्रीहरि के चरण कमल भक्त हृदय में आवद्ध होकर रहते हैं ।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः ॥११।१३।४०
यमानभिज्ञं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥११।१०।५

अनन्तर विद्या प्राप्ति के वाद अनुष्ठान कर्त्तव्य का निरूपण करते हैं, 'तस्मादेवंविच्छान्तोदान्तः' "आत्मावा अरेद्रष्टव्यः ये सव प्रसिद्ध श्रुति हैं, यहाँपर शमादि से लेकर ध्यान पर्यन्त के अनुष्ठान ब्रह्मज्ञ के लिए आवश्यक हैं, ये सव ही निरपेक्ष के लिए अनुष्ठेय है अथवा तत्त्वरूप गुणचरित समूह के ही स्मरण करना कर्त्तव्य है ? इस सन्देह में कहा जाता है कि विद्या शमादि के विना स्थायी नहीं होतीहै, अतएव यहसव ही अनुष्ठेयहै, इसप्रकार कथन के उत्तर में कहते हैं, 'सह कार्य्यन्तर विधिः' यहाँपर शमादि को सह कारि साधन रूपमें कहेगयेहैं, यज्ञादि एवं शमादि को विद्याके सहकारीरूप में निरूपण किये गयेहैं, अपूर्व हेतु साश्रम पक्ष में उनकी विधि ग्रहणीय है, निरा श्रम के पक्ष में विधान नहीं है, कारण निराश्रम में शमादि स्वाभाविक रूप में होते हैं अतएव निरपेक्ष व्यक्ति भगवान् के स्वरूपादिकों का चिन्तन करेंगे एतज्जन्य तत् प्रसादमात्र की अभिलाषी निरपेक्ष के पक्ष में तृतीय मानसीक अनुष्ठान का निर्देश किया गया है, श्रुति में उक्त है–' ब्रह्म मानसलभ्य हैं' कायिक वाचिक अथवा मानसिक श्रवण मनन की अपेक्षा से ही मानसिक ध्यान तृतीय कहा गया है। साश्रम अधिकारी के लिएजैसे सन्ध्योपासनादि विधि की आवश्यकता है, उसी प्रकार सञ्जात विद्य निरपेक्ष को भगवत् स्व रूपादि का स्मरण करना एकान्त आवश्यक है। इस से उनका जपार्च्चनादि का निषेध नहीं हो रहा है, ध्यान द्वारा ही उनकी प्राप्ति होती है, अर्च्चन का प्रधान अंग ही ध्यान है, ध्यान प्रधानके कारण केवल ध्यान का उल्लेख किया, गया है। इस प्रकार त्रिविध अधिकारी के लिए पृथक् पृथक् अनुष्ठान निरूपित हुआ है ।

जो सव गुण मुझका भजन करतेहैं, मैं निर्गुण निरपेक्ष होने के कारण वे सव हि नित्य होते हैं मैं सुहृद प्रियतम एवं आत्मा स्वरूप हूँ। अतएव मेरी शरणागत के लिए साम्य असङ्ग आदिगुण भी गुणातीत होते हैं। मत् पर जन आदर पूर्वक अहिंसादि यमोंके अङ्गका अनुष्ठान करेंगे। किन्तु शोचादि नियमो का आचरण ज्ञानके अविरोध से यथाशक्ति करेंगे, और भी विशेषवात है कि—यमादि के प्रति भी आग्रह को छोड़कर गुरु की उपासना करे, गुरु मदात्मक मदभिज्ञ; शान्त स्वरूप के होते हैं।

कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः ।३।४।४८

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात् यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥
यः षट्सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्ज्जितारीन् क्षीणेषुकामं विचरेद्विपश्चित्
॥५।१।१७--१८

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्त्तमानः सकर्मभिः
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः ॥७।१५।६७

स्वनिष्ठ परिनिष्ठित निरपेक्ष के लिए विद्या लाभ का प्रकार निर्णीत हुआ है, सम्प्रति उस की स्थिरता के लिए प्रस्तुत प्रकरण का आरम्भ है, छान्दोग्योपनिषत् के अन्त में निर्णीत है, आचार्य कुलात् वेदमधीत्ययथा ‘विधानं गुरोः’ आचार्य के समीप से विद्या अध्ययन के पश्चात् यथा विधि गुरु दक्षिणा प्रदान के अनन्तर गृह में आकर कुटुम्ब मध्य में पवित्र प्रदेश में निज शाखाका अध्ययन करें तथा धार्मिक पुत्र उत् पादनान्तर निखिल इन्द्रिय आत्मा में प्रतिष्ठित करे, यज्ञ के विना किसी कार्य में भूतहिंसा न करें, जो यावज्जीवन इस प्रकार अतिवाहित करेगा उस को इस संसार में पुनर्वार आना नहीं पड़ेगा।” यहाँपर गार्हस्थ्य धर्म में ही विद्या का उप संहार होने पर तदितर नैष्ठिक ब्रह्म चारी प्रभृति की विद्या प्राप्ति सम्भव नहीं है। उक्त वाक्य से यही प्रतीति होती है, कहीं कहीं पर त्यागोक्ति भी देखी जाती है, वे सव स्तुति पर है, ब्रह्म ऐसी वस्तु है—जिस के लिए सव कुछ ही त्याज्य होते हैं, यथाविधि कर्मानुष्ठान करने से ही गृहस्थ विद्याका अधिकारी होता है, इस प्रकार वचनों से पूर्व पक्ष निर्णीत होनेपर उत्तर के लिए कहते हैं, ‘कृत्स्न-भावात् तु गृहिणोपसंहारः’ शङ्का निरसनार्थ “तु” शब्द का प्रयोग सूत्र में हुआ है, गार्हस्थ्य धर्म यथायथ अनुष्ठानसे मुक्ति होती है, ऐसा नहीं, किन्तु गृहस्थ कर्म में ही सकल धर्म का समावेशहै, इस लिए उस में उपसंहारकिया गया है, गृहस्थके लिए बहुल आयास साध्य अनेक प्रकार स्वाश्रम धर्म कर्त्तव्य त्वेन उपदिष्ट हुआ है, अतएव उस के साथ आश्रमान्तर का कोई विरोध नहीं है, स्मृति में उक्त हैं ‘भिक्षा भुजश्च ये केचित् परिव्राङ् ब्रह्म चारिणः तेऽत्रैव प्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेन वै परम्’ भिक्षु परि व्राजक, ब्रह्म- चारी, इस सव के धर्म गृहस्थ धर्म में प्रतिष्ठित है, अतएव गार्हस्थ्य धर्म उत्तम है।

विद्वान् व्यक्ति गृहाश्रम में स्थित होकर ही अभिमान शून्य होता है,

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४६

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तोमुक्तबन्धनः
अविज्ञातगति र्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ।।१।१३।२६
यः स्वकात् परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः ।।१।१३।२७

विषय भोग करने पर भी विषय वासना नहीं रहतीहै, और मोक्षभी होजाता है, अतएव उस के लिए वन वास की कोई आवश्यकतानहींहै, इसको ही युक्ति से कहते हैं, अजितेन्द्रिय का संसार रूपभय वनवास में भी सम्भव है, सङ्ग के भय से वनसे वनान्तर गमन करने परभी षट् सपत्नशत्रु समूह साथ ही चलेंगे, मनोवुद्धीन्द्रिय समूह ही शत्रु है, जितेन्द्रिय आत्मरति व्यक्ति के लिए अवद्य रागादि दोष कुछ भी हानि नहीं करेगा जो जन इन्द्रिय जय करने के लिए वन गमन करताहै, उसका इन्द्रिय जय नहीं होताहै, अतएव तीव्र शत्रुकी जय करने के लिए दुर्गाश्रित होना एकान्त आवश्यक है, इस प्रकार प्रबलेन्द्रिय से अपराजित होने के लिए गृहस्थाश्रमही श्रेयस्कर हैं ।

वेदोक्त धर्म समूह के आचरण द्वारा गृहस्थ धर्म में रत होने पर उक्त अवस्था में ही वह जन श्रीकृष्ण चरणों में भक्ति लाभ करता है, और उन का प्रिय वन जाता है ।।

आश्रमान्त के विषय सुनने में आता है, ये सव ही गृहस्थ धर्म में अन्त र्भाव है इस प्रकार मानना आवश्यकहै, इस के उत्तर में कहते हैं मौनवदिति दृष्टान्त के द्वारा कहते हैं, मुनिव्रत के समान सिद्ध करके ही कहतेहैं । प्रथम स्कन्धत्रय है, उस में यज्ञ अध्ययन और ' दान ' है प्रथम द्वितीय ' तप ' है, आचार्य कुलवास, ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण तृतीय है, ये सव पुण्यश्लोक होते है, ब्रह्म संस्थोऽमृतत्त्वमेति अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ अमृतत्त्व प्राप्त करता है, श्रुति में इस प्रकार कथित हुआ है, वहाँपर एतदेव विदित्वा मुनि र्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोक मभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति' इसप्रकार परिव्राजककी भाँति अपर नैष्ठिकादियों का उपदेश है । सावित्र्य-ब्राह्म--प्राजापत्य-वृहत् ये चार ब्रह्म चारी भेद है, इस प्रकार वृत्ति भेद से बहुत भेद है, फेणप उदुम्बर वैखानस बालखिल्य ये वनस्थ थे कुटीचक बहूदक हंस-निष्क्रिय ये सन्नयासीयोंके भेद हैं, इसप्रकार वृत्ति के बाहुल्य से बहुत भेर है, जावालोपनिषद् में चार आश्रमों का कथन है, ' ब्रह्मचर्य्य समाप्ति के पश्चात् गृही होवे, गृही होकर वनस्थ होवे, वनस्थ होकर सन्नयास ग्रहणकरें । इसप्रकारको छोड़करव्युत्क्रमसे अवस्थान न करे ।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।३।४।५०

नैतत् खलायोपदिशेन्नाविनीतायकर्हिचित्
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्म्मध्वजाय च
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढ़ चेतसे
नाभक्ताय च मे जातु न मद्‌भक्तद्विषामपि ।।३।३२।३९-४०
नेतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ।।११।२९।३०
तेमय्यपेताखिलचापलेऽर्भके ।।१।५।२४
ज्ञानं गुह्यतमं यतत् साक्षात् भगवतोदितम्
अन्ववोचन् गमिष्यन्तिः कृपयादीन वत्सलाः ।।१।५।३०
एवं गुरूपसनया च भक्त्या विद्याकुठारेणशितेनधीरः
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तःसम्पद्यचात्मानमथ त्यजास्त्रम्।।१।११।२४

सहसा वैराग्योदय होनेपर सवके लिए ही सन्न्यास ग्रहणकी विधि है, अनुराग गृहस्थ के लिए कारण है, और विराग सन्नयास के लिए कारण है, इसप्रकार अनुराग विरागरूप कारण भेद से आश्रम का भेद है, अतएव यथायथ शम दमादि सम्पन्न व्यक्ति साश्रमी हो किम्वा निराश्रमी ही उस का विद्यामें अधिकार है, यह सिद्ध हुआ है ।

इस जगत् में जो व्यक्ति अपनी वुद्धिसे किम्वा दूसरेके उपदेशसे वैराग्य वान् होकर मन को वशीभूत कर श्रीगोविन्द चरण स्मरण पूर्वक संसार को छोड़कर चला जाता है वह मनुष्य के मध्य में श्रेष्ठ है, धीर व्यक्ति वह है जो व्यक्ति स्वार्थ को ' यश धर्मादि की आसक्ति को छोड़कर एवं मुक्तबन्धन अभिमान को छोड़कर प्राप्त दुःख सहन कारी को भी धीर कहा जाता है, ।

विद्या अति रहस्यपूर्ण वस्तुहैं, श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में उक्तहै वेदान्तेपरमंगुह्यं पुराकल्प प्रचोदितम् । नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय नाशिष्याय वै पुनरिति' अथात् वेदान्त का विषय अत्यन्त गोपनीय है उस को अप्रशान्त पुत्र अथवा शिष्य के लिए उपदेश नहीं किया जाता है । उस में संशय यह है कि यह तत्त्व सर्वत्र उपदेश्य है अथवा योग्यायोग्य विवेचनों के पश्यात् कथनीय है ? कारुणिक के लिए योग्यायोग्य विवेचना करना अयुक्त है, अतएव सर्वत्र कथनीय है, इस प्रकार पूर्व पक्ष,के उत्तर में कहते हैं, ' अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् '

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।३।४।५१

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्
हृद्वाग्वपुर्भि विंदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥१०।१४।८

विद्या का गोपन रूप से ही उपदेश करे कारण श्रुति वैसा ही कहती है; अब विन्दाक्ष श्रीहरिने गीता में वैसा ही कहा है, अजितेन्द्रिय, अभक्त श्रवणेच्छा रहित व्यक्ति के लिए उस तत्त्व को अर्पण न करें। उपदेश योग्यपात्र में ही कार्यकर होताहै, अयोग्यमें नहीं। श्रुतिमें भी उक्तहै, जो गुरु तथा देवता में भक्ति सम्पन्नहै,, उस में ही विद्याकी स्फूर्त्ति होती है, छान्दोग्य में भी उक्त है, आत्मा अपहत पाप्मा इत्यादि श्रुति में सुस्पष्ट है कि-इन्द्र और विरोचन के प्रति समान रूप से तत्त्व का उपदेश किया गया है, उन में से विरोचन को ही तत्त्व की स्फूर्त्ति हुई है, इन्द्र को नहीं हुई। अतएव योग्य पात्र में उपदेश करना कर्त्तव्य है, अयोग्य में नहीं। शास्त्र रीति से भगवत् परायण श्रद्धा सम्पन्न योग्य पात्र हैं,।

शान्त दान्त अनुरक्त शुश्रूषारत मुझ के प्रति गुरुओंने अतिरहस्य तत्त्व का उपदेश किया था, वह तत्त्व गुह्य तर, और गुह्यतम है, साधन रूप धर्म तत्त्व गुह्य है और उसका साध्य स्वरूप है गुह्यतम है। विविक्तात्मज्ञान गुह्य तर है। उस से प्राप्य ईश्वर ज्ञान गुह्यतम है, श्रीभगवान् के श्रीमुख से निर्ग लित भागवत शास्त्र का उपदेश ही उक्त गुरुओं ने मुझे किया था।

इस प्रकार गुरु उपासना रूपी विद्याकुठार के द्वारा कर्म वासना को छेदन करके सम्पन्न हो जावे।

अनन्तर विद्योत्पत्ति काल का विचार करते हैं—नचिकेता जावाल, वाम देव आदि का उपाख्यान ही यहाँपर विचार्य्य है, संशय है पूर्वोक्त विद्या इस जन्म में ही उत्पन्न होती है, अथवा जन्मान्तर में, इस जन्म में ही विद्या की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं, 'ऐहिक' प्रतिबन्ध का अभाव से इस जन्म में ही विद्या की उत्पत्ति होती है, नहीं तो नहीं होती है, वेद में इस प्रकार प्रसङ्ग देखने में आता है, नचिकेताने एक जन्म में ही विद्यालाभ किया था, और वामदेवने गर्भावस्था में ही विद्यालाभ किया था प्रह्लाद ने भी गर्भावस्था में ही विद्यालाभ किया था, गजेन्द्र वृत्रासुर तथा रहूगण भी इस में दृष्टान्तहै, लघु प्रतिबन्धहोने पर साधन विशेष द्वारा प्रति

एवं मुक्तिफलानियम स्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५२

एवं गुरूपासनयैक भक्त्या
विद्या कुठारेण शितेन धीरः
विवृश्चय जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ।।११।१३।२४

**** इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादः समाप्तः ****

——:**:——

बन्ध हठ जाता है, और गुरु प्रतिबन्धमें यज्ञ दान शमादि द्वारा उस का परिक्षय करना पड़ता है। अतएव जन्मान्तर की अपेक्षा होती है, गीता में कथित है, अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिं, मेरा विद्यालाभ होवे इस प्रकार संकल्प ही प्रधान है, प्रतिबन्ध होनेपर विलम्ब में होता है, उस का अभाव से सत्वर ही विद्या लाभ होताहैं।

भक्ति ही एकमात्र विद्याहै, उस की प्राप्ति भगवत् अनुकम्पासे ही होती है, कृपा कब होगी इस प्रकार तीव्र आशा लेकर स्वकृत कर्म फल को भोग अनासक्त रूप से करते हुए जो जीवित रहता है, वह मुक्ति के लिए उत्तराधिकारी होता है।

विद्या सम्पन्न व्यक्ति ही विद्याका अधिकारी है, श्रुति कहती है, तमेव विद्वानमृत इह भवति ' उनको जानने पर विद्यान् अमृत होता है संशय है कि जिस शरीर में विद्या लाभ होता है, उम में ही मोक्ष होता है, अथवा शरीर पतन के पश्चात् मोक्ष होता है ? कार्य्य कारणसे शरीर पतनके अनन्तर ही मोक्ष सिद्ध होता है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर देते हैं—' एवं ' विद्यासाधन सम्पन्न जिस प्रकार विद्या लाभके लिए इसजन्म अथवा जन्मान्तर की अपेक्षा नहीं करते हैं। उसी प्रकार प्रारब्ध क्षय होने पर ही मोक्ष होता है, इस विषय में शरीर का पतन एवं अपतन का कोई नियम ही नहीं है। प्रारब्ध क्षय होने पर उस शरीर पात होने पर ही मुक्ति होती है, और प्रारब्ध नाश न होने पर देहान्तर की अपेक्षाहोती है, मोक्ष स्वाधीन है, छान्दोग्य में उक्त है। ' आचार्यवान् पुरुषो वेद ' प्रारब्ध क्षय होने पर ही विद्वान् का मोक्ष होता है, स्मृति में उक्त है—प्रारब्ध का क्षय होने पर ही विद्वान् अमृतत्त्व का लाभ करता है, प्रारब्ध रहने पर मुक्ति के लिए बहु जन्म की अपेक्षा करनी पड़ती है। विद्या द्वारा समस्त कर्म क्षय होने पर भी ईश्वरेच्छाके अनुसार

❀ चतुर्थोऽध्यायः ❀

—:❀❀:—

* अथ चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमः पादः *

——:**:——

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।४।१।१

निगमकल्पतरो र्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।१।१।३

कहीं प्रारब्धांश रह जाता है, आगे इस का विवेचन करेंगे। अध्याय पूर्ण के लिए सुत्र में पद की आवृत्ति हुई है।

समस्त तत्त्व जानने के पश्चात् कृतकृत्य होकरसर्व साधनका परित्याग करो। गुरु की उपासना रूपी विद्या कुठार से अप्रमत्त होकर त्रिगुणात्मक जीवोपाधिरूप लिङ्ग शरीर छेदन के अनन्तर परमात्मा की प्राप्ति होती हैं, एवं मुक्ति होती हैं, साधन की अपेक्षा भी उस समय नहीं रहती है।

** इति ब्रह्मसूत्रस्य श्रीमद् वेदव्यासकृतश्रीभागवतभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थ पादः समाप्तः **

——:❀*:——

* प्रथमः पादः *

—:**:—

विद्यारूप औषधि प्रदान द्वारा जो अखिल भक्तों को अविद्या रोग से मुक्त करते हैं, वह प्रीत्यात्मा श्रीहरि स्वयं मेरे नयन पथके पथिक होवे। यह अध्याय विद्या फल विचार परहै, यद्यपि आदिके कतिपय श्लोक साधन विचार पर हैं, तथापि फल वर्णनके प्राधान्य हेतु इसे फलाध्याय कहते हैं। श्रुति में कथित हैं कि ' आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इस विधान से श्रवणादि अङ्गोका अनुष्ठान पुनः पुनः करना आवश्यक हैं अथवा नहीं ? अग्निष्टोमादि की अनुष्ठान एकवार करने पर ही स्वर्गादि फल प्राप्ति होती है, अतएव एकवार अनुष्ठित होने पर ही आत्म दर्शन होगा,। पुनः पुनः अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—आवृत्तिः श्रवणादि अङ्गों की आवृत्ति की आवश्यकता है, कारण। असकृत् के लिए ही श्रुति का विधान हैं, ' स च एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसीत्यादि

लिङ्गाच्च ।४।१।२

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ।।१।२।२२

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भव प्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ।।१।८।३६

सकल श्रुतियों के कथनं नौवार हुआ है । एक वार अनुष्ठित, होनेपर फल होता है, इस प्रकार शास्त्र वचन के साथ इस का विरोध नहीं है, कारण उक्त वचन अदृष्ट फल विषयकहै, और प्रस्तुत प्रकरण आत्म लाभ रूप प्रत्यक्ष फल विषयक होने के कारण धान्य की तूष रहित करने के लिए यथा पुनः पुनः अवधात करना आवश्यक होता है, वैसे ही अत्म साक्षात्कार पर्य्यन्त पुनः पुनः पुनः श्रवणादि की आवृत्ति कर्त्तव्य है.

श्रीभगवत् प्रोक्त शास्त्र सर्व शास्त्र श्रेष्ठ होने से ही श्रवणीय है ऐसा नहीं किन्तु सर्वशास्त्रों के फल रूप होने के कारण ही परम आदर पूर्वक ही श्रवणीय है; विशद् रूपसे कहते हैं, निगम वेद वे ही कल्पतरु हैं, कारण सर्व पुरुषार्थके उपाय स्वरूप हैं, उस कल्पतरु का ही फल श्रीमद्भागवत हैं, यह वैकुण्ठस्थित पदार्थ है, श्रीनारद मुनि ले आये, ओर मुझे दिया है, मैंने शुक के मुख में स्थापन किया है, शुक के मुख से ही शिष्य प्रशिष्य परम्परा क्रमसे शनैः अखण्ड रूप से पृथ्वि में अवतीर्ण हुआ है। उच्चस्थल से गिरने के कारण भी यह फुटा नहीं। अनागताख्यान से ही कथा की प्रभृति हुई है, अतएव अमृत द्रव से युक्त है, शुक ही शास्त्र के मुनि है, अमृत परमानन्द, वह ही द्रव रस है, रसो वै स रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति यह श्रुति है, अतः हें रसिका रसज्ञा, तत्रापि भावुका, हे रस विशेष भावना चतुरा, आश्चर्य्य की वात हैं, भूमि में ही अनायास लभ्य है ।

यह भागवत हैं, और इस का पान पुनः पुनः निरन्तर ही करें, इस में एककण भी अपेय नहींहै; अतः सवके सव ही पान करें । मोक्ष होने पर भी भागवत पान का विराम नहीं है, स्वर्गादि सुख की भाँति मुक्तगण इस को त्याग नहीं करते हैं । किन्तु सर्वदा सेवन करते हैं, आगे आत्माराम निर्ग्रन्थ होकर भी निरन्तर श्रीहरि की भक्ति द्वार। उपासना करते हैं ।

" तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार " भृगु पिता वरुणके समीप

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।४।१।३

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥१०।१४।५५

न प्रतीके न हि सः ।४।१।४

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।११।२।४१

गए और ब्रह्म विद्यालाभ के पश्चात् भी उसकी आलोचना की इस प्रकार सदाचार से प्राप्त होता है कि श्रवणादि-भक्त्यङ्गकी आवृत्ति पुनः पुनः करना आवश्यक है, अपराध स्थिति के कारण उस की आवृति का विधान है, अपराध के अभाव से सकृत् आवृत्ति ही साक्षात्कार के हेतु हैं।

सदाचार परम्परा का निर्देश कर उप संहारमें कहते हैं, परम आनन्द से ही कविगण नित्य ही भगवान वासुदेव के प्रति मन. शोधनी भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, कारण भजनीय में श्रीकृष्ण ही मूर्द्धण्य हैं।

वे सब जन पुनः पुनः आप की कथा श्रवण करते आपको स्मरण करते हैं, आप के विषय के गान भी करते हैं, एवं चरित्र की आलोचना निरन्तर करते रहते,हैं अत संसार परम्परा विनाशक आपके चरणाम्वुजका अवलोकन अति सत्वर ही वेलोक करेंगे।

उक्त विषयेमें विचारान्तर का प्रदर्शन करते हैं, यह उपासना ईश्वर वुद्धि से अथवा आत्मवुद्धि से होतीहै? "जुष्टं यदा पश्यन्त्यन्यमीशं" इस श्रुति संवाद से उपासना ईश्वर वुद्धि से ही होती है, यह निश्चय होने पर समाधान के लिए कहते हैं, आत्मेति " सूत्रस्थ 'तु' शब्द अवधारणार्थक है, वह ईश्वर आत्मा है, अतः उपास्य हैं, जिस से तत्त्वत व्यक्तिगण उन को, आत्मा रूप से ही जानते हैं एवं वोऽयमात्मा अयंलोकः परिदृश्यमान जगत् आत्मा नहीं यह भी जानते हैं। इस प्रकार ही शिष्य को ग्रहण भी कराते है, यहाँपर आत्म शब्दसे पुरुषाकार विज्ञानानन्द स्वरूप विभु ही हैं, स्व सत्ता प्रद होने के कारण ईश्वर आत्मभूत हैं, यह दूसरे का मत है अपर कोईकहते हैं कि जीव अविद्या मुक्त होकर ब्रह्म होताहै, इसलिए उनको आत्मा जानकर उपासना करनी चाहिए, यह मत् अत्यन्त असत् है, इस मत का प्रत्याख्यान पहले ही किया गया हैं, यह श्रीकृष्ण को निखिल आत्मा के आत्मा जानकर ही उपासना करो, जगज्जीवें के हित के लिए कृपया देही के समान दिखाई पड़ते हैं।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च
वासुदेवात् परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥११५।१४
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्
स्पर्द्धासूयातिरस्काराःसाहङ्कारा वियन्ति हि ॥११।२६।१५

छान्दोग्योपनिषद् में कथित है—' मनो ब्रह्मेत्युपासीत ' 'मनो ब्रह्म की उपासना करें '। यहाँ संशय होता है कि ईश्वर की भाँति ' ' मन आदि भी आत्म शब्द से उपास्य है या नहीं ? मनोब्रह्म श्रुति में अभेद प्रतीत होने के कारण उपासना करना कर्त्तव्य है. इसपूर्व पक्षके उत्तरमें कहते हैं—न प्रतीके न हि सः। मन प्रभृति ब्रह्म के प्रतीक है, उन सब में आत्म वुद्धि करना उचित नहीं है, कारण इन्द्रिय कभी ईश्वर नहीं होताहैं, किन्तु इन्द्रिय ईश्वर ज्ञान का आधार है, अधिष्ठान है, स्मृति में उक्त है—आकाश, वायु अग्नि जल मही, ज्योति सकल, जीव समूह सकल दिक् वृक्षादि, नदी, समुद्र, ये सब परमेश्वर का शरीर हैं, अतएव अनन्य होकर उन सब को प्रणाम करें। मनों ब्रह्म इस श्रुति में मनः शब्द के उत्तर में प्रथमा विभक्ति सप्तमी अर्थ में हुई है। अर्थात् मन में ब्रह्मोपासना कर्त्तव्य है।

जिस प्रकार ईश्वर में आत्म दृष्टि करना विहित है, उस प्रकार प्रतीक में करना उचित नहीं है, अनन्तर ब्रह्म दृष्टि ईश्वर में करना उचित है अथवा नहीं ? इस का विचार प्रारम्भ किया जा रहा है, ईश्वर पर ब्रह्म शब्द युक्त वाक्य ही विचार्य्य विषय है। प्रथम विहित ब्रह्म दृष्टि स्थापन करना उचित नहीं है, पहले उस का निर्णय हो चूका है। इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् ' ईश्वर में आत्म दृष्टि के समान ही ब्रह्म दृष्टि करना अवश्य कर्त्तव्य है, क्योंकि अनन्त कल्याण गुण रत्नाकर होनेके कारण ईश्वर सर्वश्रेष्ठहैं, ऐसी उत्कर्ष प्राप्त बस्तु में ब्रह्म दृष्टि सर्वथा उचित है, श्रुति भी इस प्रकार हैं, ' अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूति ' इस प्रकार आत्म दृष्टि एवं ब्रह्म दृष्टि करना आवश्यक है, अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म इसके द्वारा उक्त वाक्य का ही पोषण होता है।

द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव, जीव, एक वासुदेव को छोड़कर तत्त्वतः अपर कुछ भी पृथक् वस्तु नहीं है ॥ नरों में निरन्तर ईश्वर वुद्धि करने का फल वर्णन करतेहैं, समोत्तम हीन में स्पर्द्धा असूया तिरस्कार नष्ट हो जाते हैं, और अपने प्रति अहङ्कार का भी विनाश हो जाता है।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ।४।१।६

यच्चक्षुरासीत् तरणि र्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम्
द्वारञ्च मुक्तेरमृतञ्च मृत्युः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥८।५।३६

सोमं मनो यस्य समामनन्ति
दिवौकसां ये बलमन्ध आयुः
ईशो नगानां प्रजनं प्रजानां
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥८।५।३४
अग्नि र्मुखं यस्य च जातवेदा ॥८।५।३५

आसीनः सम्भवात् ।४।१।७

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥११।१४।३२
देशे शुचौ समे राजन् संस्थाप्यासनमात्मनः
स्थिरं सुखं समं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥७।१५।३१

'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षुः सूर्य्योऽजायत श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत' ईश्वर के मनसे चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य्य, श्रोत्र से वायु और प्राण, मुख से अग्नि उत्पन्न हुए हैं। इत्यादि पुरुष सूक्त से भगवान् के मन आदि इन्द्रियों के सूर्य्यादि कारण रूपसे प्रतीयमान होते हैं, संशय हो सकता है कि—इस प्रकार चिन्ता करना उचित है अथवा नहीं ? पङ्कज के समान सुकुमार इन्द्रियों में इस प्रकार उग्रतावुद्धि असंगत है, इस प्रसार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—आदित्यादि पूर्व पक्ष निरास के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया गया है।

श्रीविष्णु के चक्षुः आदि इन्द्रियों में वह वुद्धि कर्त्तव्य है कारण उस से उनका उत्कर्ष सिद्ध होता है,। भगवान के इन्द्रिय नयनादि सुकुमार होने पर भी लोकातीत वस्तुहै, और श्रुति सिद्ध भी है, सूर्य्यादि जनकत्व रूप तीव्र भाव उन में संङ्गत होता है।

सूर्य्य जिन के नेत्र हैं, चन्द्र जिन के मन हैं, अग्नि जिन के मुख हैं, ऐसे महाविभुति विष्णु हमें अनुग्रह करें॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" इस प्रकार श्वेताश्वतर

ध्यानाच्च ।४।१।८

प्रसादाभिमुखं शश्वत् प्रसन्नवदनेक्षणम्
सुनसं सुभ्रुवं चारु कपोलं सुरसुन्दरम्
तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम्
प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ।।४।८।४५-४६
एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः
निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्त्तते

अचलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९

उपनिषद् में लिखित है। अर्थात् मस्तक ग्रीवा शरीर समान एवं सरल भाव में स्थापन पूर्वक इन्द्रिय समूह को मन के साथ आत्मा में सन्निवेशितकर योगी ब्रह्मरूप उड़ुप द्वारा भयावह संसार से पार हो जाता है, इस प्रकार श्रुति वाक्य से भगवान् की उपासनामें आसन विधान आवशयक कहा गयाहै, यहाँ संशय है कि ईश्वर उपासना में आसन विधान की आवशयकता है अथवा नहीं ? मानस व्यापार रूप स्मरणमें देह स्थित रूप आसनकी आवश्यकता नहीं हैं, इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं—' आसीनः सम्भवात् '। आसीनः कृतासन होकर ही श्रीहरिका स्मरण करें। उससे ही श्रीहरि स्मरण सम्भव है, शयन उत्थान गमनादि के समय चित्तमें विक्षेप रहता है, अतएव उससमय हरि स्मरण नहीं होता हैं। समभाव में उपवेशन कर क्रोड़ देश में हस्तद्वय को स्थापन कर नासाग्रदृष्टि सम्पन्न होकर श्रीहरिका स्मरण करें।

' तेध्यानयोगानुगता अपश्यन् ' इत्यादि श्रुति ज्ञात होता है कि श्रीभगवत् दर्शनेच्छु के लिए ध्यान की अवश्यकता है। वह कृतासन व्यक्ति में सम्भव होता है, अन्य में नहीं। उस को कहते हैं, विजातीय प्रत्ययान्तर से रहित अव्यवधान भाव से किसी एक वस्तुका चिन्तन ध्यान है, शयन उत्थान गमन परायण व्यक्ति के लिए वह सम्भव नहीं हैं।

श्रीभगवान् का ध्यान उपविष्ट होकर ही करे, प्रसन्न वदन प्रसन्न दृष्टि और साधक के और अभिमुख होकर स्थित है, सुन्दर नासिका, मनोरम भ्रू, सुन्दर कपोल, तरुण रमणीयअङ्ग प्रत्यङ्ग युक्त अरुण अधर औष्ठ प्रणतजन के आश्रय स्वरूप करुणार्णव, निखिल पुरुषार्थ साधक श्रीहरि का ध्यान करें। इस प्रकार भगवान् के ध्यान करने पर मन सत्त्वर ही आनन्द में निमग्न हो जाता है।

तत्सर्वं व्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥११।१४।४६

स्मरन्ति च ।४।१।१०

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्
तस्मिन् स्वस्तिकमासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥३।२८।८

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११

सत्त्वाद्धर्मोभवेद्वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्त्तते ॥११।१३।२
आगमोऽप प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥११।१३।६

सूत्रस्थ ' च ' कार अवधारणार्थक है, छान्दोग्य में कथित है—कि ' ध्यायतीव पृथिवी ' इस प्रयोग में ध्यान में निश्चलत्व की अपेक्षा है, और ' ध्यै " धातु का प्रयोग भी इस लिये हुआ है, इस से भी आसन में उपविष्ट होकर ध्यान करना सूचित होता है, ध्यायति कान्तं प्रोषित रमणीतिलोकेऽपि ' प्रसिद्ध हैं, प्रोषित भर्त्तृका रमणी पति का ध्यान करती है ।

व्यापक चित्त को एकत्र निवेश कर अपर कुछ भी चिन्ता न करें श्री हरि के सुस्मित मुखारविन्द का ही ध्यान करें ।

स्मृति में उक्तहै पवित्र देशमें अतिशय उच्च एवं अतिशय नीच आसन का त्यागकर सुखकर समतल आसन पर बैठकर योगाभ्यास करें, इन्द्रिय निरोध करें, ओर चित्ताग्र द्वारा श्रीहरिका चिन्तन करें शरीर का मध्य भाग ग्रीवा मस्तक सीधाकर बैठें और दृष्टिको केवल नासाग्र में स्थापन करें, इस से मन दौरात्म्य का त्याग करेगा ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मात्मनमात्मनः नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः उपविश्यासने युञ्जाद् योगमात्मविशुद्धये समं काय शिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् " आसनकर ही ध्यान करे, आसन कुश अजिन वस्त्र से आच्छादित हो, और सुख पूर्वक उपवेशन के लिए स्वस्तिक आसन करे ।

अनन्तर " आत्मा वा अरेद्रष्टव्यः " ये सव पहले कहे गये वाक्यों के सम्बन्ध में कुछ विचार आता है कि इस उपासना में दिक् देश काल का कोई नियम है अथवा नहीं ? वैदिक कर्मों में इन सव नियम यथावत् है; अथवा वैदिक कर्म में ही उन सव का प्रयोजन है, इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तर में कहते हैं ' यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् " ।

जिस दिक् देश कालमें चित्त की एकाग्रता होतीहै उसदिक् देशकालका ग्रहण उपासनाके लिए ग्रहण करनाआवश्यकहै, चित्तकी एकाग्रता ही काम्यहै, देशादि का विशेष रूप से उल्लेख नहीं है, स्मृति कहती है ' तमेव देशं सेवेत तं कालं तामवस्थितिम् । तानेव भोगान् सेवेत मनो यत्र प्रसीदति, " मनकी प्रसन्नता के लिए ही दिग्देश कालकी व्यवस्थाहै । श्वेताश्वतर श्रुति कहती हैं कि—" समेशुचौशर्करा वह्नि वालुका विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले नतु चक्षुः पीड़ने गुहानिवाताश्रयणे नियोजयेत् " तीर्थ सेवा ही मोक्ष का कारण है, इस से देशविशेषका नियम मानना आवश्यक होगा, उत्तर करते हैं, ऐसा नहीं हैं, उपद्रव होने पर तीर्थ असाधक हो जाता है, क्योंकि उपद्रव के अभाव से ही तीर्थ साधकतम होता है, अतएव ' मनोऽनुकूल शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः जहाँपर मनका अनुकूल हो तथा कोई वाधा विघ्न न होवें वह स्थान ही आश्रयणीय हैं, इस विषय में कोई विशेष नियम नहीं है , मेरी भक्ति के सन्निधान को जो प्राप्त करता है, वह ही धर्म है, । सत्त्व गुण की वृद्धि होने से भक्ति होतीहै, सात्त्विक पदार्थोंके सेवन से ही सात्त्विक वृद्धि होती है । गुणत्रय वृद्धि हेतु ये सव है, आगम शास्त्र जल, प्रजा देश काल कर्म जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार ।

सात्त्विकी ही सेवा करें, जिस से सत्त्व की वृद्धि होवे । निवृत्ति शास्त्र की सेवा करें, नतो प्रवृत्ति शास्त्र न तो पाषण्ड शास्त्र का अभ्यास करें, तीर्थ जल ही ग्रहण करें, गन्धोदक सुरा प्रभृति का ग्रहण न करें । निवृत्त जन की सेवा करें, प्रवृत्त दुराचारकी सेवा न करें, एकान्त स्थान की सेवा करें, वाजार प्रभृति स्थान में न रहे । ब्राह्म मुहूर्त्तादि समय ही ध्यान के लिए प्रशस्त है, निशीथ प्रदोष का वर्ज्जन करें, नित्य कर्मका ही अनुष्ठान करें काम्य अभिचार कर्म का वर्ज्जन करें, जन्म—वैष्णव शैवदीक्षा ग्रहणकरें; शाक्त एवं क्षुद्र दीक्षा ग्रहण न करें , श्रीविष्णुका ध्यान करें, किन्तु कामिनी और विद्वेषी का ध्यान न करें, प्रणवादि मन्त्र का अभ्यास करें, काम्य क्षुद्र मन्त्र का अभ्यास न करें । आत्म शोधक ही संस्कार है, गृहादि देह गेहादि शोधक को संस्कार कहा नहीं जाता है„ महावाक्य के अभ्यास से भी ज्ञान होगा, किन्तु वह ज्ञान परिपूर्ण नहीं होता है, सत्त्व वृद्धि से भक्ति होगी और भक्ति से देह द्वय

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२

पिवत भागवतरसमालयं

मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः ॥१।१।३

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतो गुणो हरिः ॥१।७।१०

अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा

वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥१।२।२२

तदधिगमउत्तरपूर्वाघयोरश्लेष विनाशौ तद्व्यपदेशात् ।४।१।१३

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः

क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनोश्वरे ॥१।२।२१

तत् कारणभूत गुण का विनाश होवे ऐसा ज्ञान होता है।

'स यो हैतत् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत' इस प्रकार षट् प्रश्नीमें एवं नृसिंह तापनीमें यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च' वर्णित है। यहाँपर किसी श्रुतिमें मुक्ति पर्यन्त ओर कहीं कहीं मुक्ति के अनन्तर भी उपासना का उपदेश देखने में आता है। अतः संशय होता है कि जब मुक्ति के लिए ही साधन है, तब मुक्ति होने के पश्चात् उपासना की आवश्यकता क्या है? इस प्रकार संशय के उत्तर में कहते हैं—मोक्ष पर्यन्त उपासना की आवश्यकता तो है ही है, मोक्षके पश्चात् भी उपासना की प्रयोजनीयता है, कारण "सर्वदैनमुपासीत यावद्विमुक्तिः" मुक्ता अपि ह्येनमुपासते" इत्यादि सौपर्ण श्रुति में मुक्ति के बाद भी उपासना का विधान देखा जाता है, विधि एवं फल के अभाव से मुक्त में उपासना निरर्थक है, ऐसी भी कहा नहीं जा सकता है, यहाँपर वस्तु का माधुर्य्य ही ऐसा है, कि मुक्त गण अनवरत श्रीहरिकी उपासना करते रहते हैं, जैसे पित्तरोगाक्रान्त व्यक्ति पित्त नाश के लिए मिश्री का सेवन करता है, और पित्त नाश हो जाने पर भी उसे सेवन करता ही है; उसी प्रकार श्रीहरि की उपासना सर्वदा ही हो सकती हैं। भगवद् भक्ति रस निगुण व्यक्तिगण भगवद् रसका सेवन मोक्ष में भी निरन्तर करें ॥

श्रीहरि के गुणमें आकृष्ट होकर आत्मारामगण भी श्रीहरिभक्ति का भजन अनुष्ठान नित्य ही करते हैं॥

इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ।४।१।१४

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिचः करोत्येधांसि भस्मसात्
तथा मद्विषया भक्ति रुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥११।१४।१८

विद्या साधन का विचार करने के पश्चात् उस के फल का विचार आरम्भ करते हैं, छान्दोग्य में उक्त है, 'यथा पुष्कर पलाश आपो न श्लिष्यन्ते एतमेव विदि पापं कर्म न श्लिष्यते ' तद्यथैषीकातूल मग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते '' यहाँपर संशय है कि—क्रियमाण संचित पाप भोग द्वारा क्षय होगा । अथवा विद्याद्वारा नष्ट होताहै, स्मृति में उक्त है कि विना भोग के कोटि कल्प में भी कर्म्म का क्षय नहीं होता है, स्वकृत कर्म का शुभाशुभ फल अवश्य भोक्तव्य है, इन सब प्रमाण से निश्चय होता कि भोग से ही कर्म का क्षय होता है, ज्ञानी की प्रशंसा के लिए विद्या का फल श्रुति में वर्णित है, इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, ' तदधिगम ' ब्रह्म विद्या प्राप्त होने पर उत्तर क्रियमाण पाप का नाश तथापूर्व सञ्चित पाप का विनाश भी हो जाता है, क्योंकि यथा पुष्कर पलाश '' इत्यादि वाक्यद्वय से उस को ऐसा ही कहा गया है; श्रुति के अर्थ में संकोच नहीं है, नाभुक्तं क्षीयते कर्म ये सब वाक्य अज्ञ पर है, ।

ज्ञान का वर्णन करते हैं, चित् जड़ रूप ग्रन्थि अहङ्कार नाश होता है असम्भावना विपरीत भावनादि संशय भी नष्ट हो जाताहै,अनारब्धादि फलद कर्म समूह विनष्ट हो जाते है जब स्वरूप आत्मा में ईश्वरका दर्शन ज्ञान द्वारा होताहै ॥

बृहदारण्यक में उक्त है " उभेउहैवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनीति " यहाँपर लब्ध ब्रह्मानुभव व्यक्ति क्रियमाण तथा सञ्चित समस्त पुण्य पापों से उत्तीर्ण हो जाता है, यहाँपर संशय है कि—उत्तर पूर्व पापों के समान उत्तर पूर्व पुण्यों का अश्लेष विनाश होते हैं किम्वा नहीं है ? वैदिकत्व हेतु विद्या के साथ अविरोध रूप पुण्य का अश्लेष विनाश न होकर भोग के साथ क्षय होगा, प्रतिबन्धक रहने पर भी विद्या की उत्पत्ति से मुक्ति होती है, यह अयौक्तिक है, इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं—'इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ॥

उत्तर—पूर्व पुण्य का भी विद्या द्वारा पापके समान अश्लेष विनाश होता है,पुण्य वैदिकत्व के कारण उस का विद्याके साथ विरोध नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण स्वर्गादि पुण्य का फल है, और विद्या का फल मोक्ष है, और मोक्ष का बाधक स्वर्गादि हैं, वास्तविक पुण्य शुद्ध नहीं है, सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते '' इत्यादि छान्दोग्य वचन में पुण्य को भी पापों के मध्य में

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।४।१।१५

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थ शुभाशुभयो
र्गुण विगुणान्वयास्तर्हि देहभृताञ्च गिरः
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ।।१०।८७।४०

कहागया है, " यथैधांसि समृद्धोऽग्निः ' . इत्यादि गीता के वचन में सञ्चित कर्म मात्र का क्षय देखा जाता है, अतएव पापों के समान अनारब्ध प्रारब्ध पुण्यों का भी विनाश सिद्ध हुआ है। सूत्रस्थ ' तु ' शब्द निश्चयार्थक है, प्रारब्ध नाश होने पर ही मुक्ति होगी यह वचन युक्ति युक्त है।

सुन्दर प्रज्ज्वलित अग्नि जिसप्रकार काष्ठ राशिको भस्मीभूत कर देती है, उस प्रकार मद् विषयिणी भक्ति समस्त पापों को विनष्ट कर देती है, ।

सञ्चित पाप पुण्य का विनाश होने पर शरीर पात होगा, इस अवस्था में ब्रह्मज्ञ के लिए उपदेश-प्रदान भी असम्भव होगा ? इस का परिहार के लिए कहते हैं,—(अनारब्ध) सूत्रस्थ ' तु ' शब्द शङ्काच्छेद के लिए है, पूर्व संचित पाप है, वह यदि अनारब्ध कार्य एवं अनुत्पादित फल होता है, तो भी विद्या द्वारा विनष्ट हो जाता है, किन्तु आरब्ध कार्य एवं उत्पादित फल का विनाश क्रिया द्वारा नहीं होताहै, क्योंकि ' तदवधेः ' ' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ' यह श्रुति एवं त्वदवगमी नवेत्तिभवदुत्थ शुभाशुभयो गुं ण विगुणान्वया स्तर्हिदेह भृतां च गिरः, इत्यादि स्मृति उक्त विषय में प्रमाण है, अर्थात् परमेश्वर की इच्छा से ही प्रारब्ध नाश की अवधि कही गई है, यद्यपि अति वलिष्ठा विद्या निःशेष रूप से समस्त कर्मका नाश करती है, तथापि उप देश के लिए ब्रह्म विद् के देह ईश्वरेच्छा से रहता है, इस प्रकार प्रतिबन्धक रहने पर वह्नि की दहन शक्ति कुण्ठित होती है, वैसा ही विद्या कुछ कर्म को नष्ट न करने पर भी हानि नहीं है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं—आरब्ध फल कर्माशय का आश्रय न करने से विद्या का उदय की सम्भावना नहीं है। कुलाल चक्र के समान कर्म वेग को निवृत्ति की अपेक्षा कर्म फलाश्रित देह में देखने में आतीहै,.जैसे वेग क्षय होने पर चक्र स्वयं ही स्थिर हो जाता है, उस प्रकार फलावसान में कर्म की स्वयं निवृत्ति हो जाती है, तव विद्या की शक्ति प्रकाशित होतीहै, किन्तु इस प्रकार कथन उचित नहीं है, कारण विद्या अतिबलवती है, वह समस्त वेग की निवृत्ति करसकतीहै; भगवद् इच्छाको छोड़कर वहअन्य किसीसे कर्मरुद्ध नहीं

अग्नि होत्रादि तु तत् कार्य्यायैव तद्दर्शनात्।४।१।१६

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रिय लोलता
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रम विड़म्बनाः
देवमाया विमूढ़ास्तानुपेतानुकम्पया ।।७।१५।३८-३६
अग्निहोत्रञ्च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्
चातुर्म्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ।।११।१८।८
एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकमुपैति माम् ।।११।१८।६

होता है। गुरुतर प्रस्तर के पतन से चक्र भ्रमण रुद्ध हो जाता है, उस प्रकार विद्या के उदय से कर्म की निवृत्ति अवश्य होगी। अतएव ईश्वर की इच्छा से ही देह स्थिति संगत होती है।

जो व्यक्ति श्रीभगवान को जानलेता है, वह श्रीभगवद्दत्त सुख दुःख का अनुभव कर नहीं पाता, देह के अवस्थान कर्म नाश होने पर भी ईश्वर की इच्छा से होता है।

ब्रह्म विद् का पुरातन पुण्य नाश होता है, काम्य के समान नित्य कर्म का भी विनाश होता है, उस का निरास करने के लिए वर्त्तमान प्रकरण का आरम्भ है, " उभे उहैवेष एते तरति " यहाँपर काम्य कर्म के समान अग्नि होत्रादि नित्य का भी नाश विद्या से होता है अथवा नहीं ? वस्तुशक्ति के द्वारा उभय का ही नाश सम्भव है, इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर समाधान के लिए कहते हैं—अग्निहोत्रादि सूत्रस्थ "तु" शब्द शङ्का निवारण के लिए है, विद्योदय के पहले अनुष्ठित अग्नि होत्रादि विद्या रूप फल के लिए होते हैं, कारण तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति इत्यादि श्रुतिमें उक्त प्रकार कही गई है। अतः नित्यकर्म से भिन्न पुरातन कर्म का विनाश होता है, सूत्रका अर्थ इस प्रकारहै। नित्य कर्मका नाश नहींहै, वह केवल फल उत्पादन मात्र कर शान्त ही जाता है, गृहदाह से तपायमान व्यक्ति यदि ध्याम से ही दाह को बुझावे तब दाह शान्त नहीं होता जलादि प्रदान से ही अग्नि शान्त होती है, कर्मणा पितृलोकः इत्यादि बृहदारण्यक वचन से स्वर्गप्रद यज्ञ कारी अंश का नाश विद्या से अवश्य होता है।।

गृहस्थ का क्रियात्याग वटु के लिए व्रत त्याग, तपस्वी की ग्रामसेवा

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।४।१।१७

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिचः करोत्येधांसि भस्मसात्
तथा मद्विषया भक्ति रुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥११।१४।१६
अनिमित्ता भागवती भक्तिसिद्धे गंरीयसी
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥३।२५।३३

और भिक्षु की इन्द्रिय लोलता ये सव आश्रम का घातक हैं, एवं नट आश्रमी है यह सव देवमाया विमूढ़ हैं, मुनि के लिए वेदके अनुशासनहै कि—वे अग्नि होत्र दर्श पूर्ण चातुर्म्मास्य प्रभृति पूर्ववत् ही करें, इस प्रकार चीर्ण व्रताचरण कारी मुनि तपोमय मूर्त्ति मुझ की आराधना कर ऋषि लोक में मुझ को प्राप्त करते हैं।

ईश्वर संकल्प से विद्योपदेशक की प्रारब्ध कोस्थिति दिखाई गई है, अनन्तर कुछ निरपेक्ष व्यक्ति का प्रारब्ध भी भोग के विना ही नष्ट हो जाता है, ' तत् सुकृत दुष्कृते विधुनते तस्य प्रियाज्ञातय: सुकृतमुपयन्त्य प्रिया दुष्कृतं इति " कौषितकिन: पठन्ति शाट्यायनिनस्तु तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृद: साधुकृत्यां द्विषन्त: पापकृत्यां कौषितकी में पाठहै कि विद्वान् व्यक्ति के सुकृत को उस के प्रिय ज्ञातिगण भोग करते हैं, तथा दुष्कृति को अप्रिय ज्ञातिगण भोग करते हैं, उस का पुत्रगण पाप भोग करते हैं, सुहृत सकल सुकृत भोग करते हैं, इस प्रकार शाट्यायनिगण पाठ करते हैं।

यहाँपर संशय यह है कि—प्रारब्ध पुण्य पापों का भोग के विना नाश प्रतीत होता है, यदि भोग ही कर्म का स्वभाव हो तो तव भोग के विना उस का नाश स्वीकार करना उचित नहीं होगा इस प्रकार संशय में उत्तर प्रदान करते हैं—अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभययो:' ब्रह्मनिष्ठ परमातुर निरपेक्षव्यक्तिकेलिए भोग के विना ही पाप पुण्य का विश्लेष होता है, ईश्वर इच्छासे प्रारब्धस्थित होता है, इस श्रुति से ही उक्त सिद्धान्त हुआ है। अन्य श्रुतिभी एक शाखा में तत् सुकृत दुष्कृते " कहतीहै, इसकाअभिप्राय यह है कि ज्ञान तथा भोग के द्वारा कर्म विनष्ट होता हैं, और विना भोग से क्षय नहीं होताहै, इसप्रकार दोनों श्रुति में जो भेद दृष्ट होता है, उस का समाधान हैं—तदधिगमात् सूत्र में कहा गया है, विशेष पाप कर्म का काम्यत्व स्वीकृत नहीं है, अत: अतिप्रिय दर्शन हेतु अति आतुर किसी भक्त को निज दर्शन दान विलम्ब से असहिष्णु होकर पुण्य को प्रिय जन में वितरण करदेते हैं, और पाप को उन शत्रुयों में वंट देते हैं। और उन भक्त को समीप में रखते हैं। विशेषाधिकरण में इस विषय को फिरसे कहेंगे।

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८

असेवयायं प्रकृते र्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन
योगेन मर्य्यपितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे३।२५।२७
अथो विभूति मम माययाचितामैश्वर्य्यमष्टाङ्ग मनुप्रवृत्तम्
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां
परस्य तेऽश्नुवते तु लोके ॥३।२५।३७

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ।४।१।१६

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥३।२५।३३

उन ज्ञातियों के द्वारा उनके सुकृत भोग होनेपर प्रारब्ध सुकृतादि भोग से नष्ट होते हैं, कुछ लोक ऐसा भी सिद्धान्त मानते हैं। पाप पुण्यों की मूर्त्ति नहीं हैं, उसको दूसरेको देना कैसा सम्भवहोगा ? ऐसी शंका नहीं हो सकतीहै ईश्वर समर्थ है, और सव कुछ कर सकते हैं, अतएव किसी किसी परमआतुर भक्तों के विना ही भोग से प्रारब्ध का विनाश होता है।

समृद्ध अग्नि जैसे लकड़ी को ज्वला देती है, वैसा ही भक्ति भी समस्त कर्मनाश कर देती है।

अनिमित्ता भक्ति सिद्धि से भी श्रेष्ठा है, जठरानल जैसे भोजन कोपचा देती है वैसे ही भक्ति समस्त कर्मको नाश कर देती हैं ॥

भक्तों के लिए प्रारब्ध किस प्रकार अन्यगामी हो सकता है ? इस प्रकार असम्भावना का निरास के लिए कहते हैं—जो विद्या द्वारा कृत होता है वह ही वलवत्तर होता है, इत्यादि श्रुति विद्या का प्राधान्य कहती है, हि यस्मात् कारण विद्या की सामर्थ्य कभी भी रुकती नहीं हैं श्रीहरि की प्रसन्नता से प्रारब्ध का क्षय तो होता ही है, और विचित्र भोग का अधिकारी भी होता है।

प्रकृति के गुणों के सेवन न करने पर विद्या द्वारा जीव इस देह में ही मुझ श्रीहरि को अवरुद्ध कर सकता है।

उस में विद्यावान् के लिए कुछ अधिक लाभ भी होता है, वह यह है, अविद्या निवृत्ति के अनन्तर सत्यलोकादिगत सम्पत्ति अणिमादिसिद्धि एवं वैकुण्ठ गत सम्पत्ति भोग का अधिकारो न चाहने पर भी जीव होता है।

उस के वाद क्या होता है इस को कहतेहैं —

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्न वक्त्रारुण लोचनानि
रूपानि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ।।३।२५।३५

*** चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ***

——:**:——

* ब्रह्मसूत्रस्य श्रीमद् भागवतभाष्यम् *

*** चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ***

——:**:——

वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ।।११।१६।४२
तस्मान्मनो वचः प्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः
मद् भक्ति युक्तया बुद्धया ततः परि समाप्यते ।।११।१६।४४

प्राप्तव्य पार्षद शरीर के अतिरिक्त स्थूल सूक्ष्म शरीर के विनाश पूर्वक पार्षद शरीर प्राप्त्यनन्तर सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" वह निखिल भोग करता है, इत्यादि श्रुति के कथनानुसार वह जीव भोगसम्पन्न होता है।

अनिमित्ता भागवती भक्ति सिद्धि से भी श्रेष्ठा है, क्यों वह सत्वर ही जठरानल की भाँति निखिल प्रारब्ध को विनष्ट कर देती है, और वह पार्षद, देह प्राप्तकर परमेश्वरानुभव रूप सुख को भी प्राप्त करलेता है, परमेश्वर के साथ कथोपकथन आदि विविध प्रेम पूर्ण व्यवहार भी सदा ही करपाता है, ।

इति श्रीमद् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास प्रणीते श्रीमद् भागवत भाष्ये ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः

—:**:—

*** अथ द्वितीयः पादः ***

अग्रिम पाद में देवयानगति कहनेका अभिप्राय से इस पाद में विद्वानों की देह से उत्क्रान्ति प्रकार के विषय में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। छान्दोग्य वर्णित है, अस्य सभ्य पुरुषस्य हे सौम्य ! इस पुरुष के गमन समय में वाक्य

अतएव सर्वाण्यनु ।४।२।२

वाचं जुहाव मनसि तत् प्राण इतरे च तम् ।.१।१५।४१

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३

वाचं जुहाव मनसि । तत् प्राण इतरे च तम् ।।१।।१५।४१

मन में सम्पन्न होता है, मन प्राण में प्राण तेज में तेज पर देवता में सम्पन्न होता है ? अथवा स्वरूप में ?• ये सव पृथक् पृथक् वृत्तिके होते हैं, अतएव वे सव निज निज प्रकृति के द्वारा मन में सम्पन्न होते हैं, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—'वाङ्मनसी' वाङ् स्वरूप से ही मन में सम्पन्न होती है, कारण वाणी उपरत होनेपर भी मन की क्रिया रहती है, 'वाङ्मनसीसम्पद्यत' उक्त विषयमें यह प्रमाण भी है, अन्यथा शब्दार्थ प्रक्रिया नष्ट होगी। प्रमाणान्तर भी नहीं जिस से वाणी की वृत्ति कल्पना हो, मन और वाणी में भेद होने के कारण दोनोंमें ऐक्य की सम्भावना नहीं हैं, वैसा भी नहीं कहा जा सकता है, कथन का अभिप्राय इस प्रकार है कि मन के साथ वाणी का संयोग ही होता है, किन्तु उस में सम्पूर्ण रूप से लीन नहीं होतीहै। अतएव भिन्न प्रतीति के होने पर भी मन में वाक्य का स्वरूप संयोग होता है।

वाणी का संयमन करो मनको संयत करो वुद्धिसे वुद्धिका संयमन करो फिर संसार में आना नहीं पड़ेगा। अतएव महाप्रिय व्यक्ति मन वुद्धि वाणी को संयत करते हैं, एवं मेरी भक्ति को प्राप्त कर सफल काम होते हैं।

कारण वाणी का संयोग मन के साथ हीहै, अग्निके साथ नहीं है, अतः समस्त इन्द्रिय मन के साथ संयुक्त होतेहैं, प्रश्नोपनिषद् में वर्णित है—तस्मादुपशान्त तेजाः पुनर्भवमिन्द्रियै र्मनसि सम्पद्यमानै र्यच्चित्तस्तेनेष प्राण आयाति यथा गार्ग्य मरीचयोऽस्तंगच्छतोऽर्कस्य सर्वा एतस्मिंस्तेजो मण्डले एकी भवन्ति ताः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।

अर्थात् देह से उत्क्रमण के पश्चात् तेजउपशान्त कारी जीव पुणर्जन्म प्राप्त करता है, तव वह समस्त इन्द्रियों से युक्त मनके साथ ही आताहै, प्राण भी मन के साथ आता है, अस्त के समय जैसे समस्त किरण एकीभूत होकर सूर्य में रहतीं है, और सूर्य्योदय के समय ये सव एकीभूय उदित होतीं है, उसी प्रकार इन्द्रिय वृत्तियों उस के प्रधान मन के साथ एकीभूय रहती है।

इस का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—वाणी को मन में स्थापन किया, यह उपलक्षण है, अर्थात् समस्त इन्द्रियों के स्थापन मन में किया था क्योंकि मन सव के राजा हैं॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४

त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः
सर्वमात्मन्यजुहोवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ।।१।१५।४२

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।४।२।५

मन प्राण में लीन होता है, सम्प्रति इसका विचार आरम्भ कर रहे हैं, मन चन्द्रमा में अथवा प्राण में लीन होता है ? मनश्चन्द्र " इस श्रुति के अनुसार चन्द्र में ही लीन होना सम्भव है इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं, ' तन् मनः प्राण उत्तरात् " सर्वेन्द्रिय के साथ मनः प्राण में लीन होता है, कारण उत्तर वाक्य मनः प्राणे इस प्रकार हैं, " यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि वागप्येति " इत्यादि वाक्य में मृत व्यक्ति के वागादि अग्नि में सम्पन्न होते हैं कथित है, वह वाक्य गौण है भगवान् सूत्रकार ने भी कहा है, अग्न्यादि गति रिति श्रुते स्िति चेन्न भाक्तत्वात् " सर्वेन्द्रिय मन में लीन किया था और मन प्राण में लीन होता है, मन की प्राणाधीन वृत्तिहै, ' तच्च मनः प्राणे प्राणाधीन वृत्तित्वात् ।। अनन्तर प्राण में मन का लय किया ।

प्राण ओर तेज का विचार करते हैं, वह इन्द्रिय मन प्राण तेज में सम्पन्न होता है अथवा जीव में इस प्रकार जिज्ञासा में प्राण तेज में ही सम्पन्न होता है, इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर उत्तर करते हैं—सोऽध्यक्षे ।

वह प्राण देह एवं इन्द्रियादि का अधिष्ठाता जीव में सम्पन्न होता है, कारण श्रुति में इस प्रकार वर्णन है, वृहदारण्यक में उक्त है—' तद्यथा राजान ' प्रयियासन्त मुग्राः प्रत्येनसः सुता ग्रामण्य उपसमीयन्त्येवं हैवं कि सर्वे प्राण उपसमीयन्ति यत्रैतदूर्द्धोच्छ्वासो भवतीति ' जैसे राजा गमनोद्यत होने पर सैन्य सामन्त सारथिवर्ग सेनापति अर्थात् उनके अनुगमन करते हैं; उसी प्रकार प्राण इन्द्रिय वर्ग के साथ जीव का अनुगमन करता हैं, इस से प्राण का जीव का ही अनुगमन कारित्व पुष्ट हुआ है । " प्राण तेज में सम्पन्न होता है" इस प्रकार श्रुति वाक्यके साथ उस का कोई विरोध नहीं है, कारण जीव के साथ सम्पन्न होकर अनन्तर तेज में सम्पन्न होताहैं, इस प्रकार कहना होता है, यमुना गंगा के साथ मिलित होकरे सागर में जातीहै, यहाँपर यमुना सागर को जाती है ऐसा भी कहा जाता है ।

इस प्रकार गुणत्रयमें देह को अर्पण किया, और गुण त्रय को अविद्या में और उस को जीवात्मा में लीन किया था, इस प्रकार शोधित आत्मा को ब्रह्म में लीन किया हैं ।

सर्वभूतमयो विश्वं सर्वेदं स पूर्ववत्॥२।८।३८
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥१०।१।३९-४०

नैकस्मिन् दर्शयतो हि।४।२।६

एकायनोऽसौ द्विफल स्त्रिमूल
श्चतुरसः पञ्चविधः षड़ात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥१०।२।२७

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य।४।२।७

सम्प्रति तेज विषयक विचार प्रस्तुत करते हैं, प्राण के साथ जीव तेज में सम्पन्न होता है, अथवा संहतपञ्च भूत में? प्राण गत होने पर तेज में सम्पन्न होना ही ठीक है, इस प्रकार कथन के उत्तर में समाधान करते हैं, भूतेषु तच्छ्रुतेः" जीव प्राणत्याग करने के पश्चात् पञ्च भूत में सम्पन्न होता है। केवल तेज में नहीं। कारण उक्त श्रुति में जीव को आकाशमय वायु मय तेजोमय आपोमय पृथिवीमय रूप में कहा गया है, जीव सर्वभूतमय है,

सर्वभूतमयने पूर्ववत् ही इस विश्व का सृजन किया था, देही जीव पूर्व देह का त्याग कर ही उत्तर देह को प्राप्त करता है, इस में दृष्टान्त यह है कि जैसे तृणजलौका अपर एक तृण को ग्रहण कर ही पूर्व तृण का त्याग करता है, वैसे ही जीव पञ्च भूत के साथ ही प्राण का त्याग करता है।

और भी है—केवल तेज में ही जीव का अवस्थान सम्भव नहीं हैं। यहसब विषय प्रश्नोत्तार द्वारा निरूपण होगा। प्रतिपादन भी किया गया है, तदनन्तर प्रतिपत्तौ," इस सूत्र में, अतएव प्राण का सम्मिलन जीव द्वारा पञ्च भूत में ही होता है।

द्वैत प्रपञ्च का वर्णन करते हैं, छेदन योग्य ही वृक्ष है, जो कि समष्टि देह रूप हैं, इस का आश्रय प्रकृतिहै, सुख दुःख फल है। गुणत्रय ही मूल है, धर्म अर्थ काम मोक्ष चार रस हैं। पञ्चेन्द्रिय ही ज्ञान साधक है, ज्वरा व्याधि शोक दुःख क्षुधा पिपासा ये छै तरङ्ग हैं, सप्त धातु हैं, पञ्च भूत मनो

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्
तत उदगादनन्त तवधाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१०।८७।१८

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।४।२।८

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशोमुरारेः
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् १०।१४।५८
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्य्यात् कथारतिम् ॥१।२।१५

वुद्धि अहङ्कार ये आठ शाखाएँ हैं नव द्वार हैं, दश प्राण पत्ररूप हैं जीव एवं ईश्वर दोनों ही देह में रहते हैं ।

तथाच श्रुतिः—शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ् गन्या उत्क्रमणे भवन्तीति व्याख्यायां श्रीधरस्वामिधृता श्रुतिः ।

अनन्तर उक्त वाक्यमें विचारान्तर प्रदर्शन करतेहैं, इसप्रकारउत्क्रान्ति अज्ञ की होती है, अथवा विज्ञ की ? " सर्वेयदा प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवति " उक्त श्रुति में मर्त्योऽमृतो भवति " उक्त श्रुति में मर्त्योऽमृतो भवति "ब्रह्म समश्नुते " वर्णित होने से विज्ञ की उत्क्रान्ति नहीं होती अज्ञ की ही उत्क्रान्ति होती है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं, समाना" सूत्रस्थ "च " शब्द अवधारणार्थक है, विज्ञ और अज्ञ की उत्क्रान्ति एक रूप ही है, केवल नाड़ी प्रवेश में ही पार्थक्य है, अज्ञ व्यक्ति एकशत नाडी द्वारा गमन करता है, और विज्ञ एक नाड़ी द्वारा गमन करता है । अतएव मूर्द्ध देश पर्यन्त विस्तृत नाड़ी द्वारागमन ही विज्ञ विषयक है, तदन्य अज्ञविषयक है ।

पूर्वोक्त नाड़ी अमृतत्व प्राप्ति का है, दूसरी नाड़ी संसार प्राप्ति की होती हैं, उत्क्रमण के पहले विज्ञ का अमृतत्व प्राप्त करने का जो कथन है, वह विज्ञ के लिए देह सम्बन्ध का पोषण कर ही पूर्वोत्तर पापों का विश्लेष एवं विनाश रूप हैं ।

जो जीव स्वल्पानन्द पूर्ण ससार का भजन करता है; वह कूर्पदृशः कहलाताहै, ये नाड़ी हृदयस्थ है । शिरःस्था नाड़ी अनन्त अमृतत्व का स्थान है, उस को प्राप्त करने के पश्चात् संसार नहीं होता है ।

सूक्ष्म प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।६

देहेन जीव भूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥
जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रिय मनोमयः
तन्निरोधस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥३।३१।४३-४४

उपरोक्त अर्थ का विस्तार करते हैं, " तदापीतेः " जिस समय विज्ञजन का शरीर सम्बन्ध दग्ध नहीं होता है, उस अवस्था का नाम ही निष्पाप एवं अमृत है, कारण आपीतेः " ब्रह्म साक्षात् कार पर्यन्त ही शरीर सम्बन्ध रूप संसार कहा गया है। वह साक्षात्कार देवयान पथ द्वारा सम्व्योम पद जाकर ही होता है, यह प्रसङ्ग वेदान्त में सुप्रसिद्ध हैं।

श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमार्थ हैं, और उन के श्री चरण आश्रय ही अयत्न सिद्ध मोक्ष है, जिन के यश ही पवित्र है, उन के पद पल्लव प्लव का सम्यक् रूप से जो जन आश्रय ग्रहण करता है, वह पद महतों का भी एक मात्र अवलम्वनीय है। उन सवों के लिए भवाम्बुधि वत्स पद के समान हो जाता है, और वैकुण्ठ स्थान प्राप्ति भी होती है, विपद का विषय कभी भी उन के लिए नहीं उपस्थित होते हैं, अर्थात् वैकुण्ठ से कभी भी उन का पुनरा वर्त्तन नहीं होता है।

भक्ति भिन्न अपर साधन केवल श्रमजनकहै। भक्ति ही मुक्ति दायक है, जिस के अनुध्यान ही असि खड़ग है, उस से युक्त विवेकी जन कर्म बन्धन का छेदन अनायास ही करलेते है, इस प्रकार श्रीहरि कथा में कौन व्यक्ति प्रीति नहीं करेगा।

इस जगत् में विद्वान्का शरीर सम्बन्ध दग्ध नहीं होता है, सूक्ष्मशरीर से ही अनुवर्त्तन होता है, कारण है—"कि–प्रमाणेति " जो विद्वान् देवयान पथ से गमन करता है, " तं प्रति ब्रूयान् सत्त्यं ब्रूयात् " इस चन्द्रमा वचन प्रमाण से देह सम्बन्ध उपलब्ध होता है, अतएव अदग्ध देह सम्बन्ध विद्वान् का ही अमृतत्त्व निर्णीत हुआ है।

जीव का संसार वासना से होता है, और कर्म वश से एक लोक से लोकान्तर गमन भी होता है। उस को जन्म मरण करते हैं, यहाँपर शंका होती है कि व्यापक जीव का लोक से लोकान्तर, गमन, एवं नित्यं जीव के जन्म मृत्यु कैसे सम्भव होवे ? भोग से कर्म क्षय होने पर जन्म मरण ही कैसे हो अतएव कर्माधीन जन्म उस के लिए कैसे सम्भव होवे ?

नोपमर्देनातः ।४।२।१०

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च विचेष्टितम्
नातिदीर्घेन कालेन भगवान् विशते हृदि
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेन स्वानां भावसरोरुहम्
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ।।२।८।४-५-६

तस्यैव चोपपत्तेरुष्मा ।४।२।११

उत्तर—लोकान्तर गमन एवं कर्म उस के लिए सम्भव है, जीवोपाधि रूप लिङ्ग देह से लोक से लोकान्तर गमन कर अविरत कर्म करते रहते है, इस प्रकार कर्म की समाप्ति नहीं होती है, जीव—जीवोपाधि रूप लिङ्ग देह उस का अनुवर्त्ती होकर जीव गमन करता है, वह भूतेन्द्रिय मनोमय स्थूल भूतादि विकार देह रूप भोगायतन है, उन दोनों का निरोध कार्यायोग्यता ही जीव का मरण है, और कार्य योग्यता ही सम्भव अर्थात् जन्म कहाजाताहै ।

अतएव ' यदा सर्वे ' यह श्रुति देह सम्बन्ध नाश के पश्चात् अमृतत्व नहीं कहती है । अर्थात् देह सम्बन्ध यथावत् रहने के समय ही विद्वान् का निष्पापत्व सम्पन्न होता है ।

श्रद्धा पूर्वक श्रीहरि कथा श्रवण एवं धारण करने पर प्रयत्न के विना ही भगवान् श्रवण कारी के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, भाव सरोरुह हृदयकमल में प्रविष्ट होकर श्रीहरि उस के समस्त मालिन्य का परिष्कार करदेते हैं, इस में दृष्टान्त देते हैं, जैसे शरत् काल समस्त नदी के जलों को परिस्कार करदेता है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण हृदय में प्रविष्ट होकर ही हृदयस्थसमस्त पाप राशि को विनष्ट कर देते हैं, निर्मली के द्वारा जल शुद्ध होता है, किन्तु वह मालिन्य नीचे रह जाता है, विलोड़न से पुनर्वार जल में मालिन्य आजाता है, वैसे तपोदान आदिद्वारा सविशेष पाप नष्ट नहीं होता है; किञ्चित् अवशेष रह जाता है, अनन्तर वह व्यक्ति कृतार्थ होता है, धौतात्मा निष्पापः व्यक्ति श्री कृष्ण पाद मूल को छोड़ता नहीं है, राग द्वेषादि समस्त परिग्रह परित्याग कर एकमात्र श्रीकृष्ण चरण शरण लेता है, जैसे पथिक प्रवास से आकर अपने गृह में रहता है, उस को छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण कथा श्रवण कारी व्यक्ति भी श्रीकृष्ण चरण को छोड़ता नहीं है ।

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥३।३१।४४
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयाऽस्तधीः ॥३।३०।१८
यातना देह आवृत्य पाशैर्बद्धागले बलात्
नयतो दीर्घमध्वानं दण्डंच राजभटा यथा ॥३।३०।२०

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ।४।२।१२

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रिय मनोमयः
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥३।३१।४४

मृत्यु के पूर्व स्थूल देह में उष्णता आती है, वह सुक्ष्म देह की ही है। जीवित कालमें उष्णता रहतीहै, मरणके समय शरीर की उष्णता नहीं रहती है, अतएव सूक्ष्म देह की ही उष्णता है, मानान्तर के लिए 'च' शब्द सूत्र में दिया गया है, अतएव अज्ञ के समान विज्ञ भी उष्णता से अनुमित सूक्ष्म देह के साथ शरीर से उत्क्रमण करता है।

जन्म मरण प्रक्रिया जीव की कहते हैं, जीवोपाधि लिङ्ग देह के जीव कहा जाता है, इस के ही अनुगमन कारी पञ्च भूत इन्द्रिय मन प्रभृति स्थूल भूतादि विकार ही भोगायतन देह है,उसका निरोध होना कार्य की अयोग्यता होना ही मृत्यु है। कार्य करने में योग्यता ही जन्म है॥

अस्त बुद्धि जन अत्यन्त वेदना से प्राणत्याग करता है, उस समय राज कीय पुरुष जिस प्रकार दण्डनीय व्यक्ति को बंधकर ले जाता है, उसी प्रकार ही अधिकारी यमदूत जीव का यातना देह लिङ्ग शरीर को ले जाता है।

सम्प्रति आशङ्का प्रदर्शन द्वारा समाधान करते हैं। विद्वान् की उत् क्रान्ति नहीं होती है, " अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति " वृहदारण्यक की इस श्रुति द्वारा उक्त प्रकार निष्पन्न होता है। ऐसा कहा नहीं जा सकता है। देह से प्राण की उत्क्रान्ति कहींपर निषिद्ध नहीं हुई है। किन्तु जीव का शरीर सम्बन्ध निषिद्ध हुआ है। देह से प्राण का उत्क्रमण सर्वत्र अविशेष रूप से ही होता है,।

सूक्ष्म देह के साथ भोगायतन देहमें सक्रियता प्राप्ति का नाम जन्म है, और निष्क्रियता प्राप्ति ही मृत्यु है, जो जन काम अर्थके लिए स्वधर्म का दोहन नहीं कहताहै, एवं अनासक्त होकर कर्म करताहै, वे लोक सूर्य्यद्वार से विश्वतो

निवृत्तिधर्म निरता निर्म्ममा निरहङ्कृताः
स्वधर्माप्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा
सूर्य्य द्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतो मुखम्
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥३।३२।६–७

स्पष्टो ह्येकेषाम् ।४।२।१३

पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षड्ङ्घ्रिवत्॥११।१५।२३
पार्ष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्द्धसु
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण–ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत् तनुम् ॥११।१५।२४

स्मर्य्यते च ।४।२।१४

उदरमुपासते य ऋषि वर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदय आरुणयो दहरम्

मुख पुरुष को प्राप्त करते हैं।

उक्त विषय में विवाद का अवसर नहीं है, माध्यन्दिन शाखा में शरीर से प्राण की उत्क्रान्ति नहीं होती है, ऐसा कहा गया है, ' न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्तेब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति " प्राण का उत्क्रमण नहीं होता है, प्राण उस में लीन होता है, ब्रह्म भूत का ब्रह्म में पर्य्यवसान है, यहाँपर ' एव ' शब्द से ब्रह्म में पर्यवसान सुस्पष्ट है।

काण्वाम्नाय के आर्त्त भाग के प्रश्न पर याज्ञवल्कच के उत्तर से जो विद्वान् के प्राण का अनुत्क्रमण देखा जाता है वह परम आर्त्त एकान्त भक्तों के विषय में जानना होगा। निर्विशेष ब्रह्म ध्यान कारी के लिए अनुत्क्रमण होता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण उक्त अर्थ सूचक कोई वाक्य वेद में नहीं है, विशेष कर कल्पित निर्विशेष वाद असिद्ध है।

पिण्ड देह को छोड़ कर लिङ्ग शरीर से वायु रूप धारण कर भृङ्ग के जैसे पुष्पान्तर में गमन करता है, उसी प्रकार अन्यत्र प्रवेश करो। पिण्ड को छोड़ कर अन्यत्र गमन का प्रकार कथनानन्तर स्वच्छान्द मृत्यु प्रकारभी कहते हैं, पार्ष्णि द्वारा मलद्वार रोधकर प्राणोपाधि आत्मा को ब्रह्मरन्ध्र से निष्कासित करे। ब्रह्म में लीन करने के लिए अथवा अन्यत्र लीन करने के लिए उत्क्रमण करे।

" ऊर्द्ध्वमेकः स्थित स्तेषां यो भित्वा सूर्य्यमण्डलम् ब्रह्मलोकमति

तत उदगादनन्त तव धामशिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१०।८७।१८

तानि परे तथा ह्याह ।४।२।१५

वाचं जुहाव मनसि तत् प्राण इतरे च तम्
मृत्यावपानं सोत्सगं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ।
त्रित्वे हुत्वा च पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः
सर्वमात्मन्यजुहवीत् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥१।१५।४१-४२

अविभागो वचनात् ।४।२।१६

न तत्रात्मा स्वयं ज्योति र्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः
आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्
एवं समीक्ष्य चात्मानमात्मन्याधाय निष्कले १२।५।८–११

क्रम्य तेन याति परागतिम् " यह स्मृति विद्वान् की मूर्द्ध नाडी से उत्क्रान्ति कहती है। अतएव विद्वान् की भी उत्क्रान्ति है।

"तानि तेजः परस्याम्" इस श्रुति के अनुसार वागादि इन्द्रियाँ प्राण तथा भूत समूह सर्वात्मभूत परं ब्रह्म में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही सबका उपादान है, यस्मात् कारण "तेजः परस्यां देवतायां" यह श्रुति भी उस प्रकार कहती है, "यत्रास्य पुरुषस्यैष श्रुति जहत्स्वार्थ पर है; पूर्व प्रकरण में कहागया है।

वाणी तथा समस्त इन्द्रिय का विलापन किया, और मन को प्राण में विलीन किया मन की वृत्ति प्राणाधीन है,, अपानको मृति की अधिष्ठातृ देवता में लीन किया, गुण त्रय में पञ्चत्व देह को, त्रित्व को एकत्व में अविद्या में इस प्रकार समस्त आरोपका कारण अविद्याको आत्मा जीव में लीन किया॥

अनन्तर उक्त विषय में विचारान्तर आरम्भ करते हैं। परमात्मा में विद्वानों की प्राणादि सम्पत्ति कही गई है, वह कथा संयोग मात्र है, अथवा नदी समुद्र के समान मिलन है? अविशेष अभिधान के हेतु संयोग ही युक्त है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तरमें कहते हैं। "अविभागो वचनात्" अचिन्त्य शक्ति विशिष्ट परमात्मा में प्राणादिका अविभाग तादात्म्यापत्ति हीहै, कारण

तदोकोऽग्रज्वलनं तत् प्रकाशित द्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।४।२।१७

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्नया ब्रह्म पथेन शोचिषा ।
विधुतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥२।२।२४

षष्ठ प्रश्न में " एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़शकलाः पुरुषायनाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति " अर्थात् इस प्रकार इस पुरुष के प्राणादि कलासमूह पुरुष को प्राप्त होकर लीन होते हैं, इत्यादि वाक्य से प्राणादि कलाओंका परमात्मा में संयोग कह कर पुनः " भिद्यते चासां नाम रूपे पुरुषः " इस वचनसे नाम रूप का भेद कहा गया है, इस का अभिप्राय यहहै कि स्थूल शरीरसे उत्क्रान्त पुरुष का सूक्ष्म शरीर भी विद्या द्वारा विप्लुष्ट होकर जीर्ण करीषपिण्ड के समान जीव का अनुगामी होता रहता है, जब जीव ब्रह्माण्ड के सप्तावरण को भेद कर अष्टम आवरण होकर अप्राकृत ब्रह्म प्राप्ति योग्य देह प्राप्त होकरब्रह्म में मिल जाता है ।

दीप के समान अज्ञान का नाश होता है, आत्मा स्वयं ज्योति स्वरूप है, उस का नाश नहीं होता है, आत्मा व्यक्त एवं अव्यक्त से भिन्न है, स्थूल सूक्ष्म देह से भिन्न आत्मा है ।

मैं ब्रह्म का ही हूँ। जो ब्रह्म वह मैं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार चिन्ता से शोकादि की निवृत्ति होती है, 'ब्रह्माहम्' इस प्रकार भावना से ब्रह्म के पारोक्षत्व विदूरित होता है, निरुपाधि ब्रह्म में अहङ्कार निवृत्ति के अनन्तर जीव की अन्तर्भुक्ति होती है ।

अनन्तर विद्वानों की उत्क्रान्ति में विशेष रूप का वर्णन करते हैं, पूर्वोक्त " शतञ्चैका च नाड्यः " वाक्यमें शताधिक एक नाड़ी द्वारा विद्वान्की गति एवं एकशत नाड़ी द्वारा अविद्वान की गति का निर्णय हुआ है, सम्प्रति यह युक्त है अथवा नहीं ? इस प्रकार संशय होता है, नाड़ी समूह अति सूक्ष्म और संख्या में अनेक होनेपर उस का विवेचन कर एक का ग्रहण कर गमन करना असम्भव है, अतएव यह युक्त नहीं है, और भी " नाड़ी द्वारा उर्द्धगत व्यक्ति अमृतत्व का लाभ करता है। इसमें विशेष कोई नाड़ी की उक्ति नहीं

रश्म्यनुसारी ।४।२।१८

सूर्य्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।।२।३२।७

निशिनेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।४।२।१६

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ।।११।२५।३०
येनेमे निर्ज्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ।।११।२५।३२

है, अतएव जिस किसी एकनाड़ी का आश्रय से उर्द्धगमन से मुक्ति होती है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं।

विज्ञव्यक्ति एकशत नाड़ीके अतिरिक्त रविरश्मिके साथएकभूतसुषुम्ना नामक एक विशेष नाड़ी द्वारा गमन करता है, इस नाड़ी का विवेचन उस के लिए असम्भव नहीं है, विद्या के सामर्थ्य से विद्वान् उस का परिज्ञान करलेता है, भगवत् कृपा इस में प्रधान सहायक ही है। अतएव उक्त नाड़ी के पहचान में कोई क्लेश नहीं होता है। स्मृति में कथित है, विद्याशेषभूता गति लाभ होनेपर अतिवाहक देवतागण उस विद्वान् पुरुषको उस पद में ले जाते हैं, उस समय वागादि इन्द्रियां उपसंहृत हो जाती है, अतएव विद्वान् के लिए श्रीहरि कृपा से हृदय मन्दिर द्वार प्रकाशित हो जाता है, विद्वान् श्रीहरि की कृपा से प्रकाश मान उस नाड़ी को पहिचान लेताहै, तथा उसके द्वारा ब्रह्म लोकगमन करता है, अतएव विद्वानों का सुषुम्नामार्ग में गमन युक्त हैं।

विद्वान् आकाश पथ से ब्रह्म लोक पथ से जाते समय प्रथम वैश्वानर अग्न्यभिमानी देवता को प्राप्त करता है, वह भी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ही गमन करता है, वह देह के वाहर भी ज्योतिर्मय रूप से विस्तृत है। उस के उपर वर्त्तमान श्रीहरि सम्बन्धि तारा रूप नारायण अधिष्ठान शिशु मार के आकार ज्योति श्चक्र एवं ध्रुव पद को प्राप्त करता है ।।

दिवा रात्रि जिस किसी समय विद्वान् की मृत्यु होने पर वे सूर्य्य रश्मि के अवलम्बन से ही गमन करते हैं !

परिपूर्ण पुरुष को वे सव विद्वान् सूर्य्य द्वार रूप मार्गसे प्राप्त करते है।

रात्रि में मृत्यु होने पर विद्वान् की उत्तम गति नही होनी चाहिए, उस समय सूर्य्य रश्मि नहीं रहती है ? इस प्रकार कहा नहीं जाता हैं, कारण

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।४।२।२०

धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः
यो योगिनश्छन्द मृत्युर्वाञ्छितस्तुत्तरायणः १।६।२६

योगिनः प्रति स्मर्य्यते स्मार्त्ते चैते ।४।२।२१

स्थिरं सुखञ्चासनमास्थितो यति
यंदा जिहासुरिममङ्गलोकम्

जवतक शरीर है, तवतक रश्मि का सम्बन्ध भी रहेगा। जिस किसी समय मृत्यु क्यों नहींहो, सूर्य्यकी स्थिति सवसमय रहतीहै, छान्दोग्यमें इसका प्रमाण भी है, " ये सव रश्मियाँ आदित्यसे प्रसृत होतीं हैं, नाड़ी में इन का सम्बन्ध रहता है; फिर ये सव नाड़ी से निष्क्रान्त होकर सूर्य्य के साथ सम्बन्ध प्राप्त होते हैं, शरीर के साथ सम्बन्ध सदा रहताहै, अतएव जीव इनके साथ गमनागमन करता है, अतएव विद्वान का गमन रश्मि के अनुसार है,

संसार के हेतु द्रव्य देश फल काल ज्ञान कर्म कारण प्रभृति त्रैगुण्य है, जो जन उक्त गुणत्रय को जय किया है, एवं भक्ति योग द्वारा श्रीप्रभु को अपनाया है, वह ही मोक्ष का अधिकारी होता हैं।

अनन्तर कुछ विचार्य विषय उपस्थित हो रहा है—दक्षिणायन में मृत्यु होनेपर विद्वान् विद्याफल का अधिकारी होगा अथवा नहीं ? उत्तरायन को ब्रह्मलोक मार्ग रूप में कहा गया है, भीष्म प्रभृति ने भी प्राण त्याग के लिए उत्तरायन की अपेक्षा की है,, अतएव दक्षिणायन में मृत्यु होने पर विद्या का अधिकारी वे सव नहीं होंगे। इस के उत्तर में कहतेहैं, अतश्चायनेऽपि दक्षिणे अतः विद्याका पाक्षिक फल नहीं है, प्रतिबन्धक कर्म का क्षय होने पर विद्वान् दक्षिणायन में भी विद्या का फल प्राप्त करेंगे। अतएव इस के विषय में पूर्व पक्ष करना अनुचित है। उत्तरायन शब्द से आतिवाहिक देवता की विवक्षा है, आगे इस के विषय मेंकहेंगे। भीष्म ने जो अपेक्षा की थी वहपितृदत्त स्वच्छन्द मृत्यु को प्रकाश करने के लिए एवं आचार प्रतिपालन के लिए ही रही। धर्म प्रवचन के समय ही उनका काल उपस्थित हुआ था स्वच्छन्द मृत्यु वाले भीष्मजी के लिए जो उत्तरायन कालवाञ्छित था।।

" यत्र कालेत्वनावृत्तिमावृत्तिंचैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ इस प्रकार उपक्रम के पश्चात् " शुक्ल कृष्णे गति ह्यते जगतः शाश्वते मते एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्ततेपुनः जगत् में दो प्रकार गति है, एक शुक्ला दूसरी कृष्णा, एक से पुनरावृत्ति नहीं होती दूसरी से

देशे च काले च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥२।२।१५

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः

—:**:—

*** चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ***

—:**:—

अर्चिरादिना तत् प्रथिते ।४।३।१

निवृत्तिधर्मनिरता निम्ममानिरहङ्कृताः
स्वधर्मात्तेन सत्वेन परिशुद्धेन चेतसा

पुनरावृत्ति होती हैं,अतएव मोक्ष के लिए समय निदिष्ट हुआ है, अतएव रात्रि अथवा दक्षिणायन में मृत्यु होने पर उत्तरायन तथा दिन में मृत्यु के साथ उस की समता नहीं हैं। इस शङ्का का उत्तर देते हैं—" योगिनः " योगिनः- ब्रह्मनिष्ठ के लिए चन्द्रगति नहीं है और अचिरादि गति उपादेय है, कहागयाहै, गीता में भी उक्त है " नैते सृती पार्थजानन् योगी मुह्यति कश्चनः। " योगीं दोनों गति को जानने पर मोह को प्राप्त नहीं होता , विद्वान् व्यक्ति का कोई काल विशेष का नियम नहीं है, किन्तु उन उन शब्दसे अतिवाहिक देवतागण का कथन हुआहैं, भगवान् सूत्र कार ने भी कहाहै, आतिवाहिका स्तल्लिङ्गात् दिवस' शुक्लपक्ष, उत्तरायन आदि काल विशेष प्रशस्त है और तदितर अप्र शस्त है, यह विषय अज्ञ विषयकहै,विज्ञ व्यक्ति जिस किसी समय शरीर त्याग करने पर भी श्रीहरि के सान्निध्य प्राप्त करता है।

स्वेच्छा पूर्वक देह त्याग करने की रीति को कहते है, इस प्रकार यति यदि देह त्याग करने की इच्छा करें तो देश पुण्यक्षेत्र काल उत्तरायन प्रभृति में मन की आसक्ति न रखे। योगि की सिद्धि हेतु देश एवं काल नहीं है, किन्तु योग ही है,इस प्रकार निश्चयकर अभीप्सित विषय में मनोधारण करें।

इति ब्रह्म सूत्रस्य श्रीकृष्णद्वैपायन कृत श्रीमद् भागवत
भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादःसमाप्तः

—:**:—

*** अथ तृतीयः पादः ***

वर्त्तमान पाद में ब्रह्मलोक प्राप्ति का मार्ग एवं प्राप्य ब्रह्म स्वरूप का

सूर्य्य द्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्यन्त भावनम् ॥३।३२।६।७
अग्नि सूर्य्यो दिवा प्राह्णः शुक्लोराकोत्तरं स्वराट्
विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञ स्तुर्य्य आत्मा समन्वयात् ।७।१५।५४

निरूपण करते हैं। "अथ यदू चैवास्मिन् शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिष मेवाभिसम्भवत्यर्चिषोऽहरह आपूर्य्यमाणम्" इत्यादि छान्दोग्य के प्रकरण में कथित है, ब्रह्मोपासकों की मृत्यु होनेपर उनके पुत्र अथवा शिष्यादि उनका शव सम्बन्धिका संस्कार करे अथवा न करे वे सव निज अक्षय उपासना फल से आर्चिरादि मार्ग द्वारा श्रीधाम को जाते हैं, वे पहले अर्चिरादि देवता, अनन्तर अहरादि देवता, पश्चात् पक्षाभिमानी देवता, उस से उत्तरायनादि अभिमानी देवता, वत्सराभिमानी देवता, आदित्य, चन्द्रमा, एवं विद्युत् लोक में गमन करते हैं, यहाँपर अवस्थान के समय ब्रह्मलोक से समागत उन के सम्बन्धान्वित अमानव पुरुष उन उपासकों को ब्रह्मलोक ले जाते हैं। यह देवपथ है, इस मार्ग से जाकर ही ब्रह्म प्राप्त होते हैं, इसलिए इस मार्ग को ब्रह्मपथ कहते हैं, इस मार्ग से ब्रह्म प्राप्त जन का मानव लोक में पुनरागमन नहीं होता है। यह अर्चि प्रथम मार्ग सुना जाता है, कौषीतकी ब्राह्मण में कथित है,पहले विज्ञजन देवयान मार्गसे अग्निलोक अनन्तर वायु लोकअनन्तर क्रम से वरुण, इन्द्र, प्रजापति लोक होकर ब्रह्म लोक गमन करता है, यहाँपर अग्नि को प्रथम कहा गया है, कहींपर वायुलोक को पहले कहा गया है तो कहीं सूर्य के द्वारा विरजा में जाते हैं, ऐसा कहा गया है, इस प्रकार प्रभेद देखने में आता है सम्प्रति संशय है कि वह मार्ग अनेक है अथवा एक, भिन्न भिन्न होने के कारण भिन्न भिन्न होना ही सङ्गत है। इस के उत्तर में कहते हैं सकल विद्वान् ही पहले अर्चिरादि मार्ग का अवलम्वन द्वारा ब्रह्मलोक में गमन करते हैं, पञ्चाग्नि विद्या प्रकरणमें विद्यान्तर शालियोंका भी अर्चिरादि मार्ग द्वारा गमन कथन है। स्मृति में उक्त है कि दोमार्ग प्रसिद्ध है, ज्ञानियों का अर्चिरादि मार्ग और कर्मियां का धूमादिमयमार्ग है। यहाँपर बिसदृश देखने में आता है वहाँ गुणोपसंहार के समान उक्त के समान उक्त वचनों का भी समाधान करना आवश्यक होगा, कारण प्रकरण भेद होनें पर भी विद्या एक है, इस प्रकार अवधृति भी रश्मि प्राप्त पर ही है।

निरहङ्कार व्यक्तिगण सूर्य द्वार से ब्रह्मलोक गमन करते हैं, अग्नि सूर्य दिन प्राह्ण शुक्ल पक्ष का अन्त उत्तरायन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।४।३।२

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्त्तते ।।७।१५।५५

तड़ितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ।४।३।३

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भुत्वानुपूर्वशः
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्त्तते ।।७।१५।५५

ब्रह्मलोक में भोग के अवसानमें विश्व स्थूलोपाधिका विलापन सूक्ष्ममें करके सूक्ष्मोपाधि तैजस होगा। सूक्ष्म को कारण में लोन करने पर कारणोपाधि प्राज्ञ होगा कारण को साक्षी स्वरूप में लोन करने पर तुर्य होगा, इस सव का लय होने पर शुद्ध आत्मा होकर मुक्त होता है ।।

सम्प्रति वाक्यान्तर में पठित वायु आदि के अर्चिरादि मार्ग में सन्निवेश है उसे दिखाने के हेतु प्रकरण आरम्भ कररहे हैं ।

"स एतं देव यानं" वह व्यक्ति देवयान पथ को प्राप्त होकर अग्निलोक एवं वाद में वायुलोक में गमन करता है। इत्यादि वाक्य में श्रुति वायुका आर्चिरादि मार्ग में सन्निवेश हो सकता है अथवा नहीं ? इसप्रकार आशङ्का से क्रमभङ्ग होने के कारण उस में सन्निवेश न होना ही उचित है, इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तरमें कहतेहैं "वायु मब्दादविशेषविशेषाभ्याम्" । आर्चिरादि वाक्य में संवत्सर के आगे एवं आदित्य के पहले वायु शब्दका सन्निवेश होता है। कारण "स वायु लोकं" वाक्य में अविशेष में उपदिष्ट वायु शब्द का यदा ह वै पुरुषोऽस्मात् लोकात् इत्यादि वाक्य में उक्त आदित्य का पूर्ववर्त्तित्व रूप में विशेष करके उपदेश है। इस प्रकार होने पर मासेभ्यो देवलोकात् आदित्य" इत्यादि वृहदारण्यक उक्त देवलोक भी वायु ही जानना होगा।" योऽयं पवन एष एव देवानां गृहं" इति देवनिबास स्थान रूप में कहा गया है, अपर का मत है देवलोक भी एकमार्ग विशेष का सङ्केत है। यह देव लोक संवत्सर के आगे एवं वायु के पहले सन्निविष्ट होगा। मास एवं सम्बत् सर के मध्य में वह नहीं रह सकता है, उनका परस्पर सम्बन्ध प्रसिद्ध है, इस प्रकार सम्वत्सर एवं आदित्य के मध्य में देवलोक एवं वायु लोक का भी सन्निवेश करना आवश्यक है ।

" स वरुण लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं" इसवाक्य पर विचार किया जा रहा है, इस वाक्यस्थ वरुण लोक अर्चिरादि पर्व में सन्निवेश होगा अथवा नहीं ? वायु के समान इस का व्यवस्थापक वचन के अभाव हेतु

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।४।३।४

निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्त्तनम्
भर्त्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसा पतन् ।।६।१।३०

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः
विभ्राजयद्दशदिशोराकापतिमिवोदितम्
तत्रानुदेवप्रवरौ चतुर्भुजौ
श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ
किरीट हाराङ्गदचारुकुण्डलौ ।।४।१२।१९।२०

सन्निवेश नहीं, इस प्रकार कथनका उत्तरदेते हैं—" तड़ितोऽपि " "चन्द्रमसो विद्युतं " इस वाक्य में चन्द्रमा के आगे जो विद्युत् कहा गया है, उस के आगे वरुण शब्द का सन्निवेश होता है, विद्युत् और वरुण का परस्पर सन्निवेश है, विद्युत् होने पर ही वृष्टि होती है, वेद में उक्त है—" जब मेघ के उदर में विशाल विद्युत् एवं भयानक शब्द नृत्य करता है, तब वर्षा होती है, विद्युत् के पश्चात् जल होता है, और जल का अधिपति वरुण है, अतएव विद्युत के साथ वरुण का सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है, वरुण के आगे इन्द्र और प्रजापति का निवेश है, कारण उन के प्रवेश का और स्थान नहीं है, पाठ भी वैसा ही है, इस प्रकार अर्चिरादि से प्रजापति पर्यन्त द्वादश पर्वत्रयोदर्श पर्व ब्रह्म लोकी पद्धति है।

अर्च्चिरादि विचार के पश्चात् इस विषय में विचारान्तर प्रस्तुत करते हैं, पूर्वोक्त अर्चिरादि पर्वसमूह सोपान रूप है अथवा व्यक्ति विशेष है ? अथवा ब्रह्म प्राप्ति कराने वाले देवता विशेष है ? चिह्न के सादृश्य होने के कारण उस को मार्ग का चिह्न रूप में कहना ही ठीक होगा। लोक में प्रसिद्ध भी है पुर से निकल कर नदी का आना उस के पीछे पर्वत है, उस के अनन्तर आभीर पल्ली है। अथवा वाचनिक हेतु वे सव नामत व्यक्ति विशेष है, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—" आतिवाहिका: आतिवाह में पुरुषोत्तम भगवान् द्वारानियुक्त वे सव अर्च्चिरादि देवता गण हैं, वे सव चिह्न अथवा देवता विशेष नहीं है। कारण आतिवाहिक शब्द गमन कारी के लिए पथ प्रदर्शक का वाचक है " तस्मात् तत् पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति " इस वाक्य से ब्रह्म लोक प्राप्त कराने के लिए सहकारी व्यक्ति का हीवोध होता है, वह अमानव दूत ही है जो परमेश्वर द्वारा नियुक्त है।।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ।४।३।५

श्रीसुनन्दनन्दावुचतुः

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाचो नोऽवहितः श्रृणु
यं पञ्चवर्षस्तपसा भवान् देवमतीतृपत्
तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतु त्वां भगवत् पदम् ४।१२।२३–२४

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।६

निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्त्तनम
भर्त्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन् ।।६।१।३०

अजामिल के मुख से श्रीहरिनाम कीर्त्तन सुनकर श्रीहरि के पार्षदगण आकर उपस्थित हुए थे, कारण उसने उनके प्रभु का नाम ही लिया था ।।

ध्रुवने देखा एक विमान आ रहा है, और उस से निकल ते हुए देव प्रवर सुनन्दनन्द को भी देखा, जो श्यामवर्ण चतुर्भु ज किशोर अरुणाम्वुज के समान नेत्र वाले थे, किरीट हार अङ्गद चारु कुण्डल गदा एवं सुन्दर वसन से सुशोभित थे । ध्रुवने पुण्य श्लोक के किङ्कर जानकर उनको प्रणामकिया।।

चिह्न और व्यक्ति विशेष इन दोनों पक्षों की असिद्धि के लिए ऐसा स्वीकार करना होगा—इस उद्देश्य से कहते हैं, रात्रि में मृत्यु होनेपर दिवस के सम्बन्ध का अभाव होता है, अतएव अर्चिरादि की अनवस्था होती है, अत एव उस को मार्ग चिह्न नहीं कहा जा सकता हैं, जड़ होने के कारण उस में नेतृत्व भी नहीं आ सकता है, इस प्रकार उभय पक्ष असङ्गत हो गये हैं, विशेषतः श्रुति प्रसिद्ध होने के कारण वे सब आतिवाहिक देवता ही है ।

श्रीसुनन्दनन्दने कहे थे, हे राजन् ! हमारी वाणी को अवहित होकर आप सुने, आपने पञ्चवर्षवयक्रम के समय ही श्रीहरि को प्रसन्न किये ।। अखिल जगत् नियन्ता मुरली मनोहर देव के हम दोनों पार्षद हैं, और श्री भगवत् के सन्निकट में आप को ले जाने के लिए उनके द्वारा हम दोनों प्रेषित हुये हैं ।

श्रीभगवान् पुरुषोत्तम द्वारा प्रेरित अमानव पुरुष अर्चिः स्थान पर्यन्त आकर उपासकों को ले जातेहैं, अथवा विद्युत् पर्य्यन्त आकर ले जाते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में " भूतल पर्य्यन्त आकर अजामिजादि को ले गये थे " इस

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।४।३।७

ये चापरे योगसमीरदीपित
ज्ञानाग्निना रन्धितकर्म्मकल्मषाः ।।८।२१।२
ववन्दिरे यत् स्मरणानुभावतः
स्वायम्भुवं धामगता अकर्मकम् ।।८।२१।३

विशेषितत्वाच्च ।४।३।८

ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्द्धनि सर्वशः
सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने ।।८।५।१८

लिए उनका अर्चिचः पर्य्यन्त आकर ले जाना सिद्ध हैं। इस पूर्व पक्ष का उत्तर में कहते हैं " वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः "।

विद्युत् प्राप्ति के अनन्तर पार्षदगण विद्युत् पर्य्यन्त आकर उपासकों को ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। कारण " चन्द्रमसो विद्युतं " वाक्य से विद्युन् पर्य्यन्त आगमन का कथन है, वरुणादि उनके सह कारी मात्र हैं, यह पद्धति साधारणी है, अजामिल को ले जाना विशेष नियम है ऐसा जानना होगा।

म्रियमाण अजामिल के मुख से श्रीहरिनाम कीर्त्तन सुनकर सहसा ही श्रीभगवत पार्षद वहाँपर आगये थे,

इस प्रकार गति का वृत्तान्त कह कर गम्य पदार्थ को कहते है, " स एतान् गमयतीति विषय वाक्यम् " इस में प्रथम वादरि मत को कहते हैं, अमानव परब्रह्म को प्राप्त कराते हैं, इस वाक्य में पर ब्रह्म शब्द से पर ब्रह्म धाम, अथवा ब्रह्मलोक का ग्रहण होगा ? जिज्ञासा के उत्तर में परब्रह्म शब्द मुख्यतया परब्रह्म का ही वोधक है, अमृतत्व लाभ भी उर्द्धलोक गमन से ही सम्भव है, अतएव पर ब्रह्म धाम का वोध होता हैं, इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—

" कार्यं वादरिरस्य गत्युत्पत्तेः " कार्य ब्रह्म लोक अर्थात् चतुर्म्मुख ब्रह्म लोक में जाना सम्भव है " वादरि मुनि कहते है, कारण अपरिच्छिन्न परब्रह्म धाम में गमन असम्भव है, कार्य के एक देशित्व होने का कारण परिच्छिन्न प्राप्त कार्य रूप ब्रह्म धाममें अर्थात् चतुर्म्मुख ब्रह्मा जी के धाममें गमन युक्ति युक्त है।

योग समीरण द्वारा उद्दीपित ज्ञानाग्नि द्वारा जिह्नोंने कर्म कल्मष को विनष्टकर चूके है, वे सव श्रीप्रभुके स्मरणानुभाव से कर्मसे अप्राप्य स्वायम्भुव धाम को गये।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।९

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥४।२४।२९

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।१०

द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते
तावदध्यासते लोकं परस्य परिचिन्तकाः
क्ष्माम्भोनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भुः ॥३।३२।८–९

" प्रजा पतेः सभां वेश्मप्रपद्ये " प्रजापति की सभामें गए " इत्यादि छान्दोग्य श्रुति से कार्य ब्रह्म का कथन है।

सवव्यक्ति ब्रह्म सभामें जाकर प्रणामकर परमेष्ठी को निवेदन किये थे ॥

" स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्म लोकेषु पराः परावन्तो वसन्ति। तेषां दहन पुनरावृत्तिरस्ति " बृहदारण्यक की इस उक्ति से ज्ञान होता है कि वह अमानव पुरुष विद्युल्लोक में आकर ब्रह्मलोक को ले जाताहै, वेश्रेष्ठ सब विद्वान् ब्रह्म लोकमें भगवच्छक्ति निष्ठ होकर वास करतेहैं, पुनर्वार उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती हैं, इस प्रकार पुनरावृत्ति निषेध वचन सामीप्य अभिप्राय से ही है, सब विद्वान् व्यक्ति कार्य ब्रह्म को प्राप्त होकर उन के साथ उनसे व्यवधान रहित पर ब्रह्म की प्राप्ति होतीहै उस से फिर नहीं लौटते है।

स्व धर्म निष्ठव्यक्ति अनेक जन्मके पश्चात् विरिञ्चताको प्राप्त करता है, उस से भी अतिशय पुण्योदय होने से मुझ शिव को प्राप्त करता है, भागवत गण देहान्त में प्रपञ्चातीत वैष्णव पद को प्राप्त करते हैं, अधिकारी व्यक्ति गण अधिकार के बाद लिङ्ग भङ्ग के अनन्तर उस लोक को त्याग करते हैं,

कब ब्रह्म लोक गमन करते हैं? इस के उत्तर में कहते हैं, " कार्य्यात्यये " कार्यरूप चतुर्म्मुख ब्रह्मा के लोक पर्यन्त ब्रह्माण्ड प्रलय प्राप्त होने से उस के अध्यक्ष ब्रह्मा जी के साथ पर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, सह प्राप्ति के प्रति

स्मृतेश्च ।४।३।११

एवं परेत्य भगवन्त मनु प्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्मप्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ३।३२।१०

परं जैमिनि मुंख्यत्वात् ।४।३।१२

अथ तत् सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्
श्रुतानुभावशरणं व्रज भावेन भाविनि ३-३२।११

हेतु हैं, अभिधानात् "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" ब्रह्मवित् परधाम को प्राप्त होता है, इस प्रकार उपक्रम कर "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा ब्रह्मा के साथ समस्त कामना को भोग करता है—इस प्रकार कहा गया है, यहाँ ब्रह्मणाशब्द का अर्थ है, चतुर्म्मुख ब्रह्मा, उन के साथ जानना होगा। ब्रह्मा का द्विपरार्द्ध काल का अवसान होनेपर जो प्रलय होता है, उस समय उपासक गण ब्रह्मा के स्थान पर जा कर अवस्थान करते हैं, पृथिवी आदि पञ्चभूत, मन इन्द्रिय समूह अर्थशब्द प्रभृति, भूतादि अहङ्कार आदिके साथ युक्त होकर सृजन कर्त्ता ब्रह्मा के पास जाते हैं, । जव ब्रह्मा ईश्वर में लीन होते हैं तव वे लोक भी उन के साथ ही लीन होते हैं।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रति सञ्चरे परस्यान्ते कृतात्मानः प्रवि शन्ति परं पदं" स्मृति में उक्त है कि प्रलय होने से वे सव ब्रह्मा जी के साथ परम पद की प्राप्त होते हैं, तथा "अर्च्चिषम्" इत्यादि वाक्य से अर्च्चिरादि सकल देवता उपासक पुरुष को चतुर्म्मुख ब्रह्मा जी के लोक को जाते हैं, यह वादरि मुनि का मत हैं।

इस प्रकार अति दूरवर्त्ती स्थान ब्रह्म लोक में जाकर जो लोक हिरण्य गर्भ में प्रविष्ट होते हैं, वे लोक उन के साथ ही अमृत परमानन्द रूप पुराण पुरुष को प्राप्त होते हैं, इस के पहले नहीं, कारण उस समय उन सव का अभि मान दूर नहीं हुआ हैं। तथा च स्मृति ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमिति।

उक्त विषय में जैमिनि मुनि का मत कहते हैं, परब्रह्म ध्यानकारी परब्रह्म को प्राप्त करताहै, ऐसा जैमिनि जी मानते हैं। ब्रह्मशब्द मुख्य वृत्ति से परब्रह्म का वाचक हैं; गति का असम्भव नहीं है, भगवान् अपने भक्त को

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियै ब्रह्मनिर्गु णम्
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मणा।
यथामहानहंरूपस्त्रिवृत् पञ्चविधः स्वराट्
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगत् यतः
एतद्वै श्रद्धया भक्तचा योगाभ्यासेन नित्यशः
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्तः परिपश्यति
इत्येतत् कथितं गुर्व्बि ! ज्ञानं तद्द ब्रह्मदर्शनम्
येनावबुद्धचते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥३।३२।२६–३१

दर्शनाच्च ।४।३।१३

उदर मुपासते यत्रृषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमम्
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्त मुखे ॥१०।८७।१८

स्व चरणार विन्द की प्राप्ति कराते है, और सव उपाधि से मुक्त भी करते हैं॥

पराङ्मुख व्यक्तिगण जिस को शब्दादि द्वारा पृथक् पृथक् देखते हैं, वे सव ही एक निर्गु ण ब्रह्म ही प्रतिभातहैं, महत् अहङ्कार त्रिवृत् त्रिगुणात्मक मूल भूत रूप में पञ्चविध, इन्द्रिय रूप में एकादश विध, स्वराट् जीव जीव का शरीर, जगत् ये सव एक तत्त्व से ही प्रकाशित है, अज्ञ जन उनको नहीं जानते है, यह ज्ञान ही ब्रह्म दर्शनात्मक है, जिस से प्रकृति पुरुष का यथार्थ तत्त्ववोध भी होता है।

भगवद् भक्तगण क्रम मुक्ति को अतिक्रम द्वारा सीधा भगवत् स्वरूप को ही प्राप्त करते हैं, अतएव हृदय कमलमें उन प्रभु कोध्यान करो, एवं सव भाव से उनकी शरण लो।

दहर विद्या में " सएष सम्प्रसादोऽस्माच्छरोरात् समुत्थाय " यह उपासक जीब इस शरीर से उत्क्रान्त होकर ब्रह्मलोक में गमन करता है, ऐसा वचन देखने में आता है, यह गति परब्रह्म विषयिणी है, गन्तव्य को अमृत रूप में कहा गयाहै, गमनकारी की स्वरूप प्राप्ति कही गई है। ये सव कार्य ब्रह्म में सम्भव नहीं है, प्रकरण भी परब्रह्म का ही, काठक में भी "शतं च' इस वाक्य में परब्रह्म प्राप्ति ही कहीं गई है।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।४।३।१४

स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्य्यः
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धि
रात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥३।३३।३

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण उभयथा च दोषात् तत् क्रतुश्च ।४।३।१५

अहोवत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते

बृहद् वस्तु की उपासना से पुनर्वार संसार दर्शन नहीं होता है, बृहद् वस्तु ही ब्रह्म हैं।

पुनर्वार कहते हैं, प्रतिपत्ति का अर्थ है ज्ञान, अभिसन्धि का अर्थ है—इच्छा, विद्वान की ज्ञान पूर्विका इच्छा कार्य विषयिणी नहीं होती है, कारण वह पुरुषार्थ नहीं है। किन्तु परब्रह्म विषयिणी होतीहै, जिस विषयमें इच्छा होती है प्राप्ति भी उस विषयिणी होतीहै। अतएव अमानवपुरुष गण पुरुषोत्तम उपासक को पुरुषोत्तम के समीप में ले जाते हैं।

आप ही सृष्टयादि समस्त करते हैं, गुण प्रवाह शक्ति द्वारा सृष्टि कार्य करते हैं, स्वयं अनीह निष्क्रियहैं, सत्य सङ्कल्प हैं, जीवों के भोग के लिये आप ईश्वर सब सृष्टि करतेहैं, आप अपरिमित शक्ति युक्तहैं, एवं एकमात्र प्राप्य हैं।

अनन्तर निजमत कहते हैं—नामादि उपासक प्रतीक उपासक, इन से भिन्न स्व निष्ठ प्रभृति ब्रह्मो पासक अप्रतीकोपसकगण को भगवान् निज धाम में ले जाते हैं, ऐसा भगवान् वादरायण मानते हैं। इस में कार्योपासक को अथवा पर ब्रह्मोपासक को ले जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है, पूर्वोक्त मत द्वय में ही विरोध है। प्रथम पक्ष में ' परं ज्योतिः आदि वाचक के साथ विरोध है,

द्वितीय पक्ष में पञ्चाग्नि विद्या विशिष्ट व्यक्तिके अर्च्चिरादि गति बोधक वाक्य समूह के साथ विरोध होता है, " यथा क्रतु " न्याय इस का ही पोषक

त्वं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक् स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसाध्वस्त गुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥३।३३।७–८

विशेषं च दर्शयति ।४।३।१६

अथैनं मापनयत कृत्वाशेषाघनिष्कृतम्
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥६।२।१३
ये दारागार पुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्
हित्वा मां शरणं याताः कथंतांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६।५।६५

है, नामानि उपासक अर्च्चिरादि गति से पर ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करते हैं, किन्तु तत्क्रतु न्याय से अव्यवधान से ब्रह्म प्राप्ति होती हैं, " स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य कामचारः " जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है, वह नाम की जहाँतक गति है, उस पद को लाभ करता है, छान्दोग्य श्रुति में इस प्रकार कथन है । पञ्चाग्नि विद्या वाले व्यक्ति आत्मानुसन्धान परायण होनेपर अर्चिरादि मार्ग द्वारा सत्यलोक गमन करते ,हैं अन्य नहीं । उस के उपर ब्रह्म लोक है, इस संवाद से उस लोक में उनकी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति होती है, अतएव अर्च्चिरादि मार्ग द्वारा गमन से अनावृत्ति होती है ।

श्रीभगवान् नाम ग्रहण से अन्त्यज भी उसी शरीर में तत् काल पवित्र होकर परम पूज्यत्व प्राप्त करलेता है । आश्चर्य का विषय है कि जिस की जिह्वा में आपका नाम उच्चारित होताहै; वह तप, होम तीर्थ स्नान सदाचार वेद अध्ययन जनित फल का सद्य प्राप्त करलेता है, आप का नाम कीर्त्तन में तप आदि अन्तर्भूत हैं, अथवा जन्मान्तर में तप आदि उसने किया था अत एव उस की जिह्वा में हरिनाम कीर्त्तन रूप महाभाग्योदय दृष्ट होता है ।

मैं ब्रह्म परम पुरुष विष्णु अन्तर्मनसे चिन्तनीय निज प्रभाव द्वारा विदूरित गुण प्रवाह को प्रणाम करता हूँ ।

निरपेक्ष किसी किसी व्यक्ति को भगवान् स्वयं ही अपने धाम में आनयन करते हैं, " ओं कारेणान्तरितं जो जपति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तं तस्यैवासौ दर्शयेदात्म रूपं " जो ओंकार से सम्पूटित गोविन्द के पञ्चपद मन्त्रका जप करता है भगवान उस को आत्मरूप दिखाते हैं, यहाँसंशय है कि एकान्त भक्तगण आतिवाहिक जन द्वारा परमधाम प्राप्त करते हैं, अथवा

तस्याखिलजगद्धातु रावां देवस्य शार्ङ्गिणः
पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत् परम् ॥४।१२।२४

* चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः *

—:*:—

* ब्रह्मसूत्रस्य चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः *

—:**:—

सम्पदाविर्भावः स्वेनशब्दात् ।४।४।१

यद्येषोपरता देवी माया वैशारदीमतिः
सम्पन्न एवेति विदु र्महिम्नि स्वे महीयते ॥१।३।३४

भगवान् के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं, परम धाम के लिए निर्दिष्ट दो मार्गहै, अतएव अर्चिरादि द्वारा ही भक्तगण परम धाम प्राप्त करते हैं, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं, " विशेषञ्च दर्शयति " आतिवाहिक द्वारा परम पद प्राप्ति सामान्य व्यवस्था है, निरपेक्ष आर्त्त भक्त के लिए श्रीभगवान स्वयं धाम में ले जाते है; अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सगरात् भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् । नयामि परमं स्थानमर्चिरादिं गतिं विना ।

मैं अर्चिरादि गति के विना ही गरुड़ द्वारा मेरे धाम में उन को ले आता हूँ। जिसने श्रीहरिनाम ग्रहण किया है, अतएव इसे यहाँपर मत लोओ। जो जन दारा आगार पुत्र आप्त वित्त को छोड़कर मेरा भजन किया है, उस की मैं कैसे छोड़ सकता हूँ। उन जगद् गुरु के हम दोनों भृत्य है, आप को उनके निकट ले जाने के लिए उन्होंने हमें भेजा है।

इति ब्रह्मसूत्रस्य श्रीमद् वेदव्यास कृते श्रीभागवत भाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः

—:**:—

*** चतुर्थः पादः**

वर्त्तमान पाद में मुक्त पुरुषों का स्वरूप निरूपण पुरः सर ऐश्वर्य्य भेदादि का निरूपण करते हैं। प्रजापति के वाक्य में उक्त है, एवमेवैष सम्प्रसादोऽ स्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योति रूप सम्पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्प

यत्रेमेसदसद्रूपे प्रतिसिद्धे स्वसंविदा
अविद्ययात्मनि कृते इतितद् ब्रह्म दर्शनम् ॥१।३।३३
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वच मात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणिते ऽपरिमेयभगः ॥१०।८७।३८
अकैतवे भक्ति सवेऽनुरज्यन् स्वमेव यः सेवकसात् करोति
ततोऽतिमोदं मुदितः सदेवः सदा चिदानन्दतनुर्धिनोतु
गोविन्दभाष्यम्

द्यते स उत्तमः पुरुषः संप्रसाद जीव शरीर से निर्गत होकर परंज्योति में सम्पन्न होकर निज स्वरूप में अवस्थान करता है, अभिनिष्पत्ति वाक्य से यह ज्ञात होता है। अन्यथा उक्त वचन व्यर्थ होगा। मोक्ष शास्त्र भी पुमर्थ प्रकाशक रूप में सार्थक नहीं होगा। यदि स्वाभाविक रूप सम्बन्ध को अभि निष्पत्ति कहेंगे तो स्वाभाविक स्वरूप की पहले स्वाभाविक प्रतीति नहीं होगी पुरुषार्थ भी नहीं होगा। अतएव साध्य के साथ सम्बन्धान्वित वह जीव है, इस प्रकार पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं—" सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् " ज्ञान वैराग्य निषेवित भक्ति द्वारा परम ज्योति सम्पन्न जीव का कर्मबन्ध नष्ट होता है" और वह गुणाष्टक विशिष्ट स्वरूप में अवस्थान करता है, स्वरूपा विर्भाव कहते हैं। कारण सूत्र में स्वेन शब्द का प्रयोग है, अर्थात स्वेन शब्द स्वरूप का विशेषण होने के कारण आगन्तुक रूप परिग्रह में उक्त शब्दका तात्पर्य होने से वह अनर्थकहोगा। जो स्वरूप नहीं है, उस का होने लगेगा इस से अभिनिष्पत्ति शब्द भी व्यर्थ नहीं होगा। वह भी सुनिष्पन्न आबि-र्भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह स्वरूप पहले था, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता है, उस प्रकार अवस्था का उदय पहले कभी नहीं हुआ है, उपाय की व्यर्थता भी नहीं कही जा सकती है, उस के उदय के लिए साधन की सार्थ कता है।

केवल अध्यास की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है, ऐसा कहना अनुचित है, " रसं ह्येवायं लब्धानन्दीभवति इस श्रुति में मुक्ति में आनन्दातिरेक का वर्णन है।

भगवत् माया ही संसृति के प्रति कारण है, उस की विद्यमानता में ब्रह्म को प्राप्त करना असम्भव ही है, इस लिए कहतेहैं, यदि अर्थात् विशारद सर्वज्ञ ईश्वर की भक्ति से जब संसार चक्र प्रवर्त्तन कारिणी उन की शक्ति माया का अपसारण होगा तब वह विद्या रूप में स्थित होकर जीवोपाधि को दग्ध कर स्वयं उपरत हो जाती है, वह जीव सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मस्वरूप

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं न यत्रभूयः परिवर्त्त उग्रः १।३।३९

आत्मा प्रकरणात् ।४।४।३

को प्राप्त होता है, और परमानन्द स्वरूप म पूजित होता है, जव भक्ति द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है तव जीव ब्रह्म वृहत् होता है, अर्थात् ब्रह्म के साथ अभिन्न हृदयात्मक प्रियता होती है,

परं ज्योति उपसम्पन्न की मुक्ति किस से जानी जाती है ? इस के उत्तर देते है, " मुक्तः प्रतिज्ञानात् " ।

स्वरूप अभिनिष्पन्न होना ही मुक्त होता है, अतएव यह जीव मुक्त है, प्रजापति वाक्य में " जो आत्मा " के पश्चात् एतं त्वेव तेभूयोऽनुव्याख्यास्यामि इस की व्याख्या पुनर्वार करेंगे " इस प्रकार कह कर जागारादि अवस्थात्रय की विनिवृत्ति, शरीर से प्रियाप्रिय से मुक्त होकर मुक्तावस्था में स्थित जीव की अवस्था कही गई है अतएव कर्म सम्बन्ध निर्म्मित शरीरादि विनिर्मुक्त स्वाभाविक स्वरूपावस्थिति ही यहाँपर स्वरूपाभिनिष्पत्ति है, और वह ही मुक्ति है ।

भक्ति के प्रभाव से भक्तगण ही श्रीभगवान को जानकर कृतार्थ होते है, अभिसम्पन्न होते हैं, कारण वासुदेव में आत्मभाव मनोवृत्ति का स्थापन करते हैं। और ऐकान्तिक रूप से ऐसा करते हैं, जिस से पुनर्वार उग्र गर्भ वासादि दुःख रूप जन्म मरणादि आवर्त्त का पुनरावर्त्त न नहीं होता है ।

" परम् ज्योति रूप सम्पत्युत्तरा तन्निष्पत्ति रुक्ता " ज्योतिः स्वभाव प्राप्ति के अनन्तर वह निष्पत्ति कहीगई है, उस पर कुछ विचार है, यहाँपर आदित्य मण्डल हो ज्योति है, अथवा परब्रह्म ? इस प्रकार संशय में आदित्य मण्डल है, इस प्रकार आदित्य मण्डलको भेदन कर ही ब्रह्म प्राप्ति कही गईहै, और अर्चिरादि मार्ग में तो आदित्य लोक का ही ग्रहण होता है, इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं—आत्मा ही ज्योति है, आदित्य मण्डल नहीं है, ? ज्योति शब्द से आदित्य मण्डल की प्रथम प्रतीति होने पर भी प्रकरण में आत्मा का ही वोध होता है, आत्मवस्तु ज्ञानानन्द रूप है जो स्वप्रकाश एवं व्यापक है, वह ही आत्मा है, उपनिषद् शब्द के समान ही आत्मशब्द भी अनेकार्थक है आत्मा पुरुषाकार है, वह उत्तम पुरुष है, इस प्रकार प्रमाण भी उक्त विषय में है। वह परम ज्योति रूप पदार्थ ही उत्तमपुरुष श्रीहरि हैं ।

सत्य द्रष्टा मुनि आत्मानुभूति में माया का हवन करें तत् पश्चात

आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः
ततोनिरीहो विरमेत् स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥७।१३।४४

एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक्
आत्ममाया गुणै विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥६।१६।६

अविभागेन दृष्टत्वात् ।४।४।४

त्वयि त इमे ततो विविध नामगुणैःपरमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥१०।८७।३१

निरीह होकर क्रिया से विरत होवे। अनुभूति स्वरूप आत्मा में नित्य भी होवे। आत्मा नित्य अव्यय, सूक्ष्म सर्वाश्रय स्वप्रकाश है,

अनन्तर उक्त विषय में पुनर्वार विचार किया जा रहा है, संव्योम पुरस्थ परम ज्योति को प्राप्त करने के पश्चात् मुक्त उन के सालोक्य में अव स्थित होता अथवा सायुज्य में ? इस प्रकार सन्देह में नृप पुर में प्रविष्टपुरुष की स्थिति लोक में ज्यैसे होती है वैसी ही सालोक्य स्थिति मुक्त की होती है, इस प्रकार कथन के उत्तर में कहते हैं, ' अविभागेन दृष्टत्वात् " तदुपसम्पन्न अविभाग में अर्थात् सायुज्य में ही अवस्थान करता है, कारण वैसा ही देखने में आता है, " यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात् परं पुरुष मुपैति दिव्यं " मुण्डक में उक्त है जिस प्रकार नदियाँ वहती हुई समुद्रमें नाम रूपको छोड़कर मिल जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम रूप को छोड़कर दिव्य पुरुष में सायुज्य लाभ करता है। यहाँपर सायुज्य शब्द का अर्थ है सहयोग। " स एवं विद्वान् " तैत्ति रीयक के इस वचन में भी जो विद्वान् इस प्रकार अवगत होकर उत्तरायण में प्राण त्याग करता है, वह देवताओं की महिमा प्राप्त होकर आदित्यके साथ सायुज्य गति लाभ करता है " इस प्रकार संवाद है। सालोक्यादि भी उसी का प्रकार विशेष है, विरह में इस की अव्याप्ति नहीं होगी। कारण विरह में अन्तः स्फूर्त्ति से महिमा संयोग से सर्वथा उस की स्थिति वनी रहती हैं, स्वरूप के साथ अभेद भी उक्त दृष्टान्त से नहीं होता है,कारण नीर में नीर का मिलन में भी अन्तर में भेद सुस्पष्ट ही रहता है, अन्यथा जल की वृद्धि अथवा ह्रास की सम्भावना ही नहीं होगी।

सागर में नदी के समान ही आप सव नाम रूप को छोड़कर श्रीहरि मिलित होते हैं।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाचो नोऽवहितः शृणु
यं पञ्चवर्षतपसा भवान् देवमतीतृपत् ।।४।१२।२३
नैतत् स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ
भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत्
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो
मायामयाद्व्यतिरिक्तो मतस्त्वम् ।।४।७।३१
मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगणपरम
मङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि ।।५।३।११

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।६

नित्य आत्माव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः
धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन् गुणान्
एवं गुणै र्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान्
याति तत् साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ७।२।२२-२४

अनन्तर मुक्त पुरुष के भोगों का निरूपण करते हुये प्रथम उन के हेतु स्वरूप सत्य संकल्पादि गुण समूह का निरूपण करते हैं, । ज्योतिः उपसम्पन्न जीव गुण विशिष्ट होकर आविर्भूत होता है, अथवा केवल चिन्मय होकर किम्वा उभय प्रकार स्वरूप से आविर्भूत है ? इस सन्देह में जैमिनि ऋषि का मत कहते हैं, ब्रह्म सम्पन्न जीव अपहत पाप्मत्व से लेकर सत्य संकल्प पर्यन्त गुणों से युक्त होकर आविर्भूत होताहै, कारण प्रजापति का वाक्य वैसा ही है, आदि शब्द से, स्वाभाविक भोजन शयनादि व्यवहार भी गुण प्रयुक्त होता है, अतएव जैमिनि भी मानते हैं कि उन गुण विशिष्ट होकर ही आविर्भूत होता है ।

हे राजन् सुभद्र तनु आप के हैं, इसशरीरसे ही आप वैकुण्ठगमन कर सकते हैं । आप के साथ ब्रह्मज्ञ का कोई भेद नहीं रहता है, सब मुनिगण जिन गुणों के प्रति लालसा रखते है, उनसब गुण मुक्त में आजाते हैं ।

ब्रह्म ज्ञान द्वारा माया विनष्ट होनेपर मुक्त चिद्रूपब्रह्म में अवस्थित होता है, एवं चिद्रूप में आविर्भूत होता है, वृहदारण्यक के मैत्रेयोपाख्यान में उक्त है—" स यथा सैन्धव घनः " जीव प्रज्ञान घन चिन्मात्र स्वरूप है ।

भूतेन्द्रिय मनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः
भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥७।२।४६
यावलिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्म निबन्धनम्
ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्त्तते ॥७।२।४७

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं वादरायणः ।४।४।७

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूप तुच्छीकृतविग्रहाय
नमोऽवधूतद्विजबन्धुलिङ्ग
निगुढ़ नित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥५।१२।१

अपहत पाप्मत्वादि गुणों के द्वारा अविद्या विनिर्मुक्त जीव की अविद्या जनित सुख दुःख से व्यावृत्ति ही होती है।

आत्मा, नित्य, मृत्यु शून्य अव्यय-अपक्षय शून्य, शुद्ध निर्म्मल, सर्वग-सर्वगत, सर्ववित् सर्वज्ञ सर्वत्रहेतु, पर-देहादि व्यतिरिक्त। निज अविद्या द्वारा मूर्त्तिधारण करता है, गुण-देह सुखदुःखादि विशेष रूप में स्वीकार करता है, लिङ्ग शरीरोपाधि ही संसार है।

अविकल, परिपूर्ण होकर भी मनः की समता को प्राप्त करते हैं। जीव चेतन स्वरूप है एवं जड़ से भिन्न है, भूतेन्द्रिय मन प्रभृति के द्वारा देह को अपना लेता है, और वद्ध होता है, मोक्ष तभी होता है जव स्वेन तेजसा विवेक के द्वारा उस का परित्याग करता है, जव तक लिङ्ग शरीराभिमान रहता है, तव तक ही संसार है, उस के वाद देह धर्म गौण होता है, क्लेश को अनुवृत्ति होती है, किन्तु लिङ्गाभिमान की अनुवृत्ति नहीं होती है, कारण वह मायिक है अनन्तर निज चेतन स्वरूप में अवस्थित होता है। ओडुलोमि आचार्य्य इस प्रकार मानते हैं॥

श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास जी अनन्तर निज मत कहते हैं, चिन्मात्र स्वरूप निरूपण होने पर भी उन में गुणाष्टक का अविरोध होता है, यह वादरायण मानते हैं। कारण उपन्यासेत्यादौ प्रजापति वाक्य में एवं जैमिनि जीकी उक्ति में उसका उल्लेख होनेपर उक्त गुणाष्टक मुक्त जीव में सम्भव है, श्रुति के साथ भी कोई विरोध नहीं है, फलतः मुक्त जीव का उभय प्रकार स्वरूप सिद्ध है, प्रज्ञान घन से निर्गुण चिन्मात्र जीव का स्वरूप है, यह वादरायण का मत है, इस वाक्य से आत्मा सर्वथा जड़ से व्यावृत्त है, एवं स्वप्रकाश है,

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ।४।४।८

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम्
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवायो सहैवगच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥२।२।२२
अथो विभूति मम माययाचिता
मैश्वर्य्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम्
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥३।२५।३७
किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दाम चेतसां
यै राश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ३।२३।४२
एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ॥३।२३।४६

जैसे सैन्धव रस घनीभूत होने पर चक्षुर्ग्राह्य होताहै, काठिन्यादि गुण विशिष्ट भी होता है, उस प्रकार उस में कोई विरोध का अवकाश नहीं है उसी प्रकार जीव अपहत पाप्मत्वादि के द्वारा ऐश्वर्य्यादि गुणाष्टक विशिष्ट ही आविर्भूत होता है। ईश्वर लोक रक्षण के लिए विग्रह धारण करते हैं, परमानन्द प्रकाश के द्वारा विग्रह—देह को तिरस्कार कर रहे हैं, हे अवधूत हे योगेश्वर द्विजवन्धु के वेष के द्वारा स्वरूप को आवृत किए हैं, आप नित्य अनुभव स्वरूप है, आप को नमस्कार हो।

अनन्तर मुक्त के सत्य सङ्कल्पत्व का प्रदर्शन करतेहैं, छान्दोग्य में उक्त है—"स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीड़न् रममाण. स्त्रीभि र्वा यानै र्वा ज्ञातिभिर्वा" जीव ब्रह्म पुर में इच्छानुसार आहार करताहै, इच्छानुसार स्त्री, विमान और ज्ञातियों के साथ क्रीडा करता है। यहाँ संशय है कि—मुक्त पुरुष की ज्ञाति प्रभृति की प्राप्ति प्रयत्न से होता अथवा संकल्प से ? सत्य संकल्प नृप आदि के भी विषय के लिए प्रयत्न की अपेक्षा रहती है अतएव मुक्त पुरुष का भी प्रयत्न के साथ ही संकल्प होना उचित है। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में कहते हैं संकल्पादेव तच्छ्रुतेः"।

उन सब के विषय की प्राप्ति संकल्पसे ही होता है। श्रुतिही प्रमाण है, 'स यदि पितृ लोक कामो भवति संकल्पादेव अस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन पितृलोकेन सम्पन्नोमहीयते." यदि वह पितृ लोक को चाहता है, तब संकल्प मात्र से ही पितृ लोक की प्राप्ति होती है, प्रज्ञानघन की स्वाभाविकी

अतएव चानन्याधिपत्तिः ।४।४।६

देवर्षि भूताप्तनृणां पितॄणा न किङ्करो नायमृणी च राजन्
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्
स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः
विकर्म्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः
॥११।५।४१–४२

सिद्धि होती है, प्रयत्नान्तर वोधक वाक्य वेद में नहीं है। किन्तु मुक्त पुरुष की वैसी इच्छा नहीं होती है, सेवारसास्वाद के लिए मुक्ति की भी अपेक्षा नहीं होती है ।

यदि पारमेष्ठ्य पद जाना चाहे, अथवा सिद्धों के स्थान, अणिमादिप्राप्ति के स्थान, अथवा ब्रह्माण्ड के सर्वत्र यदि जाना चाहे तो लिङ्ग देहके साथ ही गमन करें।

संकल्पमात्र से उत्पन्न जो कुछ भी है, वे सब ही मुक्त भोग कर सकते हैं, भागवती विभुति भी प्राप्त कर सकते हैं। जिन्होंने श्रीभगवत चरणाश्रय किया है, उनके लिए कुछ भी अलभ्य नहीं है। योग के अनुभाव से शत सम्बसर क्षणकाल के समान अतीत हुये थे।

अनन्तर सत्य संकल्प मुक्त पुरुषके पुरुषोत्तमाश्रयत्व का प्रदर्शन करते है, मुक्त पुरुष पुरुषोत्तम से अन्य से नियन्त्रित होते हैं अथवा नहीं ? इस सन्देह में उन से अन्य के द्वारा नियन्त्रित होते हैं; जिस प्रकार राज पुरुष भी राजा के अधीन पुरुषों से नियन्त्रित होते हैं, इस के उत्तर में कहते हैं, "अतएव चानन्याधिपतिः" श्रीपुरुषोत्तम के अनुग्रह का आविर्भाव होने के कारण वे सव मुक्त अनन्याधिपति होतेहैं, अनन्याधिपतिका अर्थ है—उनका पुरुषोत्तम से अन्य अधिपति नहीं है, एकमात्र पुरुषोत्तम ही उन का अधिपति है, मुक्त पुरुष पुरुषोत्तमके आश्रित होकर रहनेकेकारणहो संसार नहीं होता है, सत्य संङ्कल्पत्व जीवका आविर्भाव होने पर भी वह श्रीपुरुषोत्तम की कृपा से ही होता है। अतएव मुक्त जीवगण केवलअनन्त आनन्द स्वरूप, प्रणत पाल पुरुषोत्तम की सेवा करते हुए आनन्दानुभव करते हैं, परमेश्वर भी उन मुक्त पुरुषों को आनन्द प्रदान करते रहते हैं, "दर्शयतश्चैवम्" इस सूत्र में इस का विवरण कहेंगे। जीव ईश्वर का विभिन्नांश रूप अंश है, उस का कर्त्तृत्व भोक्तृत्व ईश्वराधीन है, अतएव सत्य सङ्कल्प होने के पश्चात् विधि निषेध का अतीत होता है, विधिनिषेधका अधीन होने पर सत्य संकल्पत्व की

अभावे बादरिराह ह्येवम् ।४।४।१०

देहेन्द्रियासु हीनानां वैकुण्ठ पुरवासिनाम्
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ।।७।१।३४

भावं जैमिनि विंकल्पामननात् ।४।४।११

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठ मूर्त्तयः
ये अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्द गोचरः
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृड़यन् वृषः ।।३।१५।१४।१५

बाधा होगी।

भक्त विधिनिषेध के अतीत होकर कृतकृत्यहोते हैं, कुटुम्ब, पञ्चयज्ञ देवता इन सवों के ऋणी जैसे अभक्त होते हैं तदर्थ वे किङ्कर नित्य पञ्च यज्ञादि कर्त्ता होते हैं—स्मृति हीन जाति परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत्। भक्त उस प्रकार ऋणी नहीं होते है, वेतो सर्वतो भावेन श्रीमुकुन्द की शरण में आते हैं, वासुदेव ही सार हैं, जानकर भिन्न भिन्न कर्त्तव्य का परित्याग करते हैं, विहित कर्म की निवृत्ति तो हाती है, निषेध निमित्त प्रायश्चित्त निषेध होता है। देह देहान्तर एवं देवतान्तर में आसक्ति को छोड़कर हरि की शरण लेते हैं, अतएव विकर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती है यदि कथञ्चित् प्रमादादि द्वारा उपस्थित भी होवे तो श्रीहरि ही परिष्कार करते हैं, आप ही परेश हैं, श्रुति स्मृति रूप आज्ञाभङ्ग दोष तो रह जावेगा ही। इस के उत्तर में कहते हैं श्रीहरि प्रिय हैं। यहसव पापक्षय लिएके भजन करते है? नहीं हृदय में रह कर ही सव समाधान स्वयं ही करते हैं, वस्तु शक्ति प्रार्थना की अपेक्षा नहीं रखती है।।

अनन्तर मुक्त का दिव्य विग्रह योग करते हैं, यहाँपर संशय है कि परम ज्योति रूप सम्पन्न मुक्त का विग्रहादिक है अथवा नहीं है? इस संशय के उत्तरमें कहतेहैं-वादरिकेमतमें मुक्तका विग्रह नहीं होताहै, विग्रहादि अदृष्ट सृष्ट होते हैं, उस समय अदृष्ट नहीं रहता है, इस लिए छान्दोग्य में 'अशरीर' कहा गया है, विग्रह योग से दुःखादि अवश्य होंगे। अस्मात् शरीरात् समुत्थाय, इस प्रकार उत्क्रान्ति में भी अशरीर की आवश्यकता है, स्मृति में उक्त हैं, जन्म के कारण स्वरूप प्राकृत देह इन्द्रिय प्राण आदि से रिक्त होने के कारण शुद्ध सत्त्वमय देह धारियों के प्रति प्राकृत देह धारियों की वृति की आप कैसे कह सकते हैं?

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ।४।४।१२

श्रीब्रह्मोवाच—

मानसा मे सुता युष्मत् पूर्वजाः सनकादयः
चेरुर्विहायसा लोकांल्लोकेषु विगतस्पृहाः
त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः
ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥
वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः
येऽनिमित्तनिमित्तेनधर्मेणाराधयन् हरिम्
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्छब्दगोचरः
सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृड़यन् वृषः
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुधै द्रुमैः
सर्वर्त्तु श्रीभिर्विभ्राजत् कैवल्यमिवमूर्त्तिमत् ॥३।१५।१२-१३
१४–१५–१६

जैमिनि जी मुक्त का विग्रह मानते हैं, कारण वेद में " स एकधा भवति द्विधा त्रिधा भवति " मुक्त भी कभी एक दो, तीन आदि अनेक होते हैं, इस प्रकार वर्णन होनेके कारण वे सब शरीर धारी होते हैं। विग्रह के अभाव से अणु परिमाण जीव का वहुत्व असम्भव हो जाता है। मोक्षावस्था प्रकरण में ही इस का उल्लेख है, अतएव वेद में जहाँपर अशरीर कहा गया है, वह अदृष्ट सृष्ट नहीं है, ऐसा जानना होगा॥

जिस वैकुण्ठ में समस्तजन श्रीहरि की अभिन्नमूर्त्ति होते हैं, और वेसव निष्काम धर्म से ही श्रीहरि की आराधना करते हैं, आद्य पुरुष श्रीहरि जहाँपर अवस्थान करते हैं, आप शब्द गोचर होते हैं, एवं धर्ममय शुद्धसत्त्वात्मक तनु से विराजित हैं।

अधुना स्वमत को दिखातेहैं, सत्यसङ्कल्प होनेके कारण दोंनो प्रकारके मुक्त होते हैं, कारण उभयविध ही वाक्य उपलब्ध हैं, उन को सविग्रह अविग्रह भी कहते हैं, द्वादश यज्ञ के समान इसमें भी विधान हैं, द्वादशाह यज्ञ में यजमान के इच्छानुसार—अनेक यजमान होनेपर द्वादशाह यज्ञ को सत्र कहा जाता है, एव एकजन यजमान होनेपर उसे आसीन कहा जाता है, ये दोनों ही द्वादशाह यज्ञ कहे जाते हैं, उसी प्रकार मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में संकल्प

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।४।४।१३

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः
येऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि३।२५।३४

भावे जाग्रद्वत् ।४।४।१४

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति
तै दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते
॥३।२५।२५-३६

के कारण सविग्रह एवं अविग्रह स्वीकार्य होते हैं, यहाँपर समझने की बात् इस प्रकार है—मुक्त पुरुष ब्रह्मविद्या द्वारा सत्य संकल्पादि गुण युक्त एवं अविद्या मुक्त होतेहैं, उस में से जो मुक्त विग्रहकी इच्छा करतेहैं वे अविग्रह के होते हैं, जो मुक्त ब्राह्मण वपु द्वारा निरन्तर नित्य ब्रह्मानुवृत्ति चाहते हैं, उन की मुक्तावस्था में चिच्छक्तिमय देह का आविर्भाव होता है, वह अनुवर्त्तन भी नित्यहै, स्मृतिमें भी उक्त है जहाँपर वैकुण्ठ मूर्त्तिमय सकल पुरुष वास करते हैं। "यथाक्रतु न्याय से आराधन समय के संकल्प ही सविगृह अविगृह के प्रति कारण है।

वैकुण्ठ में शुद्धसत्त्व की मूर्त्ति वाले सव रहते हैं वे सव निष्काम धर्म श्रीहरि की उपासना करते हैं ॥

मुक्त पुरुष के भोग हेतु धर्म समूह एवं दिव्य देहयोग का भी निरूपण हुआ है, भोगका संम्बाद इस प्रकार है "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" वह भोग सविग्रह एवं अविगृह में भी हो सकता है, वहाँपर सशंय है कि—मुक्त का भोग सम्भव है, अथवा नहीं? देहेन्द्रिय विरह होने के कारण भोग सम्भव नहीं है, एवं मुक्त पुरुष पूर्णानन्द होने के कारण भी भोग सम्भव नहीं है, इस प्रकार पूर्व पक्षके उत्तर में कहते हैं. विग्रहके अभाव से भोग का असम्भव कहना ठीक नहीं है, स्वप्न में शरीरका सम्वन्ध न रहने पर भी भोग सम्भव होता है, उसी प्रकार अविग्रह मुक्त पुरुष के मानस भोग होता है।

कुछ व्यक्ति सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते हैं, मेरे लिए ही मन वुद्धि चेष्टा को प्राप्त करते हैं, एवं परस्पर आसक्ति के साथ मेरा प्रभाव का कीर्त्तन करते

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।४।४।१५

अथोविभूतिं मम माययाचिता
मैश्वर्य्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम्
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां
परस्य तेऽश्नुवते तु लोके ॥३।२५।३७

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ॥१।१।१

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनुदेवगणा उभये ॥१०।८७।२४

रहते हैं ॥

सविग्रह में पुष्कल भोग सम्भव है, इस को कहते हैं, " भावे जाग्रद्वत्" सविग्रह होने के कारण जाग्रत अवस्थाके समान ही मुक्त पुरुषका भोग होता है। आनन्द पूर्ण मुक्त की भोग तृणा नहीं रहती है, सत्य है, किन्तु भागवत् प्रसाद प्राप्त करने के लिए भोगेच्छा मुक्त के लिए असम्भव नहीं है। जिस प्रकार आप्त काम श्रीभगवान् की इच्छा भक्त की इच्छानुसार होती है, उसी प्रकार भगवत् प्रसाद से भोग स्पृहा मुक्त की होती है।

मेरा प्रसन्न वदन, अरुण लोचन, दिव्य रूप प्रभृति का अनुभाव मुक्त पुरुष करते हैं एवं मेरे साथ मनोज्ञ वार्त्ता आलाप भी करते हैं, परमेश्वरानुभव सुख भक्ति में अधिक है, आत्मानन्द भी मुक्तगण अवश्य प्राप्त होते हैं। मनोहर अवयव मनप्राण आकर्षक इन्द्रिय प्रभृति वाले की भजन से इच्छा न होने पर भी मन प्राण का अपहरण कर उन सब को मुक्ति प्रदान करता हूँ।

अनन्तर मुक्त पुरुष की सर्वज्ञता को कहतेहैं, " न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखितां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इस वाक्य में मुक्त पुरुष को सर्वज्ञ कहा गया है,वह उचित है अथवा नहीं ? " प्राज्ञेन आत्मना इस श्रुतिसे वह निषिद्ध होनेके कारण उस प्रकार कहना उचित नहीं हैं। इस प्रकार कथन का निरास करते हैं " प्रदीपवत् प्रदीप की प्रभा जैसे अनेक देश में फैलती है; वैसा ही मुक्त पुरुष का ईश्वर कर्त्तृक प्रसृत प्रज्ञा द्वारा अनेक अर्थों में आवेश होता है, श्वेताश्वरोपनिषत् में उक्त है प्रज्ञाच तस्मात् प्रसृता पुराणी " ईश्वर मुक्त जीव की स्वाभाविकी पुरातन प्रज्ञा प्रसृता होती है ॥

विभुति ऐश्वर्य भागवती श्रीप्रभृतिभी मेरीकृपासे मुक्तगण प्राप्त करते

स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्ष्यमाविष्कृतं हि ।४।४।१६

स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्य्यम्
संसाद्य गत्या सह तेन याति विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम् २।२।३०
तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम्
स्वभावमन्यत् किमपीहमानमात्मानमात्मस्थमति न वेद।११।२८।३१

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वात् ।४।४।१७

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत श्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः

हैं, जिन्होंने ब्रह्मा के हृदय में भी ज्ञान उद्भासित किया है, पूर्वज श्रीहरि को कोन जान सकता है, जिन से सवव्यक्ति ज्ञान प्राप्त करते हैं ।।

मुक्ति में सर्वज्ञत्व अयुक्त है, प्राज्ञेनात्मनेति " श्रुति वाक्य द्वारा विशेषज्ञान का प्रतिषेध हुआ है, इस पूर्व पक्ष का उत्तर प्रदान करते हैं, "स्वाप्यय" उक्त वाक्य मुक्त के विशेष ज्ञान का निवारक नहीं है, कारण श्रुति में केवल सुषुप्ति एवं उत्क्रान्तिकालीन विशेष ज्ञान का ही निषेध है, छान्दोग्य में कथित है, स्वमपीनो भवति तस्मादेनं स्वपीतीत्याचक्षते " वाङ् मनसि सम्पद्यते " इन सव वाक्य द्वारा मुक्ति अवस्था में सार्वज्ञत्व का निर्णय किया गया है, ' सवा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा " इत्यादि वाक्य से उस के सार्वज्ञत्व का निर्णय किया गया है, उत्क्रान्ति समय में भी एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय " निःसंगत्व कहा गया है, उक्त वाक्य में विनश्यति पद का अर्थ है, देखता नहीं है, अतएव मुक्त का सार्वज्ञत्व निर्णय हुआ है ,

स्थूल सूक्ष्म भूतों को अतिक्रम के पश्चात् आवरण भूत अहङ्कार प्राप्ति के द्वारा महदादि को प्राप्त करता है, उस को कहते हैं, योगी विकार्य पदार्थ को प्राप्त करने के अनन्तर विज्ञान तत्त्व को प्राप्त करता है, भूत सूक्ष्म इन्द्रिय के स्थान को प्राप्त करने के वाद अहङ्कार के साथ विज्ञान तत्त्व मह तत्त्व को प्राप्त करता है, उस के वाद प्रकृति में लय होता हैं। अनन्तर उपा धियों के अवसान में शान्त अविकृत आनन्द परमात्मा को प्राप्त करता है, विद्वान् के लिए वन्धन के भय से कर्म करना उचित नहीं है ? उत्तर—कर्म करना उचित है, वन्धन नहीं होता है, कारण विद्वान् से भिन्न व्यक्ति अहङ्कार के द्वारा समस्त कर्म करता है अतः वह वद्ध होता है, विद्वान् निरहङ्कार होकर करता है, अर्थात् शरीर धर्म को शरीर धर्म रूप में ही जानते हैं, इसलिए बद्ध नहीं होता है ।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१।१।१

प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ४।४।१८

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर
स्तववलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥१०।८७।२८

" अथ य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति " जो आत्मा को जानकर यहाँ से गमन करता है, वह समस्त कामनाओं को प्राप्त करता हैं, यह श्रुति वचन है, यहाँपर संशय यह है कि मुक्त जगत्कर्त्ता है अथवा नहीं ? परमसाम्य प्राप्ति एवं सत्य संकल्पत्व कथन से मुक्त जगत्कर्त्ता है, पूर्वपक्ष का उत्तर प्रदान करते हैं, ' जगद् व्यापार वर्जं " ' स यदि ' इस वाक्य में मुक्त की सृष्टि विधान मिलता है वह निखिल चिदचित् सृष्टिस्थिति नियमन रूप ब्रह्मैकान्त जगत् कर्त्तृत्व को छोड़कर ही जानना होगा, कारण " यतो वा इमानि भूतानि " श्रुति ब्रह्म पर हैं। जगत् व्यापार कार्य को छोड़कर ही समस्त कार्य में मुक्त का अधिकार है। अन्यथा ', जन्माद्यस्य यतः " यह ब्रह्म लक्षण पर सूत्र असंलग्न हो जावेगा। और अनेक ईश्वर वाद की स्थापना होगी। जिस से महान् अनिष्ट की सम्भावना है, अतएव मुक्त जीव जगद् व्यापारी नहीं है।

इस विश्व की सृष्टि स्थिति आदि होती है, जो कार्य में अभिज्ञ है, जिन्होंने आदि कविके हृदयमें वेदका संचार कियाहै, स्वराट् तथा माया पराभव कारी हैं, ऐसे परम सत्य का हमसब ध्यान करें।

" सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति" तैतिरीयक में ' स स्वराट् भवतितस्य सर्वेषु लोकेषु काम चारो भवति " छान्दोग्य में उक्त है, अतः सर्वदेव आराध्य होने के कारण मुक्त उक्त जगद् व्यापार का अधिकारी होना सम्भव है, इस प्रकार पूर्व पक्ष का उत्तारदेते हैं; श्रुति में कथन होने पर मुक्त जगद् व्यापार का अधिकार हो सकता है, ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण अधिकारी मण्डल का वर्णन प्रसिद्ध है, परेश से ही अनुगृहीत ब्रह्मादि अधिकारी देवगण है, जैसे कुमारादि की अप्रतिहतगति श्रीहरि की इच्छा से होती है, वैसे ही मुक्त पुरुषों का सम्मानभी श्रीहरि प्रदत्त सम्मान के कारण ही होता

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ४।४।१६

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः
तस्मै नमः भगवते वासुदेवाय धीमहि
यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद् गुरुम्
विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥२।५।११।१२।१३

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०

निगमकल्पतरो र्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः ॥१।१।३

है। श्रीहरि के अनुग्रह से ही मुक्तगण भोग का अधिकारी होते हैं। अतएव जगद् व्यापार का अधिकारी मुक्त नहीं हैं।

ईश्वरके साथ जीव का साम्य नहीं है, आप करण सम्बन्धहीन होने पर भी निखिल शक्तिमान् है, विश्वसृज ब्रह्मादि अधिकारीदेवगण किङ्कर के समान सेवा करते हैं, उन की आज्ञा पालन रूप वलि प्रदान ही अधिकारियों का कार्य है।

मुक्तपुरुष गण यदि कार्यान्तर गतभोग प्राप्तकरतेहैं, तव संसारीसे उन का विशेष क्या है, कारण वे सव भोग तो विनाशी है, इस पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं- " विकारावर्त्ति " विकारात्मक विश्व में जिन की स्थिति नहीं है, ऐसे ब्रह्म स्वरूप एवं धाम के साथ जिन का परिचय हुआ है वे सव मुक्त पुरुष होते हैं, अतएव विद्या के द्वारा आवृत्ति क्षय होने के कारण मुक्त ब्रह्मानुभव में अवस्थान करते हैं, कठ श्रुति भी मुक्त की स्थिति उसी प्रकार कहती है। परेश के अनुशीलन से गुणावरण नष्ट होता है, अनन्तर भगवन् साक्षात्कार और अक्षय पुरुषार्थ लाभ होता है, माया ईश्वर के समीपमें ठहर नहीं सकती है, माया का प्रभाव जीवपर ही हैं, लज्जित होकर माया ईश्वर की दृष्टिपथ पर नहीं रहती है, जिस से प्रभावित होकर जीव मैं और मेरापन में लगा रहता हैं ॥

जीव सत्य संकल्पत्वादि स्वरूप का साक्षात् कार से ही जव मुक्त होता है, तव ब्रह्मसाक्षात्कार की आवश्यकता क्या है? इस के उत्तर में कहते हैं यद्यपि मुक्त जीवतादृश गुणशाली होते हैं, तथापि अणु स्वरूप होने के

येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिनः
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥१०।२।३२

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।४।४।२१

नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्याः
जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्य
मर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः
सत्वं समीहितमदः स्थितिजन्मनाशं
भूतेहितञ्च जगतो भवबन्ध मोक्षौ
वायुर्यथा विशति खञ्च चराचराख्यं
सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ८।१२।१०–११
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥३।२५।३७ .

कारण आनन्द भी अणु स्वरूप ही होता हैं, ब्रह्म अपरिमित आनन्द है, उस को प्राप्त करने से ही जीव आनन्दी होता है, जैसे अल्पधन के व्यक्ति विपुल धनाधिपति को प्राप्त होकर सुखी होता है, वैसा ही ब्रह्म प्राप्त्यनन्तर ही जीव सुखी होता है।

विशेष कर ब्रह्म साक्षात् कार के विना बुद्धि शुद्धि ही नहीं होती है, और श्रीभगवत् चरणारविन्द का अनादर के कारण संसार ही होता हैं।

" निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" श्रुति में कथित होनेके कारण मुक्त स्वयं ही होगा, ईश्वराधन की आवश्यक ही क्या है ? अणुत्व जीव का बुद्धि गत है एवं उपचारित है, इस कथन के उत्तर में कहते हैं " भोगमात्र साम्य लिङ्गाच्च सूत्रस्थ " च ". शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पूर्व से 'न' कार की अनुवृत्ति हुई है। भोग में साहचर्यहै, किन्तु शक्ति में दोनों विभिन्न है, 'स्वात्मनश्चोत्तरयोः इस सूत्रकी व्याख्यामें इस विषयका स्पष्टी करणहुआ है। ब्रह्मा आदि देवगण ही जब ईश्वर के विषय अवगत नहीं हो पाते हैं, तव मरण धर्मशील मनुष्य उन को कैसे जान सकते हैं। ईश्वर स्वयं विश्व की सृष्टि करते हैं, और पालन आदि भी करते हैं, आप स्वतन्त्र ज्ञान स्वरूप

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।४।४।२२

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न भुञ्चति
मुक्त सर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयंत्वहम्
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेऽभ्यो मनागपि
ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ९।४।६८।६५

है। मदीय लोक में मेरेसाथ भागवती ऐश्वर्य्य का उपभोग करने में समर्थ होता है ।।

अनन्तर मुक्त का सार्वदिक भगवत् सान्निध्यका विवरण प्रारम्भ करते हैं, इस विषय में संशय है कि भगवत् प्राप्ति लक्षण मुक्ति क्षयिष्णु है अथवा अक्षयिष्णु है। लोक शब्द से ज्ञात होता है कि वह अनित्य है, क्षयिष्णु है। इस प्रकार पूर्व पक्ष का उत्तर देते हैं, ' अनावृत्तिः " भगवदुपासना द्वारा भगवल्लोकप्राप्ति होने पर पुनरावृत्ति नहीं होती है। मामुपेत्य पुन र्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् नाप्नुवन्ति . महात्मानः संसिद्धि परमां गताः । ब्रह्मलोक प्राप्त होने के वाद पुनर्वार जन्म नहीं होता है, मैं ज्ञानी के अत्यन्त प्रिय हूँ। ज्ञानी भी मेराप्रिय हैं, साधुगण मेरा हृदय है, तथा मैं साधुओं का हृदय हूँ जो स्त्री-गृह-पुत्र-वन्धु धन प्राण समस्त को छोड़कर मेरे शरण में आते हैं मैं उनकी किस प्रकार त्याग कर सकता हूँ। पवित्रात्मा पुरुष श्रीकृष्ण पाद मूल को नहीं छोड़ता है सर्व क्लेश से मुक्त जैसे निज गृह में आता है। इन सव स्थलों में भगवान् के भक्त का परित्याग न करना और भक्त की भगवान के समीप में स्थिति सुस्पष्ट है। तात्पर्य है कि -सत्यवाक् सत्य सङ्कल्प वात्सल्य नीरधि श्रीहरि निज भक्तको कभीभी नहीं छोड़तेहैं, जीवनिखिल सुखरत्नाकर श्रीहरि को प्राप्त कर कृतार्थ होता है। सूत्र की आवृत्ति अध्यायसमाप्त के लिए है।

※ इति श्री वेदव्यास प्रणीते ब्रह्मसूत्रस्य श्रीमद्भागवत भाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थ. पादः सम्पूर्णः ※

※ श्रीगुरवे समर्पितमस्तु ※

गौरगदाधरौ नत्वा कृष्णराधास्वरूपिणौ
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां हरिदासेन दर्शितः
भूदेवान्वयजातस्य भृगुभङ्ग्वियवर्त्तिनः
वृन्दावनस्थदासस्य कृतिरेषावलोक्यताम्

श्रीहरिदासशास्त्रि सम्पादिता ग्रन्थावली



प्रकाशितग्रन्थरत्न	प्रकाशन सहायता
१ । नृसिंहचतुर्द्दशी	०·७५
२ । श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४·००
३ । श्रीसाधनामृतचन्द्रिका (वङ्गलापयार)	४·५०
४ । श्रीगौरगोविन्दार्च्चन पद्धति	३·५०
५ । श्रीराधाकृष्णार्च्चन दीपिका	०·५०
६ । श्रीगोविन्दलीलामृत मूल टीका अनुवाद (सर्ग—१-४)	५·५०
७ । ऐश्वर्य्यकादम्बिनी (मूल अनुवाद)	१·५०
८ । संकल्पकल्पद्रुम सटीक, सानुवाद	२·००
९ । चतुःश्लोकी भाष्यम् (सानुवाद)	३·००
१० । श्रीकृष्णभजनामृतम् (सानुवाद)	
११ । श्री प्रेमसम्पुटः (मूल टीका अनुवाद सह)	४·००
१२ । भगवद्भक्तिसार समुच्चय (सानुवाद)	३·७५
१३ । भगवद्भक्तिसार समुच्चय (सानुवाद वङ्गला)	३.००
१४ । व्रजरीति चिन्तामणि (मूल, टीका, अनुवाद सह,)	४·००
१५ । श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	१·५०
१६ । श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश	५.००
१७ । वेदान्त-दर्शनम् भागवतभाष्योपेतम्	४५.००



प्रकाशनरतग्रन्थरत्न



१ । श्रीगोविन्दलीलामृत (५-२३ सर्ग)
२ । हरिभक्तिसार संग्रह
३ । दशश्लोकीभाष्यम्
४ । साधनदीपिका

द्वारा राधेश्यामजी बुकसेलर
पुराना शहर पो० वृन्दावन (मथुरा)